CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

...ठ ग्रन्थमाला संख्या-९८

...र्शन में निश्चय और व्यवहार नय
एक अनुशीलन

4490

डॉ० रतनचन्द्र जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन

निश्चयनय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष हैं।

निश्चयनय से आत्मा की स्वाभाविक अवस्था का ज्ञान होता है, व्यवहारनय से संसारावस्था का।

निश्चयमोक्षमार्ग मोक्ष का साधक है, व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का।

व्यवहारमोक्षमार्ग अशुभरागरूपी रोग की ओषधि है, निश्चयमोक्षमार्ग शुभरागरूपी रोग की।

निम्नभूमिका में निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव नहीं है, उच्चभूमिका में व्यवहारमोक्षमार्ग का अवलम्बन अनावश्यक है।

सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से मुख्यतः पुण्यबन्ध होता है और परम्परया मोक्ष। सम्यक्त्वरहित शुभोपयोग से मात्र पुण्यबन्ध होता है।

निश्चयनय को छोड़ देने से आत्मादि पदार्थों के मौलिक स्वरूप का बोध नहीं हो सकता, व्यवहारनय को छोड़ देने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

इसलिए दोनों नयों का परस्पर-सापेक्षभाव से अनुसरण करने पर ही मोक्ष का प्रयत्न सफल होता है।

—०—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.4

मानवीय प्रोफेसर उदयचन्द्र जी जैन को सादर समर्पित।

[illegible]

31.5.98

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ९७

जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय

एक अनुशीलन

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. ५५१०
दिनांक 29-7-99
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-५

लेखक

डॉ० रतनचन्द्र जैन

भूतपूर्व रीडर : संस्कृत एवं प्राकृत
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

१९९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० मार्ग, करौंदी, वाराणसी - ५

दूरभाष : ३१६५२१, ३१८०४६

प्रथम संस्करण : १९९७

सर्वाधिकार : डॉ० रतनचन्द्र जैन

मूल्य : रु० २०० (अजिल्द), रु० २५० (सजिल्द)

अक्षर-सज्जा

नया संसार प्रेस

बी० २/१४३ ए, भदैनी, वाराणसी - १

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय

भेलूपुर, वाराणसी - १०

I S B N : 81 - 86715 - 25 - 8

Published by

Pārśvanātha Vidyāpīṭha

I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi – 5

Phone : 316521, 318046

First Edition : 1997

© : Dr. Ratan Chandra Jain

Price : Rs. 200.00 (P. B.), Rs. 250.00 (H. B.)

Type-setting at

Naya Sansar Press

B. 2/143 A, Bhadaini, Varanasi – 1

Printed at

Vardhaman Mudranalaya

Bhelupura, Varanasi – 10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पण

पूज्य पिता स्व० पण्डित बालचन्द्र जी जैन प्रतिष्ठाचार्य
एवं
पूजनीया माता स्व० श्रीमती अमोलप्रभा जी जैन
को
जिनके दिये संस्कारों एवं शिक्षाओं ने
मेरे यात्रापथ को आलोकित किया।

—रतनचन्द्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

आत्मादि पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं, अर्थात् परस्परविरुद्ध अनेक धर्मयुगलों से युक्त हैं। ये धर्म परस्परविरुद्ध होते हुए भी वस्तुव्यवस्था के साधक हैं। वस्तु की शाश्वतता और उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन तथा विभिन्न लौकिक और आध्यात्मिक प्रयोजनों की सिद्धि इन परस्पर विरुद्ध धर्मों पर ही आश्रित है। सर्वज्ञ ने एक ही वस्तु में इनके अविरोधपूर्वक रहने की युक्तिमत्ता निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा प्रतिपादित की है। सम्यग्दर्शन के लिए आत्मादि पदार्थों के परस्पर-विरुद्ध धर्मों तथा एक ही स्थान में उनके अविरोधपूर्वक रहने की तर्कसंगतता का अवबोध आवश्यक है। यह निश्चय और व्यवहार नयों के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक भेद को सम्यग्रूपेण हृदयंगम करने से ही सम्भव है।

नयों के अज्ञान या अधकचरे ज्ञान से बड़ा अनर्थ होता है। लोगों को जो वस्तुरूप विरोधी प्रतीत होता है उसे वे असत्य मान लेते हैं, अथवा निश्चयनय द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप को व्यवहारनय द्वारा कहा गया मान लेते हैं और व्यवहारनय द्वारा निरूपित स्वरूप को निश्चयनय द्वारा प्ररूपित समझ लेते हैं, अथवा निश्चयनय के कथन को सर्वथा सत्य और व्यवहारनय के कथन को सर्वथा असत्य रूप में ग्रहण कर लेते हैं।

ऐसा भी होता है कि कुछ विद्वान् किसी विशिष्ट प्रयोजन से अर्थात् अपनी किसी कल्पित मान्यता को आगमसम्मत सिद्ध करने के लिए निश्चय और व्यवहार नयों की जानबूझकर गलत व्याख्या करते हैं और उस गलत व्याख्या के आधार पर सर्वज्ञ के कथन को अपनी मान्यतानुसार तोड़मरोड़ कर प्ररूपित करते हैं। नयज्ञानविहीन श्रोता उनके प्ररूपण की समीचीनता का स्वयं निर्णय करने में असमर्थ होते हैं, अतः जैसा वे विद्वान् प्ररूपित करते हैं वैसा ही मान लेते हैं। इससे एक दुर्निवार गृहीतमिथ्यात्व की परम्परा चल पड़ती है, जो लोगों को मोक्षमार्ग पर ले जानें की बजाय घोर संसारमार्ग पर ले जाती है। अनादिकाल से ऐसा होता आ रहा है, किन्तु वर्तमानकाल में इसका कुछ उग्ररूप ही दिखायी देता है। आज जैन-विद्वज्जगत् में निश्चय और व्यवहार को लेकर परस्पर विरोधी विचारधाराएँ चल रही हैं और अपनी विचारधारा के समर्थन तथा विरोधी विचारधारा के खण्डन में प्रचुर साहित्य रचा गया है और रचा जा रहा है। लगभग एक शब्द-युद्ध सा जारी है, जिसने अबोध जिज्ञासुओं को या तो दिग्भ्रमित कर दिया है या किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की दशा में लाकर पटक दिया है।

इस विषम स्थिति में एक ऐसे शोधपूर्ण ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, जिसमें निश्चय और व्यवहार नयों के आगमसम्मत स्वरूप को युक्तिप्रमाणपूर्वक विश्लेषित किया जाय और आगम में आत्मादि पदार्थों के शुद्ध-अशुद्ध, साध्य-साधक, निमित्त-उपादान आदि जिस रूप की जिस नय से यथार्थता प्रतिपादित की गई है, उस नय से उसकी यथार्थता को तर्क और प्रमाण द्वारा स्थापित किया जाय तथा कुछ विषयों की कतिपय विद्वानों ने जो भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ की हैं, उनका सयुक्तिक निराकरण किया जाय। सौभाग्य से आदरणीय डॉ॰ रतनचन्द्र जी जैन ने पीएच॰ डी॰ उपाधि के निमित्त से ऐसा शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखकर इस महती आवश्यकता को पूर्ण किया है। हम इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर हर्ष और गौरव का अनुभव कर रहे हैं। हम डॉ॰ रतनचन्द्र जी के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने दीर्घ परिश्रम से लिखा गया यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हमें प्रकाशनार्थ प्रदान किया।

हम आभारी हैं डॉ॰ सागरमल जी जैन के, जिनके प्रयास से ही उक्त ग्रन्थ हमें प्रकाशनार्थ प्राप्त हो सका। ग्रन्थ के प्रकाशनसम्बन्धी सम्पूर्ण दायित्व का निर्वहन विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ॰ श्रीप्रकाश जी पाण्डेय ने कुशलता से किया है, एतदर्थ हम डॉ॰ पाण्डेय के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

ग्रन्थ की सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिए नया संसार प्रेस, भदैनी, वाराणसी एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी भी निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी बात

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे द्वारा पीएच०डी० उपाधि के लिए लिखे गये शोधप्रबन्ध का परिष्कृत और परिवर्धित रूप है। लगभग सत्रह वर्ष पूर्व यह लिखा गया था। तब से निरन्तर स्वाध्याय एवं मुनिजनों और विद्वज्जनों से किये गये विचार-विमर्श के फलस्वरूप इसे काटता-छाँटता, घटाता-बढ़ाता, माँजता और सँवारता रहा हूँ, और अब कहीं इसे प्रकाशन के योग्य पा रहा हूँ।

नय श्रुतज्ञानात्मक उपयोग का एक भेद है। उपयोग का अर्थ है : वस्तु-स्वरूप को जानने में प्रवृत्त ज्ञानशक्ति। जब श्रुतज्ञानात्मक उपयोग वस्तु को परस्पर विरुद्ध पक्षों में से किसी एक पक्ष के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है तब उसे नय कहते हैं और जब दोनों पक्षों के द्वारा जानने का प्रयत्न करता है अथवा धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु को अखण्डरूप में ग्रहण करता है तब श्रुतज्ञानात्मक प्रमाण अथवा स्याद्वाद कहलाता है, जैसा कि भट्ट अकलंकदेव ने लघीयस्त्रय में कहा है —

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ।। ३२ ।।

उपयोगरूप होने के कारण नय को दृष्टि या नेत्र की उपमा दी गयी है। निश्चय और व्यवहार नय भी श्रुतज्ञानोपयोग के भेद हैं। इनके द्वारा वस्तु के परस्पर-विरुद्ध धर्मों का तथा वे वस्तु के मौलिक धर्म हैं या औपाधिक, वस्तु की सत्ता के भीतर हैं या बाहर, वस्तु के नियतस्वलक्षण हैं अथवा आरोपित, इत्यादि विशेषताओं का बोध होता है।

वर्तमान में निश्चय और व्यवहार नय स्वाध्यायियों के बीच बहुचर्चित विषय हैं। बहुचर्चित इसलिए बन गये हैं कि आधुनिक विद्वानों ने कतिपय सन्दर्भों में इन नयों की परस्परविपरीत व्याख्याएँ की हैं और उन व्याख्याओं के आधार पर वस्तु-स्वरूप का भी अनेकत्र परस्परविपरीत प्रतिपादन किया है जिससे दो प्रतिकूल विचारधाराएँ चल पड़ी हैं और इनका इतना अधिक प्रचार हुआ है कि दिगम्बरजैन मतावलम्बी भीतर ही भीतर दो वर्गों में बँट गये हैं। इन परस्परविरोधी विचारधाराओं से आविष्ट होने के कारण शास्त्रसभाओं में प्रायः अपने मत का पोषण और प्रतिपक्षी मत के खण्डन की प्रधानता रहती है। इसीलिए स्वाध्यायियों के बीच ये नय चर्चा के आम विषय होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा', 'जैनतत्त्वमीमांसा', 'जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि निश्चय और व्यवहार नयों तथा उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के विषय में मूर्धन्य विद्वानों के बीच कितनी विप्रतिपत्तियाँ हैं। इन विप्रतिपत्तियों पर यहाँ किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है —

१. विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि असद्भूतव्यवहारनय का विषय मात्र उपचारकथन है, वह वस्तुधर्म का प्रतिपादन नहीं करता, जब कि दूसरे वर्ग के अनुसार वह वस्तुधर्म का ही प्रतिपादक है।

२. एक वर्ग असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियों के अनादिरूढ़ व्यवहार की संज्ञा देता है, दूसरा उसे श्रुतज्ञान का विकल्प बतलाता है।

३. एक वर्ग निमित्त को अयथार्थ एवं अकिञ्चित्कर घोषित करता है, दूसरा वर्ग उसे यथार्थ एवं कार्योत्पत्ति का अनिवार्य हेतु मानता है।

४. विद्वानों के एक वर्ग की दृष्टि में निश्चय और व्यवहार नय परस्पर-सापेक्ष हैं, दूसरे वर्ग की दृष्टि में परस्परनिरपेक्ष।

५. एक विद्वत्समूह निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में साध्य-साधक भाव स्वीकार करता है, दूसरा उसका निषेध करता है।

६. एक पक्ष की मान्यता है कि शुभोपयोग मात्र पुण्यबन्ध का कारण है, दूसरा पक्ष मानता है कि सम्यक्त्वपूर्वक होने पर वह (शुभोपयोग) परम्परया मोक्ष का भी कारण होता है।

७. विद्वानों का एक वर्ग व्यवहारमोक्षमार्ग को सर्वथा हेय घोषित करता है, दूसरा उसे कथंचित् उपादेय बतालता है।

८. एक वर्ग के मतानुसार मोक्षमार्ग अनेकान्तात्मक नहीं है, दूसरे के मत में मोक्षमार्ग भी अनेकान्तात्मक है।

९. एक वर्ग रागादिभावों को स्वाश्रित निरूपित करता है, दूसरा पराश्रित।

१०. विद्वानों का एक पक्ष कहता है कि केवली भगवान् का सर्वज्ञ होना व्यवहारनय से सत्य सिद्ध होता है। दूसरा पक्ष कहता है कि वह निश्चयनय से सत्य है।

११. एक पक्ष की दृष्टि में उपादान से उत्पन्न होने वाले सभी कार्य उपादान-प्रेरित होते हैं, निमित्तप्रेरित कोई नहीं होता। दूसरा पक्ष अशुद्धोपादानजनित कार्यों को निमित्तप्रेरित मानता है।

१२. एक विद्वत्समुदाय आत्मा की समस्त पर्यायों को नियत बतलाता है, यहाँ तक कि पुरुषार्थ को भी, किन्तु दूसरे का मत है कि पर्यायों का निर्धारण आत्मा अपने पुरुषार्थ से स्वयं करता है और पुरुषार्थ नियत नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वानों की इन परस्परविरोधी व्याख्याओं का सामान्य श्रावकों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है। आत्मकल्याण की दिशा के विषय में जब शास्त्रविद् ही भ्रमित हों, तब जनसाधारण का दिग्भ्रमित होना स्वाभाविक ही है। आगमविदों द्वारा सिद्धान्त के भ्रान्तिपूर्ण एवं एकान्तात्मक प्रतिपादन से सामान्य श्रावक भी भ्रान्तिग्रस्त एवं एकान्तवादी होकर अहित के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। विद्वानों के कारण श्रावकों में भी दो वर्ग बन गये हैं और उनमें एक-दूसरे के प्रति विरोध और कटुता की भावना घर कर गयी है। विचारधारा को लेकर वे एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं। अपने को सम्यग्दृष्टि और दूसरे को मिथ्यादृष्टि घोषित करते हैं। वे इतने दिग्भ्रामित हो गये हैं कि एक ओर व्यवहारैकान्त का अवलम्बन कर कुछ लोग बाह्य कर्मकाण्ड को ही जीवन में प्रधानता दे रहे हैं, तो दूसरी ओर श्रावकों का एक वर्ग निश्चयैकान्त से ग्रस्त होकर शुभोपयोग को हेय और पुण्य को विष्ठा मानकर कोरी तत्त्वचर्चा को ही मोक्ष के लिए उपादेय मान रहा है। निश्चयाभास में फँसकर यह वर्ग आज के किसी भी मुनि को सच्चा मुनि नहीं मानता और उनकी अवज्ञा करने को धर्म सा मान बैठा है, यद्यपि ऐसे मुनियों की कमी नहीं है, जों निश्चय और व्यवहार का परस्परसापेक्षतापूर्वक अनुसरण करते हुए समीचीन मार्ग पर चल रहे हैं।

आज के कुछ विद्वानों द्वारा उत्पन्न किया गया यह विसंवाद अत्यन्त शोचनीय है। जिन तीर्थङ्कर महावीर ने विश्व के विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करने के लिए अनेकान्त और स्याद्वाद का उपदेश दिया था, उन्हीं के अनुयायियों में सिद्धान्तों को लेकर मतभेद और वैचारिक हिंसा उत्पन्न हो जाय, यह विडम्बना ही है।

इस अनिष्ट ने मेरे हृदय को बहुत आन्दोलित किया। फलस्वरूप मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि विद्वज्जनों के इन परस्परविरोधी मतों की आगम के आलोक में छानबीन की जाय, इन्हें युक्ति और प्रमाण की कसौटी पर कसकर परखा जाय और निश्चय तथा व्यवहार नयों के आगमसम्मत अभिप्राय को सामने लाने का प्रयत्न किया जाय, जिससे श्रावक इन नयों के वास्तविक अभिप्राय को समझकर इनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समीचीनतया ग्रहण कर सकें और पारस्परिक विरोध समाप्त कर अनेकान्तात्मक विचारमार्ग एवं अनेकान्तात्मक मोक्षमार्ग कें अवलम्बन में समर्थ हों। इस विचार से मैंने पीएच० डी० उपाधि के लिए निश्चय और व्यवहार नयों के अनुशीलन को ही शोधकार्य का विषय सुनिश्चित किया।

इस अनुसन्धान-यज्ञ में मुझे अनेक प्राज्ञों ने अपने प्रज्ञामन्त्रों से अभिमन्त्रित किया है, उन सबका आभार मुझ पर है। शासकीय हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल के संस्कृतविभागाध्यक्ष डॉ० रामकृष्ण जी सराफ ने शोध-प्रबन्ध लेखन में मुझे कुशल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्देशन प्रदानकर कृतार्थ किया है। इस हेतु मैं उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

जैनदर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ॰ सागरमल जी जैन ने, जो उस समय भोपाल के हमीदिया महाविद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष थे, शोधकार्य सम्पन्न करने में मेरी बहुत सहायता की है। उन्हीं के सहयोग से मैंने शोधकार्य की रूपरेखा तैयार की और शोधकार्य पूर्ण होने तक उनसे बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त करता रहा। पश्चात् डॉक्टर साहब वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में चले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने मेरे शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया और अनेक बार शोध-प्रबन्ध भेजने का आग्रह किया, किन्तु मैं उसे प्रकाशन के योग्य नहीं पाता था। उसे संशोधित, परिमार्जित और परिवर्धित करके उस स्तर पर ले जाना चाहता था कि प्रकाशित होकर जब विद्वानों के हाथ में पहुँचे तो मैं उनके उपहास का पात्र न बनूँ। अनेक व्यस्तताओं और विघ्नों के बीच में आ जाने के कारण यह कार्य अब सम्पन्न हो सका है। इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी यह माननीय डॉ॰ सागरमल जी के द्वारा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित किया जा रहा है। इस स्नेह और अनुग्रह के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

समय-समय पर पूज्य गुरुवर डॉ॰ (पण्डित) पन्नालाल जी साहित्याचार्य से भी मैंने विवादग्रस्त विषयों पर आगम के यथार्थ मन्तव्य को समझने की चेष्टा की है और उनकी विद्वत्तापूर्ण विवेचना से मैं यथार्थ निर्णय पर पहुँचने में समर्थ हुआ हूँ। पण्डित जी ने स्नेहपूर्वक इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखकर भी मुझे अनुगृहीत किया है। अत: मैं उनके चरणों में नतमस्तक होता हुआ अपनी हृदयस्थ कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

स्व॰ पूज्य पण्डित वंशीधर जी व्याकरणाचार्य का भी आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा प्रदत्त स्वलिखित ग्रन्थ मुझे निश्चय और व्यवहार नयों के स्वरूप तथा वस्तुव्यवस्था को समझने में बहुत सहायक हुए हैं। उनके साथ हुई प्रत्यक्ष चर्चा से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। आदरणीय डॉ॰ दरबारीलाल जी कोठिया के प्रोत्साहन और मार्गदर्शन ने भी मेरा पथ प्रशस्त किया है। मैं इन दोनों मूर्धन्य विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

मेरा परम सौभाग्य है कि यह शोध-प्रबन्ध सन् १९८० में सागर (म॰ प्र॰) में षट्खण्डागमवाचना के समय परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी ने लगातार दस दिन तक, एक-एक घण्टे का समय देकर ध्यान से सुना था और सुनकर प्रसन्न हुए थे। कई जगह उन्होंने संशोधन और कुछ नये तथ्यों के संयोजन का भी परामर्श दिया था, जिन्हें क्रियान्वित करने से शोध-प्रबन्ध के अनेक दोष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और कमियाँ दूर हो गयीं। इस उपकार के लिए मैं गुरुवर के चरणों में अपनी परमभक्ति एवं कृतज्ञता निवेदित करता हूँ।

इस प्रसंग में मैं अपने पूज्य पिता स्व॰ पण्डित बालचन्द्र जी प्रतिष्ठाचार्य तथा पूजनीया माता स्व॰ श्रीमती अमोलप्रभा जी जैन के प्रति अपनी अनिर्वचनीय श्रद्धा एवं कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि इन्होंने मुझे जिन संस्कारों में ढाला है तथा जिस शिक्षा-दीक्षा से सँवारा है उन्हीं से मैं इस विषय पर लेखनी चलाने योग्य बन पाया हूँ। मेरी पूजनीया बड़ी बहनों श्रीमती शान्ति जैन एवं स्व॰ श्रीमती कंचन जैन, पूज्य बड़े भाई पं॰ कोमलचन्द्र जी एवं प्रिय अनुजद्वय श्री शीलचन्द्र तथा श्री शिखरचन्द्र ने भी मेरे विद्यापथ को प्रशस्त करने में यथाशक्ति परिश्रम किया है। अत: इनके प्रति भी मैं यथायोग्य आदर और आशीर्वाद की अभिव्यक्ति करता हूँ।

मेरी सरलहृदया, सहनशीला, धर्मानुरागिणी पत्नी श्रीमती चमेलीदेवी जैन का इस ग्रन्थ के लेखन में महान् योगदान रहा है। अनेक वर्षों तक मैं अध्ययन और लेखन में व्यस्त रहा। उस समय उन्होंने गृहस्थाश्रम के मेरे उत्तरदायित्वों को भी अपने ऊपर लेकर घर-गृहस्थी की चिन्ताओं से मुझे पूर्णत: मुक्त रखा और मेरे लिए अधिकाधिक समय एवं अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध करायीं। एतदर्थ मैं उनका ऋणी हूँ, उनके लिए हृदय में अनेक मंगलकामनाएँ समाहित हैं। मेरे दोनों पुत्रों चिरंजीव अनिमेष और अनुपम ने पाण्डुलिपि तैयार करने और मुद्रलेखन कराने में बहुत सहायता की है। इन दोनों को मैं शुभाशीर्वाद देता हूँ।

अन्त में पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता एवं प्रकाशनाधिकारी डॉ॰ श्रीप्रकाश जी पाण्डेय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सार्थक प्रयास से ग्रन्थ का प्रकाशन शीघ्र सम्भव हुआ है। ग्रन्थ-प्रकाशन हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी का ऋणी तो हूँ ही।

अल्पज्ञों की कृति में त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है। विज्ञों से मेरा विनम्र निवेदन है कि ग्रन्थ में जो भी दोष उनकी दृष्टि के विषय बनें उन्हें मेरी दृष्टि में लाने की कृपा अवश्य करें, जिससे मैं अगले संस्करण में उनका निराकरण कर सकूँ।

दिनांक ३१-१०-१९९७ रतनचन्द्र जैन

१३७, आराधनानगर, कोटरा — सुल्तानाबाद
भोपाल — ४६२ ००३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

डॉ० रतनचन्द्र जी श्रीगणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर में मेरे शिष्य रहे हैं। इनके पिता माननीय पण्डित बालचन्द्र जी जैनसिद्धान्त के जाने-माने विद्वान् एवं प्रतिष्ठाचार्य थे। रतनचन्द्र जी ने निश्चय और व्यवहार नयों का गहन अध्ययन, मनन और चिन्तन किया है। सन् १९८० में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की ओर से 'मोक्षमार्ग में निश्चय और व्यवहार की उपयोगिता' विषय पर एक महानिबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। डॉ० रतनचन्द्र जी ने लगभग दो सौ पृष्ठों का निबन्ध लिखा था। जैनविद्वज्जगत् के मूर्धन्य विद्वान् पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य, डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया और पं० नाथूलाल जी शास्त्री निर्णायक थे। प्रतियोगिता में डॉ० रतनचन्द्र जी का निबन्ध सर्वोत्कृष्ट घोषित किया गया था और वे विद्वत्परिषद् द्वारा पुरस्कृत किये गये थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन' उनके द्वारा पीएच० डी० उपाधि के लिए लिखे गये शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित और परिमार्जित रूप है। सन् १९८० में सागर (म० प्र०) में षट्खण्डागम-वाचना के समय लेखक ने अपना शोध-प्रबन्ध परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी को पढ़कर सुनाया था। वे सुनकर सन्तुष्ट हुए थे। उन्होंने कुछ संशोधनों और नवीन तथ्यों के समावेश का भी सुझाव दिया था, जिनका समावेश करने पर प्रबन्ध का अपेक्षित परिष्कार हो गया। परिष्कृत और परिवर्धित होकर वह जिस रूप में आया है उससे वह निश्चय और व्यवहार नयों के विविध आयामों की आगमानुकूल विवेचना करने-वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ बन गया है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बारह अध्यायों में विभाजित है, जिनके नाम इस प्रकार हैं — निश्चय और व्यवहार नयों की पृष्ठभूमि, निश्चयनय, असद्भूतव्यवहारनय, उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय, सद्भूतव्यवहारनय, व्यवहारनय के भेद, निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता, निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्गों में साध्य-साधक भाव, साध्य-साधक भाव की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ, मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता, उपादान-निमित्तविषयक मिथ्याधारणाएँ, तथा निश्चयाभास एवं व्यवहाराभास। इस प्रकार ग्रन्थ का विषय वैविध्यपूर्ण और नवीन है तथा प्रस्तुतीकरण विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक है।

प्रस्तुतीकरण में अनेक नवीनताएँ दिखाई देती हैं। यथा, निश्चय और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार नयों के लक्षण नयी शब्दावली में निबद्ध किये गये हैं। इनकी परिभाषाओं में लेखक ने उन परस्परविरुद्ध वस्तुधर्मों या पक्षों का शब्दतः निर्देश किया है, जिनका अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करने से निर्णायक (ज्ञाता या प्रमाता) की दृष्टि निश्चय अथवा व्यवहार संज्ञा पाती है। इससे यह निर्णय करना अत्यन्त सरल हो जाता है कि ज्ञाता की कोई दृष्टि निश्चयनय और कोई दृष्टि व्यवहारनय शब्द से क्यों अभिहित की जाती है।

इसी प्रकार जिस-जिस धर्म का अवलम्बन कर निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) प्रवृत्त होती है, उस-उस धर्म के आधार पर निश्चयदृष्टि के नामकरण किये गये हैं, यथा — मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि, मूलस्वभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि इत्यादि। इसी तरह अपने विषय-विशेष का अवलम्बन करके प्रवृत्त होनेवाली व्यवहारदृष्टि को सोपधिक-पदार्थावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि, बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि आदि नाम दिये गये हैं। इससे यह तत्काल स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयदृष्टि या व्यवहारदृष्टि से वस्तु का जिस रूप में निर्णय किया गया है वह उसके किस पक्ष के आधार पर किया गया है ?

असद्भूतव्यवहारनय को मात्र उपचार अर्थात् अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोपण (अन्य वस्तु को अन्य वस्तु के नाम से अभिहित करना) न समझ लिया जाय, इस सम्भावना के निराकरण हेतु लेखक ने इस नय के तीन भेद किये हैं — उपाधिमूलक, बाह्यसम्बन्धमूलक एवं उपचारमूलक, और यह सिद्ध किया है कि इनमें से केवल उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय में ही अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म (या शब्द) का अन्यत्र समारोपण होता है, शेष दो में नहीं। तथा व्याकरणशास्त्र एवं लोकव्यवहार के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि उपचार अर्थात् प्रस्तुत वस्तु के लिए अप्रस्तुत वस्तु के वाचक शब्द का प्रयोग, प्रस्तुत वस्तु के ही धर्मविशेष को लक्षणा-व्यंजना नामक शब्दशक्तियों के द्वारा प्रतिपादित करने के लिये किया जाता है। अतः उपचार के द्वारा किया गया कथन केवल मुख्यार्थ की अपेक्षा असत्य होता है, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नहीं। इन अर्थों की अपेक्षा वह सत्य ही होता है।

इसी प्रसंग में लेखक ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि निश्चय और व्यवहार नय श्रुतज्ञान-प्रमाण के अवयव हैं, इसलिए वे प्रमाणैकदेश हैं। अतः व्यवहारनय की अपेक्षा किया गया कथन उतना ही सत्य होता है, जितना निश्चयनय की अपेक्षा किया गया कथन। यतः उपचार भी व्यवहारनय का एक भेद है और लक्षणा-व्यंजना के द्वारा वह वस्तुधर्म का ही प्रतिपादन करता है, अतः वह भी श्रुतज्ञान का अवयव होने से प्रमाणैकदेश है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि निश्चय और व्यवहार दोनों नयों से वस्तुगत सत्य का ही बोध होता है तो उनमें भेद किस बात का है? दोनों के अलग-अलग नाम क्यों हैं? ये भिन्न नाम किस भिन्नता की ओर संकेत करते हैं? इसके समाधान हेतु लेखक ने वस्तुगत सत्य के दो भेदों की ओर ध्यान खींचा है। वे दो भेद हैं — पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य। इसके लिए लेखक ने यह प्रमाण दिया है कि आचार्यों ने भिन्न-भिन्न वस्तुधर्मों के साथ पारमार्थिक और व्यावहारिक विशेषणों का प्रयोग किया है, यथा — "परमार्थसत्यं भगवन्तं समयसारं ....." (समयसार/आत्मख्याति ४१३), "व्यावहारिक नवतत्त्वेभ्यः" (समयसार/आत्मख्याति ३८)। इसलिए सत्य के ये दो रूप प्रामाणिक हैं। इनमें निश्चयनय पारमार्थिक सत्य का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है और व्यवहारनय व्यावहारिक सत्य का। यही दोनों में भेद है।

प्रस्तुतीकरण की एक नवीनता यह है कि लेखक ने अशुद्धनिश्चयादि नयों को निश्चयनय के भेदों में नहीं रखा है, अपितु जयसेनादि आचार्यों के वचनानुसार उन्हें असद्भूतव्यवहारनय के ही कुछ भेदों का नामान्तर मानते हुए व्यवहारनय के भेदों में ही परिगणित किया है। इससे निश्चयनय के विषय में व्यवहारनय के औपाधिकभावरूप विषय का मिश्रण न हो पाने से दोनों के लक्षणों की विभाजक रेखा सरल और स्पष्ट हो जाती है।

ग्रन्थ में कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। पहली यह कि विभिन्न निश्चयदृष्टियों और व्यवहारदृष्टियों से देखने पर आत्मादि पदार्थ जिस-जिस रूप में दिखाई देते हैं, उनका समयसारादि ग्रन्थों से उद्धरण देकर निरूपण किया गया है। इससे नयों का स्वरूप एवं आत्मादि पदार्थों का अनेकान्तरूप भली-भाँति हृदयंगम हो जाता है।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त युक्तिपूर्वक किया गया है कि वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति और मोक्षप्राप्ति में निश्चय और व्यवहार नयों की क्या उपयोगिता है? उन पर आश्रित उपदेश का ग्रहण और अनुसरण क्यों आवश्यक है? लेखक ने उन अनेक प्रयोजनों का अनुसन्धान किया है जो निश्चयनयात्मक और व्यवहारनयात्मक उपदेशों से सिद्ध होते हैं। लेखक ने प्रतिपादित किया है कि दोनों नय वस्तुस्वरूपविषयक अज्ञान का निवारण करते हैं। निश्चय-नयात्मक उपदेश से आत्मा और शरीरादि के एकत्व का अज्ञान मिटता है तथा उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से जीव और शरीर तथा जीव और रागादि के सर्वथा भिन्न होने की मिथ्या धारणा नष्ट होती है। निश्चयनयात्मक उपदेश सम्यक्त्वपूर्वक एवं सम्यक्त्वपरक शुभोपयोग के वास्तविक मोक्षमार्ग होने का भ्रम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूर करता है और उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश उपर्युक्त शुभोपयोग के सर्वथा मोक्षमार्ग न होने की भ्रान्ति मिटाता है। निश्चयनय द्रव्यदृष्टि से जीव के शुद्धचैतन्यस्वरूप होने के सत्य का बोध कराता है। व्यवहारनय पर्यायदृष्टि से जीव के कर्मबद्ध और मोहरागादि से मलिन होने के सत्य की प्रतीति कराता है। निश्चयनय द्रव्यदृष्टि से आत्मा के पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष के अकर्त्ता होने की वास्तविकता का अनुभव कराता है, व्यवहारनय पर्यायदृष्टि से इनका कथंचित् कर्त्ता होने का सत्य दृष्टि में लाता है। इसके अतिरिक्त असद्भूतव्यवहारनय हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह आदि पापों तथा इनके परित्यागरूप व्रतादि के अस्तित्व का उपपादन करता है, जो निश्चयनय द्वारा सम्भव नहीं है। इस प्रकार निश्चयनयात्मक उपदेश से जीव को अपने शुद्धस्वरूप और मोक्ष के वास्तविक मार्ग का ज्ञान होता है तथा व्यवहारनयाश्रित उपदेश से अपनी संसारावस्था तथा निश्चयमोक्षमार्ग के निकट पहुँचानेवाले व्यवहारमोक्षमार्ग का ज्ञान होता है। इन ज्ञानों को उपलब्ध कर जीव निश्चयमोक्षमार्ग तक पहुँचने के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग पर चलता है और निश्चय-मोक्षमार्ग पर पहुँचकर उस पर चलते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस तरह से निश्चय और व्यवहार नय वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति और मोक्ष की प्राप्ति कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

चूँकि जीव को वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति और मोक्षप्राप्ति कराने में निश्चय और व्यवहार नय परस्पर सहयोगी हैं, अत: वे परस्पर सापेक्ष हैं। यह स्पष्टीकरण भी ग्रन्थ में किया गया है।

तीसरी विशेषता यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में जो साध्य-साधकभाव है, उसका प्रतिपादन लेखक ने मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। सम्यक्त्वपरक शुभोपयोग और सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग के व्रत, संयम, तप, अपरिग्रह, भक्ति, स्वाध्याय आदि अनेक अंग हैं। ये अंग मोक्षोपयोगी विशुद्धता के विकास में मनोवैज्ञानिक भूमिका सम्पादित करते हैं। इनसे मन और इन्द्रियों का परद्रव्यों के चिन्तन और व्यसन (अधीनता) से छुटकारा पाने का अभ्यास होता है। उनके वे संस्कार क्षीण हो जाते हैं जिनसे परद्रव्येच्छारूप तीव्र संक्लेश-परिणाम उत्पन्न होता है, फलस्वरूप विशुद्धता बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते विशुद्धता उस स्तर पर पहुँच जाती है, जहाँ जीव के लिए निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर ही लेखक ने मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता का विवेचन किया है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में साध्यसाधकभाव है, इसलिए वे परस्परसापेक्ष हैं। अत: मोक्षमार्ग अनेकान्तात्मक है। व्यवहारमोक्षमार्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयमोक्षमार्ग का साधक क्यों है ? यह प्रश्न जीवों की क्षमता के क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। जैसे बालक की बुद्धि और शारीरिक बल का विकास क्रमश: होता है, वैसे ही जीवों का परद्रव्य की अधीनता से मुक्त होने का सामर्थ्य भी धीरे-धीरे विकसित होता है। जैसे मनुष्य एक-एक सीढ़ी चढ़कर ही ऊपरी मंजिल पर पहुँचता है, वैसे ही साधक थोड़ा-थोड़ा त्याग करते हुए ही सम्पूर्ण त्याग में सफल हो पाता है। अत: जैसे अल्पत्याग पूर्णत्याग का साधक है, वैसे ही व्यवहार-मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है। निम्न भूमिका में व्यवहारमोक्षमार्ग कार्यकारी होता है और उच्च भूमिका में निश्चयमोक्षमार्ग। कोई एक ही मार्ग सभी अवस्थाओं में कार्यकारी नहीं होता। यही मनोवैज्ञानिक सत्य मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता का रहस्य है।

ग्रन्थ की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें उन भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओं और मिथ्याधारणाओं को दृष्टि में लाया गया है जो निश्चय और व्यवहार नयों तथा तत्सम्बद्ध विषयों के बारे में कुछ आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रचलित की गयी हैं, तथा आगम के प्रकाश में उनकी परीक्षा और निराकरण किया गया है। यथा, उक्त विद्वानों ने असद्भूतव्यवहारनय को वस्तुधर्म का प्रतिपादक न मानकर, मात्र अन्य वस्तु के धर्म का अन्य वस्तु पर आरोप करनेवाला बतलाया है, जिसका खण्डनकर लेखक ने उसे लक्षणा-व्यंजना द्वारा वस्तुधर्म का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है। कथित विद्वानों ने उक्त नय को अज्ञानियों का अनादिरूढ़ व्यवहार कहा है, लेखक ने इसे गलत बतलाते हुए उसे श्रुतज्ञानियों और केवलज्ञानियों का व्यवहार निरूपित किया है। उक्त विद्वानों ने निश्चयनय और उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय में परस्परसापेक्षता का निषेध किया है, लेखक ने इसे भ्रान्तिपूर्ण बतलाते हुए परस्परसापेक्षता सिद्ध की है। निर्दिष्ट विद्वानों ने निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में कार्यकारणात्मक (निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य का जनक) साध्य-साधकभाव न मानकर साध्यसाधकभाव की गलत व्याख्या करते हुए निश्चयमोक्षमार्ग का सहचर, अबाधक या अनुमापक होने के कारण व्यवहारमोक्षमार्ग को उसका साधक कहा जाना बतलाया है। लेखक ने इन व्याख्याओं की भ्रान्तिपूर्णता स्पष्ट करते हुए उनमें कार्यकारणात्मक साध्यसाधकभाव का प्रतिपादन किया है।

पूर्वोक्त विद्वानों की मान्यता है कि कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु के कार्य का वास्तव में निमित्त नहीं होती, अपितु उसे उपचार से निमित्त कहा जाता है। लेखक ने इस मान्यता का खण्डन इस तर्क द्वारा किया है कि किसी वस्तु के वास्तव में निमित्त हुए बिना किसी अन्य वस्तु को उपचार से निमित्त नहीं कहा जा सकता। निमित्त के विषय में उक्त विद्वानों ने दूसरी भ्रान्तिपूर्ण धारणा यह प्रचलित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की है कि प्रत्येक वस्तु अपना कार्य स्वयं करती है, किन्तु सहचर होने मात्र से दूसरी वस्तु को उसका निमित्त कहा जाता है। इस धारणा का खण्डन करते हुए लेखक ने आगम-प्रमाण से सिद्ध किया है कि सहचर होने के कारण नहीं, बल्कि कार्योत्पत्ति के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण वह निमित्त कहलाती है। निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए कथित विद्वानों ने यह प्रतिपादन किया है कि कर्म भी धर्मादि द्रव्यों के समान उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नहीं। लेखक ने इस प्रतिपादन को इस तर्क द्वारा भ्रान्तिपूर्ण ठहराया है कि जो कर्म आत्मा के स्वभाव का घात करें उन्हें धर्मादि द्रव्यों के समान उदासीन कैसे कहा जा सकता है ? वे प्रेरक ही नहीं, अपितु आक्रामक और घातक भी हैं।

इन भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओं और मिथ्याधारणाओं का निराकरण अत्यन्त आवश्यक था। इससे लोग मिथ्या मान्यताओं में फँसने से बच सकेंगे और जो फँस चुके हैं, उन्हें उनसे मुक्त होने की प्रेरणा मिलेगी।

लेखक ने अन्तिम अध्याय में लोगों के निश्चयाभासी (निश्चयैकान्तवादी) और व्यवहाराभासी (व्यवहारैकान्तवादी) बन जाने के कारणों की गवेषणा की है। ये कारण वक्ता और श्रोता दोनों से सम्बन्धित हैं। इनमें से अनेक ऐसे हैं जिन पर बहुतों का ध्यान नहीं गया है। आशा है इन पर ध्यान जाने से वक्ता और श्रोता इनके निराकरण का प्रयास करेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के दीर्घकालीन गहन अध्यवसाय का सुपरिणाम है। ग्रन्थ पूर्णतः आगमानुकूल और ज्ञानवर्धक है। यह जैनसाहित्य के लिए अमूल्य योगदान सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। लेखक ने भाषा को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयास किया है, ताकि ग्रन्थ का विषय सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य हो सके। मैं प्रोफेसर रतनचन्द्र जी के प्रयास की सराहना करता हूँ और कामना करता हूँ कि वे निरन्तर अध्ययन-लेखन में संलग्न रहते हुए ऐसे अनेक उपहार जैनसाहित्य को प्रदान करें। मेरा मंगल आशीर्वाद उनके साथ है।

जबलपुर
२२ जनवरी, १९९७

डॉ० (पण्डित) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
निदेशक
श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल
पिसनहारी की मढ़िया
जबलपुर (म० प्र०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रमणी

पृष्ठांक

प्रकाशकीय पाँच
अपनी बात सात
प्रस्तावना : डॉ० (पं०) पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य तेरह
सङ्केत-सूची छब्बीस

अध्याय

प्रथम : निश्चय और व्यवहार नयों की पृष्ठभूमि
वस्तु की अनेकरूपात्मकता १
नय : एक नेत्र १
निश्चय और व्यवहार नय : प्रमाणैकदेश ३
सत्य के दो रूप ५
उपदेश के लिए निश्चय-व्यवहार नयों का आश्रय ८
देशना के सम्यक् ग्रहण हेतु नयभेद का ज्ञान आवश्यक ११

द्वितीय : निश्चयनय
निश्चय और व्यवहार नयों के लक्षण, विषय, परिभाषाएँ १४
प्रतिनियतलक्षण से पदार्थों की पहचान १७
मूलपदार्थावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय १९
मूलस्वभावावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय २१
मौलिकभेदावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय २१
शरीर और आत्मा में एकत्व का निषेध २२
आत्मा और कर्म में बद्धत्व का निषेध २३
पर के साथ स्वस्वामिसम्बन्ध का निषेध २४
परभाव से कर्त्ताकर्मसम्बन्ध का निषेध २८
परद्रव्य से भोक्ताभोग्यसम्बन्ध का निषेध ३०
पर से ग्रहण-त्याग सम्बन्ध का निषेध ३१
परद्रव्य से निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध का निषेध ३३
पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध का निषेध ३४
पर से श्रद्धेय-श्रद्धानकारकसम्बन्ध का निषेध ३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय	पृष्ठांक
पर से साध्यसाधकसम्बन्ध का निषेध	३६
पर के साथ आधाराधेयसम्बन्ध का निषेध	३८
मौलिक-अभेदावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय	३९
धर्म-धर्मी में भिन्नत्व का निषेध	४०
नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि से वस्तुस्वरूप का निर्णय	४२
चैतन्यभाव की जीव संज्ञा	४३
शुद्धोपयोग की मोक्षमार्ग संज्ञा	४४
स्वात्मश्रद्धानादि की सम्यग्दर्शनादि संज्ञाएँ	४६
रागद्वेषमोह की आस्रव-बन्ध संज्ञाएँ	४७
रागद्वेषमोहाभाव की संवर संज्ञा	४८
शुद्धोपयोग की निर्जरा संज्ञा	४८
क्षायिकसम्यग्दर्शनादि की मोक्ष संज्ञा	४९
रागादि के अभाव की अहिंसादि संज्ञाएँ	४९
शुभाशुभपरिणामनिवृत्ति की व्रत संज्ञा	५३
शुद्धात्मस्वरूप में अवस्थान की समिति आदि संज्ञाएँ	५४
शुद्धात्मपरिणति आदि की निःशङ्का आदि संज्ञाएँ	५६
हसने आदि की हास्यादि संज्ञाएँ	५८
आत्माश्रितभावावलम्बिनी दृष्टि से मोक्षमार्ग का निर्णय	५९
निश्चयनयात्मक उपदेश के प्रयोजन	६१
मिथ्या धारणाओं का विनाश	६१
सम्यक् धारणाओं की उत्पत्ति	६५
स्वपद का निश्चय	६६
मनःस्थिति में परिवर्तन	६७
तृतीय : असद्भूतव्यवहारनय	
व्यवहारनय का लक्षण, असद्भूत एवं सद्भूत के विषय	६८
असद्भूतव्यवहारनय के भेद	६९
उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय	६९
बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय	७३
जीव और पुद्गल के संश्लेषसम्बन्ध का निश्चय	७३
जीव और शरीर के कथंचित् अभेद का निश्चय	७५
परद्रव्य के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का निश्चय	७७
परद्रव्य के साथ संयोगसम्बन्ध का निश्चय	८०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय	पृष्ठांक
परद्रव्य के साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का निश्चय	८१
परद्रव्य के साथ साध्यसाधकसम्बन्ध का निश्चय	८१
परद्रव्य के साथ आधाराधेयसम्बन्ध का निश्चय	८२
असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन	८३
संसारपर्याय का उपपादन	८३
हिंसा के सद्भाव का उपपादन	८३
स्तेयादि के सद्भाव का उपपादन	८५
बन्धमोक्ष की प्रक्रिया का उपपादन	८५
मोक्ष की आवश्यकता का उपपादन	८५
मोक्षमार्ग की साध्यता का उपपादन	८६
सर्वज्ञत्व का उपपादन	८६
धर्मादि द्रव्यों के लक्षण का उपपादन	८६
अभूतार्थता का अभिप्राय	८७
चतुर्थ : उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय	
उपचार का अर्थ	८८
उपचार : एक लोकव्यवहार	८८
निमित्त और प्रयोजन पर आश्रित	८९
व्याकरण और काव्यशास्त्र में उपचार	९०
उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन	९२
अननुभूत अतीन्द्रिय तत्त्व का द्योतन	९२
अभेदविशेष का द्योतन	९३
लौकिकसम्बन्ध का द्योतन	९३
बन्ध-मोक्ष में जीवस्वातन्त्र्य का द्योतन	९४
विषयभोक्तृत्व का उपपादन	९५
संयोग-वियोग-प्रयोजकत्व का द्योतन	९७
साधर्म्यविशेष का द्योतन	९९
अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थप्रतिपादक	१०२
वस्तुधर्म का प्रतिपादक	१०२
उपचार और अज्ञानियों के व्यवहार में अन्तर	१०४
हेय होने का अभिप्राय	१०८
पञ्चम : सद्भूतव्यवहारनय	
लक्षण	१११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय | पृष्ठांक

संज्ञादिगतभेद : अतद्भाव १११
स्वस्वामित्वादिभेद का हेतु ११२
कर्त्ताकर्मत्वादिभेद का हेतु ११४
अभेद में भी स्वस्वामित्वादि-व्यपदेश की उपपत्ति ११७
अनेकत्व का हेतु ११८
सविशेषत्व का हेतु ११९
वस्तु-अवबोधनार्थ षष्ठी आदि व्यपदेश १२०
अभेद की अपेक्षा गुणगुण्यादिलक्षण की उपपत्ति १२३
सद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन १२४

षष्ठ : व्यवहारनय के भेद
असद्भूतव्यवहारनय के भेद १२७
उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय के भेद १२७
द्रव्यपर्यायावलम्बी १२७
भावपर्यायावलम्बी १२७
भावपर्यायावलम्बी के भेद १२८
अशुद्धनिश्चयनय १२८
एकदेशशुद्धनिश्चयनय १२८
शुद्धनिश्चयनय १२८
अशुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण १३१
एकदेशशुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण १३२
शुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण १३३
उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के भेद १३४
अनुपचरित १३४
उपचरित १३४
सद्भूतव्यवहारनय के भेद १३५
उपचरित १३५
अनुपचरित १३५

सप्तम : निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता
परस्पर पूरक १३७
परस्पर अविनाभावी १३७
निरपेक्षा नया मिथ्याः १३८
परस्परसापेक्ष नय ही अज्ञाननिवारक १४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय	पृष्ठांक
निश्चयनय के द्वारा शरीरादि में आत्मादिबुद्धि का विनाश	१४२
व्यवहारनय के द्वारा सर्वथा शुद्धत्व की मिथ्याबुद्धि का विनाश	१४२
साध्यसाधकरूप से भी परस्परसापेक्ष	१४४
सापेक्षताविरोधी मत का निराकरण	१४५
अष्टम : निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गों में साध्यसाधकभाव	
साध्यसाधकभाव के शास्त्रीय प्रमाण	१४८
व्यवहारमोक्षमार्ग की वैज्ञानिक भूमि	१५०
प्राथमिक भूमिका में केवल पाप से निवृत्ति सम्भव	१५०
पुण्यनिवृत्तियोग्य अवस्था की प्राप्ति	१५०
एकदेशनिवृत्ति विशुद्धपरिणामपूर्वक	१५१
लक्ष्य की भिन्नता से शुभोपयोग के फल में भिन्नता	१५३
मोक्षोन्मुख शुभोपयोग से मिथ्यात्व का उपशम	१५४
सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से अप्रत्याख्यानावरणादि का क्षयोपशम	१५५
उपादान नहीं, निमित्तमात्र	१५६
प्राप्तभूमिका को निर्दोष रखने में सहायक	१५६
विशुद्धता के विकास में शुभोपयोग की मनोवैज्ञानिकता	१५७
निमित्त-परिवर्तन से कर्मोदय में परिवर्तन	१६०
संयम, तप, अपरिग्रह की मनोवैज्ञानिकता	१६०
भक्ति की मनोवैज्ञानिकता	१६४
स्वाध्याय की मनोवैज्ञानिकता	१६५
क्षमा-समता-अहिंसादि की मनोवैज्ञानिकता	१६५
नवम : साध्यसाधकभाव की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ	
भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओं का निराकरण	१७१
व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की सामर्थ्य का जनक	१७२
रोग की अल्पता से रोगनिवृत्ति सुकर	१७५
ग्रहण और त्याग दोनों आवश्यक	१७५
व्यवहारधर्म आंशिक शुद्धि का हेतु	१७६
सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग में धर्म का अंश	१७७
मात्र पुण्यबन्ध नहीं, परम्परया मोक्ष भी	१७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय	पृष्ठांक
निश्चयधर्म के पूर्व भी व्यवहारधर्म	१८१
निमित्तनैमित्तिक का समकालयोग अनिवार्य नहीं	१८६
सहचर-व्यवहारधर्म शुद्धोपयोगसाधक	१८७
अबाधकत्व साधकत्व नहीं है	१८८
अवरोधनिवारकत्व के कारण ही नियतपूर्वभाव	१९०
ज्ञापकत्व साधकत्व नहीं है	१९१
'सुद्धो सुद्धादेसो' गाथा का तात्पर्य	१९३
व्यवहार के ज्ञानमात्र से तीर्थप्रवृत्ति सम्भव नहीं	१९५
साध्यसाधकभाव की मनोवैज्ञानिकता	१९७
सापेक्षता की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या	१९८
निश्चय और व्यवहार की सापेक्ष उपादेयता	२००
दशम : मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता	
अवस्थानुरूप उपाय ही कार्यकारी	२०१
आगम में पात्रसापेक्ष उपदेश	२०३
स्वयोग्य धर्मग्रहण करने का उपदेश	२०४
भिन्न-भिन्न भूमिका में भिन्न-भिन्न धर्म ग्राह्य	२०५
व्यवहार की हेयोपादेयता भूमिकानुसार	२०६
निश्चय-व्यवहार के एकान्त अवलम्बन का निषेध	२०८
व्यवहारैकान्त से संसारभ्रमण	२०९
निश्चयैकान्त से केवल पापबन्ध	२०९
मध्यस्थ होने से ही मोक्ष	२०९
सर्वथानुगम्यः स्याद्वादः	२१०
उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना	२११
दोनों नयों की सापेक्ष उपादेयता का कथन	२१२
अनेकान्तात्मकता की मनोवैज्ञानिक भित्ति	२१४
एकादश : उपादाननिमित्तविषयक मिथ्याधारणाएँ	
मिथ्याधारणाओं का खण्डन	२१६
निमित्त एक वास्तविकता	२१६
आरोप वास्तविक धर्म का ही किया जाता है	२१७
निमित्त के उपचार का कोई प्रयोजन नहीं	२१८
प्रयोजनवश कर्तृकर्मत्व का उपचार	२१९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय	पृष्ठांक
निमित्तभाव स्वभावगत	२१९
निमित्त के बिना कार्य असम्भव	२२१
अन्वयव्यतिरेक की अपेक्षा 'निमित्त' संज्ञा	२२१
कालप्रत्यासत्ति का अभिप्राय	२२२
अन्यवस्तु में कोई धर्म उत्पन्न करना निमित्त का लक्षण नहीं	२२३
निश्चय से निषेध का अर्थ सर्वथा निषेध नहीं	२२४
द्विक्रियाकारिता का प्रसंग नहीं	२२५
निमित्त से स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती	२२५
अशुद्धोपादानजन्य कार्य निमित्तप्रेरित	२२८
कर्म प्रेरक निमित्त ही हैं	२३०
स्वपरप्रत्यय-परिणमन	२३३
मोहादिप्रकृतिक कर्म ही चिद्विकार के हेतु	२३४
प्रेरक ही नहीं, आक्रामक और घातक	२३६
कर्म अजेय नहीं	२३८
द्वादश : निश्चयाभास एवं व्यवहाराभास	
निश्चयाभास	२४०
व्यवहाराभास	२४२
उभयाभास	२४३
एकान्तवादियों का इतिहास	२४५
एकान्तवाद के हेतु	२४६
अनेकान्तसिद्धान्त से अनभिज्ञता	२४६
नयस्वरूप से अनभिज्ञता	२४७
सापेक्षता से अनभिज्ञता	२४७
दोषपूर्ण व्याख्याएँ	२४८
एकान्तप्रवचन	२४९
सांकेतिक भाषा का प्रयोग	२५३
सांकेतिक भाषा और स्पष्ट भाषा के उदाहरण	२५४
सन्दर्भग्रन्थसूची	२५६

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेतसूची

१. अनगारधर्मामृत …/…	अध्यायसंख्या/श्लोकसंख्या
२. अमितगतिश्रावकाचार …/…	अधिकार सं०/श्लोक सं०
३. कसायपाहुड …/…/…/… (जयधवलाटीका)	पुस्तक सं० /भाग सं०/प्रकरण सं०/पृष्ठ सं०
४. काव्यप्रकाश …/…	उल्लास सं०/कारिका सं० (वृत्ति)
५. चारित्रसार …/…	पृष्ठ सं०/पंक्ति सं०
६. ज्ञानार्णव …/…	सर्ग सं०/श्लोक सं०
७. तत्त्वार्थसूत्र …/…	अध्याय सं०/सूत्र सं०
८. तत्त्वार्थवार्तिक …/…	अध्याय सं०/सूत्र सं०
९. तत्त्वार्थवृत्ति …/…	अध्याय सं०/सूत्र सं०
१०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक …/…	अध्याय सं०/सूत्र सं०
,, …/…/…/…	पुस्तक सं०/अध्याय सं०/सूत्र सं०/वार्तिक सं०
११. धवला …/…,…,…/… (षट्खण्डागम की टीका)	पुस्तक सं०/खण्ड सं०,भाग सं०,सूत्र सं०/ पृष्ठ सं०
१२. न्यायदीपिका …/…	अधिकार सं०/प्रकरण सं०
१३. परमात्मप्रकाश …/…	अधिकार सं०/दोहा सं०
१४. प्रवचनसार …/…	अधिकार सं०/गाथा सं०
१५. श्रीमद्भगवद्गीता …/…	अध्याय सं०/श्लोक सं०
१६. सर्वार्थसिद्धि …/…	अध्याय सं०/सूत्र सं०
१७. स्याद्वादमंजरी …/…	श्लोक सं०/पृष्ठ सं०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4490
29-7-99

प्रथम अध्याय

निश्चय और व्यवहार नयों की पृष्ठभूमि

वस्तु अनेकरूपात्मक है, जैसे आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य; द्रव्यदृष्टि से एक स्वभावात्मक है, पर्यायदृष्टि से अनेकस्वभावात्मक; द्रव्यदृष्टि से भेदरहित है, पर्यायदृष्टि से भेदसहित; द्रव्यदृष्टि से अबद्ध है, पर्यायदृष्टि से बद्ध; द्रव्यदृष्टि से रागादिशून्य है, पर्यायदृष्टि से रागादियुक्त। इन परस्पर विरुद्ध पक्षों में से किसी एक पक्ष से वस्तु को देखनेवाली ज्ञाता (प्रमाता) की दृष्टि नय कहलाती है।

नय : एक नेत्र

आगम में नय को नेत्र की उपमा दी गई है जिससे स्पष्ट होता है कि नय वस्तु के पक्षविशेष को जानने के साधन हैं। आचार्य माइल्लधवल कहते हैं —

जीवा पुग्गलकालो धम्माधम्मा तहेव आयासं ।
णियणियसहावजुत्ता दट्ठव्वा णयपमाणणयणेहिं ।।[१]

अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को नय और प्रमाणरूपी नेत्रों से देखना चाहिए।

उन्होंने यह भी कहा है कि जो नयरूपी दृष्टि से रहित हैं उन्हें वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तुस्वरूप के ज्ञान से रहित जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?[२] कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकार का भी कथन है कि पक्षविशेष का आश्रय लेकर न देखा जाय तो वस्तु के नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म दिखाई नहीं देते : 'निरवेक्खं दीसदे णेव'।[३]

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की ११४वीं गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं —

"समस्त वस्तुएँ सामान्य और विशेष रूपों से युक्त हैं। उनका दर्शन कराने वाले दो नेत्र हैं : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक सामान्य रूप के दर्शन

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा ३.
२. जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धि ।
वत्थुसहावविहीणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ।। वही, गाथा १८१
३. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराता है और पर्यायार्थिक विशेषरूप के। उदाहरणार्थ, जब पर्यायार्थिक नेत्र को बन्द कर केवल द्रव्यार्थिक से देखते हैं तब जीवद्रव्य की नारक, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायों में ये पर्यायें दिखाई नहीं देतीं, केवल उनमें अवस्थित वही-वही जीवद्रव्य दिखाई देता है, जिससे ये सब अन्य-अन्य पर्यायें एक उसी जीवद्रव्य के रूप में (अनन्य) प्रतीत होती हैं। किन्तु, जब द्रव्यार्थिक नेत्र को बन्दकर केवल पर्यायार्थिक से अवलोकन करते हैं तब उस एक जीवद्रव्य में जीवद्रव्य दिखाई नहीं देता, केवल उसमें अवस्थित नारक, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध, ये अनेक पर्यायें दिखाई देती हैं, जिससे वही जीवद्रव्य अन्य-अन्य रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जब दोनों नेत्रों को एक साथ खोलकर इस ओर भी देखते हैं और उस ओर भी, तब नारकादि पर्यायों में अवस्थित जीवसामान्य और जीवसामान्य में अवस्थित नारकादि पर्यायरूप विशेष एक ही समय में दिखाई देते हैं। इस तरह क्रमशः एक-एक नेत्र से देखने पर वस्तु के एक-एक पक्ष के दर्शन होते हैं और दोनों नेत्रों से एक साथ देखने पर सम्पूर्ण वस्तु का अवलोकन होता है। सम्पूर्ण वस्तु का अवलोकन करने पर वस्तु के अन्यत्व और अनन्यत्व धर्मों में विरोध प्रतीत नहीं होता।''[१]

इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि नय और प्रमाण नेत्रों के समान वस्तु के स्वरूप को जानने के साधन हैं। यह व्याख्यान नय और प्रमाण के लक्षणों को भी सरलतया बोधगम्य बना देता है। वस्तु के परस्परविरुद्ध दो पक्षों में से एक समय में एक ही पक्ष से वस्तु का परामर्श करनेवाली ज्ञाता की एकाकी दृष्टि का

१. सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायत्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानानामन्यदन्यत् प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वाद् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम्। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वमनन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते।'' प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/२२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम नय है तथा एक समय में दोनों पक्षों से परामर्श करनेवाले दृष्टियुगल को प्रमाण कहते हैं।[१]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय ही अध्यात्म में निश्चयनय और व्यवहारनय के नाम से जाने जाते हैं। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका में स्पष्ट किया है कि निश्चयनय द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित।[२] आलापपद्धति में भी कहा गया है —

णिच्छयव्यवहारणया मूलिमभेया णयाणसव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ।।[३]

— सब नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूलभूत भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन का अर्थात् व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिक नय है।[४]

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय भी नेत्रयुगल हैं जिनके द्वारा वस्तु के परस्परविरुद्ध पक्षों के दर्शन होते हैं।

निश्चय और व्यवहारनय प्रमाणैकदेश

वस्तु के स्वरूप का जो निर्णय उसके उभय पक्षों के आधार पर किया जाता है वह प्रमाण कहलाता है। प्रयोजनवश किसी एक पक्ष के आधार पर किये गये निर्णय को नय कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब ज्ञाता (प्रमाता) की दृष्टि में वस्तु के उभय पक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं तब उस दृष्टि का नाम प्रमाण होता है और जब प्रयोजनवश दृष्टि में किसी एक पक्ष का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया जाता है तब उस दृष्टि को नय कहते हैं। इस तरह नय श्रुतज्ञान-प्रमाण का एकदेश (अंश) है[५] अतः अप्रमाण नहीं है। जैसे समुद्र के अंश को न तो समुद्र कहा जा सकता है न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश ही कहा जा सकता है, वैसे ही प्रमाण के अवयव को न तो अप्रमाण माना जा सकता है, न प्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश ही माना

१. "अनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयः।" अष्टशती, देवागमकारिका, १०६
२. "व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात् ...। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात् ...।" समयसार, गाथा, ५६
३. आलापपद्धति, गाथा, ४.
४. आलापपद्धति, गाथा, ४, अनुवादक — पं० रतनचन्द जी मुख्तार
५. "श्रुतविकल्पो वा नयः। आलापपद्धति, सूत्र, १८१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा सकता है।[१]

निश्चयनय और व्यवहारनय भी श्रुतज्ञाननामक प्रमाण के अवयव हैं[२] इसलिए प्रमाणैकदेश हैं। अतः उनसे वस्तु के पक्षविशेषों की सत्यता प्रमाणित होती है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने इन दोनों नयों को सत्य बतलाया है, क्योंकि वस्तु के शुद्ध-अशुद्ध रूप इनके विषय हैं और वस्तु की प्रतीति शुद्ध-अशुद्ध दोनों रूपों में होती है।[३] आचार्य श्री जयसेन का कथन है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समूह को मोक्षमार्ग कहना भेदप्रधान या पर्यायप्रधान व्यवहारनय से सत्य होता है। 'ऐकाग्र्य' को मोक्षमार्ग कहना अभेदप्रधान या द्रव्यप्रधान निश्चयनय से सत्य होता है तथा चूँकि समस्त वस्तुसमूह भेदाभेदात्मक है इसलिए मोक्षमार्ग के निश्चयव्यवहारात्मक दोनों रूप प्रमाण से सत्य सिद्ध होते हैं।[४]

समयसार की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्र लिखते हैं — "जब जीव और पुद्‌गल की अनादिबन्धपर्याय को दृष्टि में रखकर अनुभव किया जाता है तब जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ तत्त्व सत्य प्रतीत होते हैं, किन्तु अकेले जीवद्रव्य के शुद्ध चैतन्य स्वभाव को दृष्टि में रखकर अनुभव करते हैं तब असत्य ठहरते हैं।[५] इसी प्रकार "अनादि बद्धस्पृष्टत्व पर्याय से आत्मा का अवलोकन करने पर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ घटित होता है, किन्तु जब पुद्‌गल के जड़ स्वभाव को कभी भी ग्रहण न करनेवाले आत्मस्वभाव पर ध्यान दिया जाता है तब आत्मा का बद्धस्पृष्टत्व (पुद्‌गलकर्मों से संश्लेषसम्बन्ध) अभूतार्थ

१. नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ।। नयविवरण, १०

२. "श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः।" समयसार/आत्मख्याति, १४३

३. "रागादिपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। यस्तु पुद्‌गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्‌गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्।"
प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/९७

४. "तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात् पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थः।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/४२

५. "बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्‌गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि।"
समयसार/आत्मख्याति, गाथा १३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध होता है।"[1] इन वचनों से निश्चय और व्यवहारनयों की प्रमाणैकदेशता का समर्थन होता है।

स्याद्वादमञ्जरीकार ने अन्य के लिए अन्य के नाम का प्रयोग करने को अर्थात् उपचारात्मक असद्भूतव्यवहारनय को भी प्रमाणैकदेश बतलाया है, क्योंकि उपचारात्मक असद्भूतव्यवहारनय साधर्म्यादि सम्बन्ध से मुख्य अर्थ का ही द्योतन करता है।[2]

आचार्य जयसेन लोकव्यवहार अर्थात् असद्भूतव्यवहारनय की कथंचित् प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के लिये जैनों और बौद्धों के द्वारा मान्य व्यवहारनयों का भेद बतलाते हैं। वे कहते हैं —यद्यपि जैनों के समान बौद्ध भी बुद्ध को व्यवहारनय से सर्वज्ञ मानते हैं, तथापि बौद्धों के मत में व्यवहारनय जैसे निश्चयनय की अपेक्षा असत्य होता है वैसे ही व्यवहाररूप से भी असत्य होता है। किन्तु, जैनमत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा असत्य होता है, तथापि व्यवहाररूप से सत्य होता है। यदि वह लोकव्यवहार-रूप से भी सत्य न हो तो समस्त लोकव्यवहार मिथ्या ठहरेगा। इससे लोकव्यवहार को सर्वथा असत्य मानने का अतिप्रसंगदोष उपस्थित होगा।"[3]

ये समस्त आर्षवचन निश्चय और व्यवहार नयों की प्रमाणैकदेशता की पुष्टि करते हैं।

सत्य के दो रूप

यतः निश्चय और व्यवहार दोनों नय प्रमाणैकदेश हैं इसलिए उनके द्वारा अधिगत पदार्थ सत्य होता है। निश्चयनय द्वारा गृहीत पदार्थ तो सत्य होता ही है, व्यवहारनय द्वारा ज्ञात पदार्थ भी सत्य होता है।[3] किन्तु सत्य के रूपों में अन्तर

---

१. "तथात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"

समयसार/आत्मख्याति, गाथा १४

२. "लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्।''' न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित् साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्।" स्याद्वादमञ्जरी, ५/२६

३. "ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः, तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्गः।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति, गाथा ३५६-३६५

३. (क) "उभावप्येतौ स्तः शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्।"

प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। अनेकान्त वस्तु से सम्बन्धित जिस सत्य की प्रतीति निश्चयनय से होती है वह परमार्थसत्य है और जिसका अनुभव व्यवहारनय से होता है वह व्यवहारसत्य या लौकिकसत्य है। जीव, पुद्‍गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये स्वत:सिद्ध स्वतन्त्र मूलपदार्थ परमार्थसत्य हैं।[1] तथा जीव और पुद्‍गल के संयोग से सिद्ध मनुष्यादि जीवपर्यायें, शरीरादि अजीवपर्यायें, मोहरागादिरूप आस्रव, जीवपुद्‍गल-संश्लेषरूप बन्ध, पाप-पुण्य, संवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहार सत्य हैं। इसीलिए इन्हें व्यावहारिक नौ पदार्थ कहा गया है।[2] इनमें भी जो आस्रवादि तत्त्व जीव से सम्बद्ध हैं अर्थात् चेतनात्मक हैं वे परमार्थसत्य हैं, जो पुद्‍गल से सम्बद्ध हैं अर्थात् जड़स्वभावात्मक हैं वे व्यवहारसत्य हैं। आत्मा का स्वकीय शुद्ध परिणाम मोक्ष का साक्षात् मार्ग है इसलिए वह परमार्थसत्य है,[3] आत्मा का ही शुभपरिणाम मोक्षमार्ग का साधक है इसलिए वह व्यवहारसत्य है।

जीव का स्वत:सिद्ध चैतन्यस्वभाव परमार्थसत्य है, पुद्‍गल कर्मों के निमित्त से उत्पन्न मोहरागादिभाव व्यवहारसत्य है। कर्मनिमित्तक देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक एवं सिद्ध पर्यायें भी व्यवहारसत्य हैं। केवलज्ञान तथा सर्वज्ञत्व भी नैमित्तिकभाव होने से व्यवहारसत्य हैं।

आत्मा और उसके दर्शनज्ञानचारित्रादि धर्मों में जो प्रदेशगत मौलिक अभेद है वह परमार्थसत्य है तथा जो संज्ञादिगत बाह्य भेद है वह व्यवहारसत्य है। आत्मा और पुद्‍गलादि परद्रव्यों की प्रदेशगत मौलिक भिन्नता परमार्थसत्य है तथा संश्लेष, संयोग, निमित्तनैमित्तिक आदि बाह्य सम्बन्ध व्यवहारसत्य हैं। अपने दर्शनज्ञानादि

(ख) "अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्य-पापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेषु।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा १३

१. (क) "इमौ हिं जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ। जीवपुद्‍गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता: सप्तान्ये च पदार्था:।"

पंचास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

(ख) "निश्चयमनारूढा: परमार्थसत्यं भगवन्तं समयसारं न पश्यन्ति।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४१३

(ग) "गगनादिवत् पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि।" वही/गाथा ७३

२. "नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनव-तत्त्वेभ्य: ··· ···।" वही/गाथा ३८

३. मोत्तूणणिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।। समयसार/गाथा १५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणों में व्याप्त आत्मा का चैतन्यभावरूप एक मूल स्वभाव परमार्थसत्य है तथा चैतन्य- रूप मूलस्वभाव में निमग्न दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि विशिष्ट स्वभाव व्यवहार-सत्य हैं।

शरीर, धन-सम्पत्ति तथा परिवारजनों के साथ आत्मा का प्रदेशात्मक एकत्व न होने से स्वस्वामिसम्बन्ध का अभाव परमार्थसत्य है, किन्तु संयोगसम्बन्ध होने से स्वस्वामिसम्बन्ध का सद्भाव व्यवहारसत्य है। परद्रव्यों में स्वशरीर, परशरीर, स्वस्त्री, परस्त्री, निजधन, परधन इत्यादि अपने-पराये का भाव लौकिक सत्य है। इस सत्य के बिना परप्राणव्यपरोपणरूप हिंसा, परधनहरणरूप चोरी, परस्त्रीगमनरूप अब्रह्म तथा धनादिसंग्रहरूप परिग्रह के पाप घटित नहीं हो सकते, न ही इनके त्याग से फलित होने वाले अणुव्रतों और महाव्रतों, अनशनादि तप, श्रावकधर्म और मुनिधर्म का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। इसीलिए आचार्य जयसेन ने लोकव्यवहार को व्यवहाररूप से सत्य बतलाया है।

इसी प्रकार वस्तु का मूल नाम परमार्थसत्य है और औपचारिक नाम व्यवहारसत्य। जैसे शरीर का 'शरीर' नाम परमार्थ सत्य है क्योंकि यह नाम 'शरीर' शब्द का जो नियतस्वलक्षणभूत अर्थ है उसे ही संकेतित करता है, किन्तु शरीर की 'जीव' संज्ञा व्यवहारसत्य है क्योंकि यह नियतस्वलक्षणभूत अर्थ को संकेतित न कर जीव और शरीर के संश्लेषसम्बन्ध को लक्षणाशक्ति से बोधित करती है।

निश्चय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष हैं। इसलिए निश्चय शब्द व्यवहार-सत्य के अस्तित्व को स्वयं द्योतित करता है। आचार्य श्री जयसेन समयसार की टीका में स्पष्ट करते हैं —

"शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्त्ता, अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न है, ऐसी व्याख्या करने पर दूसरे पक्ष में व्यवहारनय से कर्त्ता, भोक्ता तथा क्रोधादि से अभिन्न है, यह अर्थ स्वयमेव निकलता है, क्योंकि निश्चय और व्यवहार परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे यह देवदत्त दायीं आँख से देखता है ऐसा कहने पर बायीं आँख से नहीं देखता, यह अर्थ बिना कहे ही सिद्ध होता है। किन्तु जो ऐसा नयविभाग नहीं मानते, उनके मत में जैसे जीव शुद्धनिश्चयनय से अकर्त्ता तथा क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहारनय से भी होता है। ऐसा होने पर क्रोधादिरूप परिणमन के अभाव में सिद्धों के समान कर्मबन्ध का अभाव फलित होता है। कर्मबन्ध के अभाव में संसार का अभाव और संसार के अभाव में सदा मुक्त रहने का प्रसंग उपस्थित होता है। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि संसार प्रत्यक्ष दिखाई देता है।"[१]

---

१. किं च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार सत्य के दो रूप : परमार्थसत्य और व्यवहारसत्य या लौकिक सत्य आगमसिद्ध हैं।

उपदेश के लिए निश्चय-व्यवहार नयों का आश्रय

जीवादि तत्त्व अनेकान्तात्मक हैं इसलिए जिनेन्द्रदेव ने उनकी प्ररूपणा निश्चय और व्यवहारनयों के आश्रय से की है।[१] गुरु भी शिष्यों के अज्ञान की निवृत्ति के लिए निश्चय और व्यवहार नयों का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का विवेचन करते हैं, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

मुख्योपचार - विवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।।[२]

अर्थात् निश्चय और व्यवहार के ज्ञाता गुरु मुख्य विवरण (द्रव्याश्रित या मूलाश्रित कथन) तथा उपचारविवरण (पर्यायाश्रित कथन) द्वारा शिष्यों के दुर्निवार अज्ञान को मिटाकर जगत् में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

अनादि अज्ञानवश जीव शरीर को आत्मा मानता है और इन्द्रियसुख को ही सुख समझता है। देवी-देवताओं के प्रकोप को दु:ख का कारण मानता है और उनकी पूजा-भक्ति को तथा प्राणियों की बलि देकर उन्हें प्रसन्न करने को दु:ख-निवारण का उपाय समझता है। ईश्वर की आराधना और शुभक्रियाएँ उसकी दृष्टि में मोक्ष का मार्ग होती हैं। वह अपने को परद्रव्यों का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता और उन्हें अपने सुख-दु:ख का कारण मानकर चलता है। परद्रव्यों में उसकी ममत्वबुद्धि होती है। दु:ख के वास्तविक कारण और दु:ख-मुक्ति के वास्तविक उपाय की उसे समझ नहीं होती।

इसलिए हितैषी गुरु निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रतिनियत स्वलक्षण की युक्ति से समझाते हैं कि जीवों में जो शुद्धचैतन्य भाव है उसका नाम आत्मा है तथा वह शरीर और रागादिभावों से भिन्न है। इससे अज्ञानी जीव का आत्मविषयक

व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धिमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्त्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावः। कर्मबन्धाभावे संसाराभावः। संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११३-११५

१. "उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना।" पंचास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १५९

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कारिका ४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञान दूर हो जाता है। वह शरीर और रागादिभावों से पृथग्भूत चिन्मात्रभाव में ही जीवद्रव्य की सत्ता का निश्चय करता है। किन्तु इसके साथ ही गुरुदेव व्यवहारनय का अवलम्बन कर जीवसंयुक्त शरीर को भी जीव कहते हैं, इसलिए कि शिष्य स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा को शरीर से पृथक् माने, किन्तु पर्यायदृष्टि से पृथक् न मान ले। यदि पर्यायदृष्टि से भी पृथक् मान लिया तो जीव के साथ शरीर का कोई सम्बन्ध दिखेगा ही नहीं और तब शरीर के घात से जीवघातरूप हिंसा का पाप घटित नहीं होगा। इससे कर्मबन्ध के अभाव का प्रसंग आयेगा और कर्मबन्ध के अभाव में मोक्ष का अभाव घटित होगा। व्यवहारनय के उपदेश से यह अनर्थ नहीं हो पाता। इसी प्रकार शरीर को सर्वथा जीव समझने से जो अनर्थ हो सकता है वह निश्चयनय के उपदेश से बच जाता है। इसी प्रकार गुरु निश्चयनय के आश्रय से जीव को रागादिभावों से भिन्न दर्शाने के साथ-साथ व्यवहारनय का अवलम्बन कर अभिन्न भी प्रदर्शित करते हैं, जिससे कि जीव पर्यायदृष्टि से भी शुद्ध न मान लिया जाय, अन्यथा जो पर्यायदृष्टि से भी शुद्ध हो, उसके लिए मोक्ष की आवश्यकता कैसे सिद्ध होगी ? दूसरी तरफ द्रव्यदृष्टि से आत्मा को रागादि से भिन्न न माना जाय तो वे आत्मा के स्वभाव सिद्ध होंगे। इस स्थिति में मोक्ष की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि जो स्वभाव है उससे कोई मुक्त कैसे हो सकता है ? इस अनर्थ का प्रतिकार निश्चयनय के उपदेश से हो जाता है।[1]

तथा गुरुदेव निश्चयनय (द्रव्यदृष्टि) का आश्रय लेकर परद्रव्य और आत्मा में वस्तुरूप से पृथक्त्व दर्शाते हैं और सिद्ध करते हैं कि जो द्रव्य मूलतः पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् जिनकी सत्ता ही अलग-अलग है उनमें कोई किसी का कर्त्ता या कर्म कैसे हो सकता है ? कोई किसी का स्वामी या स्व (अपना) कैसे हो सकता है ? कोई किसी की स्वस्त्री या परस्त्री, स्वधन या परधन कैसे हो सकता है ? इस निश्चयनयाश्रित विश्लेषण से शिष्य को निश्चय हो जाता है कि जीव परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता या स्वामी नहीं है, न ही कोई स्वस्त्री है, न परस्त्री, न स्वपुरुष, न परपुरुष, न स्वधन, न परधन। इस ज्ञान से परद्रव्य के प्रति ममत्व का आधार

---

१. सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावा जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छाभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभावः।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गुरु अनुभव कराते हैं कि निश्चयनय से देखने पर केवल मूल पदार्थ ही दिखाई देता है, दो पदार्थों का सम्बन्ध दिखाई नहीं देता, क्योंकि इसको देखने वाली व्यवहारदृष्टि उस समय बन्द रहती है। इसलिए निश्चय-दृष्टि से संयोगादि सम्बन्ध अभूतार्थ सिद्ध होते हैं।

किन्तु, इसके साथ ही गुरु व्यवहारनय (पर्यायदृष्टि या द्विष्ठसम्बन्धदृष्टि) का अवलम्बन कर आत्मा और परद्रव्य में संश्लेष, संयोग, निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्धों को भूतार्थ बतलाते हैं, जिससे यह समाधान हो जाता है कि जीव की संसारावस्था मौलिक नहीं है, अपितु पुद्‌गलसंयोगजन्य है, रागादिभाव स्वाभाविक नहीं हैं, बल्कि पुद्‌गलकर्मनिमित्तक हैं। इसलिए पुद्‌गलकर्मों के संयोग से छुटकारा पाकर जीव मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि के साथ संयोग सम्बन्ध का बोध होने से यह भी निश्चय हो जाता है कि इनके साथ लौकिकदृष्टि से अपने-पराये का भेद वास्तविक है। इस भेद की वास्तविकता के आधार पर ही परप्राणव्यपरोपणरूप हिंसा, परस्त्रीगमनरूप व्यभिचार, परधनहरणरूप चोरी, परद्रव्यसंग्रहरूप परिग्रह आदि पापों की सत्यता सिद्ध होती है।

तथा गुरुश्री निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग ठहराते हैं, क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संवर और निर्जरा शुद्धोपयोग से ही होती है। किन्तु व्यवहारनय (साध्य-साधकसम्बन्धदृष्टि) को प्रधानता देकर शुभोपयोग को मोक्षमार्ग प्रतिपादित करते हैं, क्योंकि शुभोपयोग के अभ्यास से ही जीव शुद्धोपयोग के योग्य बन पाता है। यदि केवल निश्चयनय के अभिप्राय से शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग बतलाया जाय और शुभोपयोग को मोक्षमार्ग संज्ञा न दी जाय तो शिष्य एकान्तरूप से शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसी में स्थित होने का प्रयास करता रहेगा, लेकिन विषयकषायों से ग्रस्त होने के कारण सफल न हो पायेगा, जिससे पापसंचय करते हुए ही मनुष्यायु समाप्त हो जायेगी। दूसरी ओर, व्यवहारनय की दृष्टि से केवल शुभोपयोग को ही मोक्षमार्ग कहा जाय, शुद्धोपयोग के मोक्षमार्गत्व का वर्णन न किया जाय तो जीव एकान्तरूप से शुभोपयोग को ही मोक्षमार्ग समझकर उसी में लगा रहेगा और पुण्यबन्ध करता हुआ स्वर्गादि के चक्कर काटता रहेगा, मुक्त न हो पायेगा।

इसी प्रकार गुरुवर निश्चयनय की दृष्टि से पाप और पुण्य दोनों को बन्ध-कारण होने की अपेक्षा हेय प्रतिपादित करते हैं और व्यवहारनय के अभिप्राय से पाप से बचने के लिए पुण्य को उपादेय ठहराते हैं। निश्चयनय का अवलम्बन कर रागादि की उत्पत्ति को हिंसा बतलाते हैं तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से (निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से) परप्राणव्यपरोपण को हिंसा संज्ञा देते हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि परप्राणों के व्यपरोपण को हिंसा संज्ञा न दी जाय तो जीव उनकी रक्षा का प्रयत्न नहीं करेगा। निश्चयनय की अपेक्षा गुरु मूर्च्छा को परिग्रह निरूपित करते हैं और व्यवहारनय की अपेक्षा परद्रव्य के संग्रह को 'परिग्रह' शब्द से अभिहित करते हैं, जिससे कि जीव मूर्च्छा के बाह्य निमित्त से बच सके।

इस प्रकार गुरुदेव निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का अवलम्बन कर अज्ञानी शिष्यों को जीवादि तत्त्वों का उपदेश देते हैं, जिससे वस्तु के अनेकान्तस्वरूप के ज्ञानपूर्वक उनके दुर्निवार अज्ञान की निवृत्ति सम्भव होती है।

देशना के सम्यक् ग्रहण हेतु नयभेद का ज्ञान आवश्यक

गुरु निश्चय और व्यवहार नयों का आश्रय लेकर उपदेश देते हैं। उसे सम्यग्रूप से ग्रहण करने के लिए शिष्य को भी इन नयों के स्वरूप का समीचीन ज्ञान होना आवश्यक है। इन नयों के कथन किन अपेक्षाओं पर आश्रित हैं अथवा कौन सा कथन किस नय से संगत है, यह ज्ञान भलीभाँति होना चाहिए। यह ज्ञान न होने पर बड़ी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे कोई द्रव्यदृष्टि से किये गए निश्चयनय के कथन को पर्यायदृष्टि से किया गया मान लेता है, अर्थात् निश्चयनय को व्यवहारनय समझ लेता है। उदाहरणार्थ, आगम में आत्मा को द्रव्यदृष्टि से सिद्धसमान कहा गया है। नयज्ञान से रहित मनुष्य अपने को पर्याय की अपेक्षा सिद्धवत् अनुभव करने लगता है।[१] जिनेन्द्रदेव ने निश्चयनयाश्रित उपदेश में जीव को द्रव्य की अपेक्षा रागादि से भिन्न बतलाया है। नयज्ञानशून्य मनुष्य आत्मा को पर्याय की अपेक्षा रागादि से भिन्न समझ लेता है।[२] समयसार में आत्मा को द्रव्यदृष्टि से अबद्धस्पृष्ट कहा है। नयज्ञानविहीन व्यक्ति पर्याय की दृष्टि से अबद्धस्पृष्ट समझने की भूल कर बैठता है।[३] भगवान् ने शुभप्रवृत्ति को बन्ध की अपेक्षा हेय कहा है, पाप से बचने की अपेक्षा उपादेय बतलाया है, किन्तु नयनेत्ररहित मनुष्य सर्वथा हेय मान लेता है। आगम में निश्चयनय का अवलम्बन कर द्रव्य की प्रधानता से आत्मा और परद्रव्य में निमित्तनैमित्तिकादि समस्त सम्बन्धों का अभाव बतलाया है। नयदृष्टिविहीन जीव उनका सर्वथा अभाव समझ बैठता है। इन समस्त भ्रान्तियों को निश्चयैकान्त या निश्चयाभास कहते हैं।

कोई मनुष्य व्यवहारनय को निश्चयनय के रूप में ग्रहण कर लेता है। यथा, जिनेन्द्रदेव ने शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग का साधक होने की अपेक्षा सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग संज्ञा दी है, किन्तु नयभ्रमित व्यक्ति उसे

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० १९३.
२. वही/अधिकार ७/पृ० १९६.
३. वही/अधिकार ७/पृ० १९८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तविक मोक्षमार्ग मान लेता है। इसी प्रकार आगम में आत्मा और शरीर के संश्लेष-सम्बन्ध की अपेक्षा व्यवहारनय से मनुष्यादि शरीरों को जीव कहा है। नयज्ञान से शून्य मनुष्य इसे द्रव्यदृष्टि से किया गया कथन मानकर मनुष्यादि शरीरों को ही परमार्थतः जीव समझने लगता है। इसे व्यवहारैकान्त या व्यवहाराभास कहा गया है।

कुछ लोग दोनों नयों के कथन को अपेक्षा भेद के बिना समानरूप से सत्य मान लेते हैं, क्योंकि नयों के भेद को वे समझ नहीं पाते हैं और दोनों नयों से भगवान् ने उपदेश दिया है, इसलिए किसी नय को असत्य मान नहीं सकते। अतः वे दोनों के कथन को परमार्थतः सत्य स्वीकार करने की मजबूरी निभाते चलते हैं। भगवान् ने आत्मा को निश्चयनय से चैतन्यस्वभाव कहा है और व्यवहारनय से रागादि-स्वभाव बतलाया है, इसलिए यह भेद किये बिना कि चैतन्यस्वभाव किस अपेक्षा से कहा है और रागादिस्वभाव किस अपेक्षा से, वे आत्मा को एक ही अपेक्षा से दोनों स्वभाववाला मान लेते हैं। इसी प्रकार निश्चयनय से शुद्धोपयोग को मोक्षमार्ग बतलाया है और व्यवहारनय से शुभोपयोग को। यहाँ अपेक्षाभेद का विचार किये बिना दोनों को वास्तविक मोक्षमार्ग समझकर एक साथ साधने की निष्फल चेष्टा करते हैं। यह उभयैकान्त अथवा उभयाभास है।

नयविभाग से अनभिज्ञ व्यक्ति की भ्रान्तबुद्धि का एक दृष्टान्त समयसार में दिया गया है। कवियों ने तीर्थङ्करों की स्तुति उनके शारीरिक गुणों के द्वारा की है। इसे देखकर नयभेद से अनभिज्ञ व्यक्ति कहता है, "तीर्थङ्करों की स्तुति उनके शरीर की स्तुति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए मेरा दृढ़ मत है कि शरीर ही आत्मा है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थङ्करों की सारी स्तुति मिथ्या हो जायेगी।[1]

इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं, "ऐसा नहीं है। तुम नयभेद से अनभिज्ञ हो (अर्थात् कौन सा कथन किस नय की अपेक्षा से किया गया है इसे तुम नहीं जानते)। जीव और शरीर के संश्लेषसम्बन्ध को दृष्टि में रखकर व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक माना जाता है। इसी अपेक्षा से अर्थात् व्यवहारनय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन संगत होता है। किन्तु, निश्चयनय से विचार करने पर अर्थात् आत्मा और पुद्गल के नियत स्वलक्षणों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि जीव चेतनस्वभाव है और पुद्गल जड़स्वभाव। इस तरह उनके स्वभावों में अत्यन्त भिन्नता है, अतः वे कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए निश्चयनय से

---

१. जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।। समयसार, गाथा २६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति उपपन्न नहीं होती।[१] निष्कर्षतः शरीर जीव नहीं है, अपितु शुद्धचैतन्य तत्त्व ही जीव है। यह नयभेद से अनभिज्ञ व्यक्ति की भ्रान्तबुद्धि का दृष्टान्त है। इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं —

"जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से ग्रहण करते हैं उन्हें शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होता। जो परमार्थ को ही परमार्थरूप से ग्रहण करते हैं उन्हें शुद्धात्मस्वरूप की प्रतीति हो पाती है।"[२]

तथा जो व्यवहारनय को सर्वथा असत्य मानकर एकमात्र निश्चयनय को सत्य स्वीकार करते हुए प्रवृत्त होते हैं उनके विषय में आचार्य कहते हैं —

णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता ।
णासंति चरणकरणं वाहरिचरणालसा केई ।।[३]

— कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निश्चयनय को निश्चयनय से तो जानते नहीं हैं, किन्तु उसका अवलम्बन करते हैं। वे बाह्य चारित्र में आलसी बन जाते हैं और चारित्र से हाथ धो बैठते हैं।

उपर्युक्त अनर्थों से बचने के लिए मुमुक्षु शिष्य को निश्चय और व्यवहार नयों का समीचीन ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

●

---

१. (क) नैवं नयविभागानभिज्ञोऽसि —
ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।।
समयसार/गाथा २७

(ख) एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नु स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः।। समयसारकलश, २७

२. "ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते।"
समयसार/आत्मख्याति, गाथा ४१४

३. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका, गाथा १७२ में उद्धृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय अध्याय

निश्चयनय

ज्ञाता की जो दृष्टि स्वतःसिद्ध मूलपदार्थ, मूलस्वभाव, मौलिक भेद, मौलिक अभेद, नियत स्वलक्षण एवं आत्माश्रित भाव के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करती है उसे निश्चयनय कहते हैं तथा जो सोपाधिक (संयुक्त) पदार्थ, औपाधिक (नैमित्तिक) भाव, स्वभावविशेष (विशिष्ट स्वभाव), बाह्यभेद, बाह्य सम्बन्ध, पराश्रितभाव एवं उपचार के आधार पर निर्णय करती है वह व्यवहारनय कहलाती है।[१]

मूल पदार्थ से तात्पर्य है परद्रव्य से असम्बद्ध, परसंयोगादि से अनुत्पन्न, स्वतःसिद्ध, स्वतन्त्र पदार्थ। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः मूल पदार्थ हैं, क्योंकि ये परसंयोगादि से रहित, स्वतःसिद्ध एवं स्वतन्त्र हैं।[२] इन्हें द्रव्य भी कहते हैं। मूलस्वभाव का अर्थ है वस्तु का वह असाधारण स्वभाव जो उसके गुण नामक विशिष्ट स्वभावों में व्याप्त होता है और जिसके कारण वे गुण द्रव्यविशेष के गुणों के रूप में पहचाने जाते हैं। जैसे चैतन्यभाव आत्मा का असाधारण स्वभाव है। वह आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणों में व्याप्त होता है और उसके ही कारण दर्शनज्ञानचारित्रादि आत्मा के गुणों के रूप में पहचाने जाते हैं। अतः चैतन्यभाव आत्मा का मूलस्वभाव है। मौलिक भेद से अभिप्राय है स्वभाव या प्रदेशों (सत्ता) का भिन्न-भिन्न होना और उनका अभिन्न होना मौलिक अभेद कहलाता है। जो धर्म वस्तुविशेष की सभी अवस्थाओं में तथा उस जाति की सभी वस्तुओं में पाया जाता है, अन्य किसी वस्तु में उपलब्ध नहीं होता, वह उस वस्तु का नियत-स्वलक्षण कहलाता है। स्वात्मा के श्रद्धानादि को आत्माश्रित भाव कहते हैं।

पुद्गलसंयुक्त जीव और पुद्गलसंयुक्त पुद्गल सोपाधिक पदार्थ हैं। पुद्गल की उपाधि या निमित्त से उत्पन्न जीव के परिणाम तथा जीव के निमित्त से उत्पन्न पुद्गल के परिणाम औपाधिक या नैमित्तिक भाव कहलाते हैं। पुण्य, पाप, आस्रव,

१. "इति भेदात्मकत्वात् पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/४२

२. "इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात पदार्थ पुद्गल के निमित्त से जीव में उत्पन्न होते हैं, अतः ये जीव के औपाधिक (नैमित्तिक) भाव हैं।[1]

जीव के निमित्त से ये पुद्गल में भी उत्पन्न होते हैं अतः वे पुद्गल के नैमित्तिक भाव हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव जीव के औपाधिक भाव हैं, क्योंकि ये कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय के निमित्त से आविर्भूत होते हैं।[2] जीव की मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकपर्यायें कर्मों के उदय के निमित्त से होती हैं तथा पुद्गलसंयोगजन्य हैं, अतः ये जीव की औपाधिक अवस्थाएँ हैं। सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति भी घाती और अघाती दोनों प्रकार के कर्मों के क्षय से होती है। इसलिए यह भी नैमित्तिक या औपाधिक है।

द्रव्य का असाधारण स्वभाव जिन विभिन्न गुणों के रूप में अभिव्यक्त होता है वे द्रव्य के विशिष्टस्वभाव या 'विशेष' कहलाते हैं। वस्तु और उसके धर्मों में जो संज्ञादि का भेद होता है वह बाह्य भेद है तथा परद्रव्य के साथ रहनेवाले संयोगादि सम्बन्ध का नाम बाह्यसम्बन्ध है। जीवादि परद्रव्यों के श्रद्धानादि को पराश्रित भाव कहते हैं। अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग करना उपचार कहलाता है।[3]

इनमें से उपचार को छोड़कर सभी पदार्थ द्रव्य और पर्याय में गर्भित हैं। मूलपदार्थ, मूलस्वभाव, मौलिक भेद, मौलिक अभेद और नियतस्वलक्षण ये पाँचों द्रव्य में अन्तर्भूत हैं। जैसे शुद्ध चैतन्यभाव आत्मद्रव्य का नियतस्वलक्षण है और स्वतःसिद्ध है, परद्रव्य के संयोगादि से उत्पन्न नहीं है, अतः मूल पदार्थ है। अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि विशेष-स्वभावों में अखण्डरूप से व्याप्त होता है अतः स्वयं आत्मा का मूलस्वभाव है। आत्मद्रव्य और उसके दर्शनज्ञानादि गुणों में अखण्ड रूप से व्याप्त रहने के कारण ही उनमें मौलिक अभेद का प्रकाशक है। आत्मा के अतिरिक्त शेष द्रव्यों में उपलब्ध नहीं होता, इसलिए परद्रव्यों से मौलिक भेद का सूचक है।

दूसरी ओर, सोपाधिक पदार्थ (जीव और पुद्गल की संयुक्त अवस्था) तथा औपाधिक भाव पर्याय हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि विशेष भी पर्याय हैं।[4] संज्ञादि-

---

१. "जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ताः सप्तान्ये च पदार्थाः।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८

२. "तत्रोदयेन युक्त औदयिकः। उपशमेन युक्त औपशमिकः। क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः। क्षयेण युक्तः क्षायिकः। परिणामेन युक्तः पारिणामिकः। त एते पञ्च जीवगुणाः। तत्रोपाधिचतुर्विधनिबन्धनाश्चत्वारः। स्वभावनिबन्धन एकः।"

वही/गाथा, १६

३. "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणसमद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः।" आलापपद्धति/सूत्र २०७-२०८

४. "तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेण...।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गत भेद भी पर्याय है।[१] परद्रव्य के साथ निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्ध भी पर्याय हैं।

यतः निश्चय और व्यवहार के विषयभूत उपर्युक्त पदार्थ द्रव्य और पर्याय में गर्भित होते हैं, अतः आचार्यों ने संक्षेप में द्रव्य का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाली ज्ञाता की दृष्टि को निश्चयनय तथा पर्याय का अवलम्बन कर निर्णय करनेवाली दृष्टि को व्यवहारनय संज्ञा दी है —

"निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात् ...। व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात् ...।"[२]

निश्चय और व्यवहार के पूर्वोक्त विषयों को पृथक्-पृथक् लेकर इन नयों की परिभाषाएँ इस प्रकार की गई हैं —

"अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।"[३]

— मौलिक (प्रदेशगत) अभेद और नियतस्वलक्षण (अनुपचार) के आधार पर वस्तु का निश्चय करनेवाली दृष्टि निश्चयनय है तथा संज्ञादिगत बाह्य भेद और उपचार के आधार पर निर्णय करनेवाली दृष्टि व्यवहारनय।

"निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः।"[४]

— निश्चयनय का विषय प्रदेशगत अभेद है और व्यवहारनय का विषय संज्ञादिगत भेद।

अर्थात् मौलिक अभेद का अवलम्बन कर वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाली दृष्टि का नाम निश्चयनय और बाह्यभेद का अवलम्बन कर निर्णय करनेवाली दृष्टि का नाम व्यवहारनय है।

"भिन्नवस्तुसम्बन्धविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।"[५]

— भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

यहाँ परद्रव्यसम्बन्ध के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाली ज्ञाता की दृष्टि को 'असद्भूतव्यवहारनय' शब्द से संकेतित किया गया है।

"आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः।"[६]

— निश्चयनय आत्माश्रित है, व्यवहारनय पराश्रित।

---

१. 'ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो।' गोम्मटसार/जीवकाण्ड/गाथा ५७२
२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ५६
३. आलापपद्धति/सूत्र २०४-२०५
४. वही/सूत्र २१६
५. वही/पादटिप्पणी/द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/पृष्ठ २२८
६. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह परिभाषा मोक्षमार्ग को दृष्टि में रखकर की गई है।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि स्वात्मा के श्रद्धानादि के आधार पर मोक्षमार्ग का निर्णय करनेवाली दृष्टि निश्चयनय है तथा परद्रव्य के श्रद्धानादि के आधार पर निर्णय करनेवाली दृष्टि व्यवहारनय।[2] ये दोनों दृष्टियाँ नियतस्वलक्षणावलम्बिनी एवं उपचारावलम्बिनी दृष्टियों में गर्भित हैं, केवल स्पष्टता के लिए पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है।

ये समस्त परिभाषाएँ निश्चय और व्यवहारनयों के पूर्वोक्त विषयों और लक्षणों पर प्रकाश डालती हैं।

प्रतिनियत लक्षण से पदार्थों की पहचान

यहाँ प्रश्न है कि निश्चय और व्यवहारनयों के उपर्युक्त विषयों की पहचान कैसे सम्भव है ? किसी भी वस्तु की पहचान उसके प्रतिनियत लक्षण से होती है।[3] उसी के द्वारा मूलपदार्थ का निश्चय होता है। उसी के द्वारा आस्रवादि औपाधिक तत्त्वों की पहचान होती है। उसी के द्वारा कर्त्ता-कर्मादि पर्यायों का निर्णय होता है। वही भिन्न वस्तुओं की भिन्नता का निश्चय कराता है।[4] वही वस्तु और उसके धर्मों की अभिन्नता का निर्णायक है।

प्रतिनियत स्वलक्षण वस्तु के उस धर्म को कहते हैं जो उसकी सभी अवस्थाओं में पाया जाता है, किन्तु अन्य किसी वस्तु में उपलब्ध नहीं होता, जिसके कारण वह अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न सिद्ध होती है[5] तथा जिसके अभाव में उस वस्तु का अभाव हो जाता है।[6] जैसे शुद्धचैतन्यभाव जीव का ऐसा धर्म है जो उसके

---

१. (क) "आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्चमानत्वात्। पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७२
   (ख) "एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्ग प्रोक्त इति। ...शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २७६-२७७

२. स्वात्मा का श्रद्धान, स्वात्मा का ज्ञान तथा स्वात्मलीनतारूप चारित्र आत्माश्रित (आत्मविषयक) भाव हैं तथा जीवादि का श्रद्धान, जीवादि का ज्ञान एवं जीवरक्षादिरूप चारित्र पराश्रित (परद्रव्यविषयक) भाव हैं।

३. "यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ३००

४. "जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नम्।" वही/कलश, ४३

५. "व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।" न्यायदीपिका, १/३

६. "किं लक्खणम् ? जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि तं तस्स लक्खणं, जहा पोग्गलदव्वस्स रूवरसगंधफासा, जीवस्स उवजोगो।" धवला ७/२, १, ५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिरिक्त पुद्गलादि शेष द्रव्यों में नहीं पाया जाता, जिसके कारण जीव पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न सिद्ध होता है, जिसके अभाव में जीव की सत्ता नहीं रहती तथा जो जीव के दर्शनज्ञानादि समस्त गुणों एवं देव-मनुष्यादि सभी पर्यायों में विद्यमान रहता है। अत: यह जीव का नियतस्वलक्षण है। जीव में अन्य भाव भी दिखाई देते हैं, जैसे शरीर, पुद्गलकर्म, मोहरागादि तथा केवलज्ञानादि, किन्तु ये जीव की सभी अवस्थाओं में विद्यमान नहीं होते तथा इनके अभाव में जीव का अभाव नहीं होता। उदाहरणार्थ, मनुष्यादि शरीर एवं मोहरागादि भाव जीव की संसार पर्याय में ही उपलब्ध होते हैं, मुक्तपर्याय में नहीं, फिर भी मुक्तपर्याय में जीव का अस्तित्व देखा जाता है। इसी प्रकार केवलज्ञानादि का मुक्तपर्याय में ही सद्भाव होता है, संसारपर्याय में नहीं, तथापि संसारपर्याय में जीव की सत्ता विद्यमान रहती है। अत: ये पदार्थ जीव के प्रतिनियत लक्षण सिद्ध नहीं होते। इसलिए इन्हें जीव संज्ञा नहीं दी जा सकती। एकमात्र शुद्धचैतन्यभाव ही जीव का प्रतिनियत लक्षण सिद्ध होता है, अत: उसी की जीव संज्ञा है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित व्याख्यान में किया है —

"आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणम्। तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते, निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयं तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात् समस्तसह-क्रमप्रवृत्तानन्तपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्य इति यावत् ।"[1]

अर्थात् अपने अतिरिक्त समस्त शेष द्रव्यों में उपलब्ध न होने के कारण 'चैतन्य' आत्मा का स्वलक्षण है। वह अपने समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त होता है। चैतन्यस्वभावात्मक होने के कारण ही वे समस्त गुण और पर्यायें आत्मा के गुण-पर्यायों के रूप में पहचानी जाती हैं। अत: उन समस्त गुणपर्यायों के समूह को आत्मा समझना चाहिये। चूँकि चैतन्यभाव का अस्तित्व गुणपर्यायों के रूप में ही होता है, अत: आत्मा चिन्मात्र ही है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसी प्रकार अपने गुणरूप विशेष-स्वभावों में असाधारणधर्म के रूप से व्याप्त होना मूलस्वभाव का लक्षण है। स्वभावभेद या प्रदेशभेद मौलिक भेद का लक्षण है[2] और स्वभावों या प्रदेशों की अभिन्नता मौलिक अभेद का।[3] इन नियत स्वलक्षणों के द्वारा निश्चयनय और व्यवहारनय के विषयों को सरलतया पहचाना जा सकता है।

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २९४
२. "पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि।" प्रवचनसार, २/१४
"प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् ।" वही/तत्त्वदीपिका, २/१४
३. "तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्।" वही/तत्त्वदीपिका, २/१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलपदार्थावलम्बिनी (द्रव्यार्थिक) दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि जब हम जीव और पुद्गल की अनादि संयोगपर्याय को एक पदार्थ के रूप में देखते हैं तब जीव मनुष्यादिरूप भी दिखाई देता है, आस्रवमय (रागद्वेषमोहमय) भी दृष्टिगोचर होता है, पुण्यमय (शुभभावमय) भी प्रतीत होता है, पापमय (अशुभभावमय) भी परिलक्षित होता है, बन्धमय (कर्मबद्ध) भी दृष्टि में आता है, संवररूप (रागद्वेष-मोहाभावरूप) भी दिखाई देता है, निर्जरारूप (शुद्धोपयोगरूप) भी अनुभव में आता है और मोक्षमय (कर्ममुक्त) भी घटित होता है। इस प्रकार पर्यायाश्रित व्यवहारनय से देखने पर जीव की सप्ततत्त्वात्मक या नवपदार्थात्मक अवस्थाएँ[1] भूतार्थ सिद्ध होती हैं। किन्तु जब एकमात्र जीवद्रव्यरूप मूलपदार्थ को दृष्टि में रखकर अवलोकन करते हैं तब जीव चैतन्यभावमात्र प्रतीत होता है, उसकी सप्ततत्त्वात्मक या नवपदार्थरूप अवस्थाएँ अनुभव में नहीं आतीं। अतः निश्चयनय से अवलोकन करने पर ये अभूतार्थ सिद्ध होती हैं।[2]

अन्यत्र भी वे कहते हैं कि जो यह स्वतःसिद्ध होने के कारण अनादि-अनन्त नित्यप्रकाशमान विशदज्योति ज्ञायकरूप एक पदार्थ है वह संसारावस्था में अनादि बन्धपर्याय की दृष्टि से विचार करने पर कर्मपुद्गलों के साथ क्षीरनीरवत् अभिन्न दिखाई देता है, किन्तु जब द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा विचार करते हैं तब प्रतीत होता है कि कर्मोदयवश जो शुभाशुभभाव उत्पन्न होते हैं, ज्ञायकभाव उनके रूप में परिवर्तित नहीं होता, ज्ञायक ही बना रहता है। अतः समस्त शेष द्रव्यों से सदा भिन्न बने रहने के कारण उसे (ज्ञायकरूप आत्मा को) शुद्ध कहा जाता है।[3]

इस प्रकार मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि जीव को पुद्गलसंयोग से अलग कर मूलरूप में देखती है और तब इस निश्चय पर पहुँचती है कि जीव सप्ततत्त्वात्मक या नवपदार्थात्मक अवस्थाओं से सदा अलग रहनेवाला चिन्मात्र तत्त्व है।

---

१. 'नवपदार्थरूपेण वर्तनान्नवार्थः।' पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका, गाथा ७१-७२

२. 'बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नव-तत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते।' समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १३

३. 'यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतोविशदज्योतिर्ज्ञायक एकोभावः स संसारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्यपाप-निर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात् प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत।' वही/गाथा, ६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से अवलोकन करने पर आत्मा का अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त रूप भी दृष्टिगोचर होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।[१]

अर्थात् जिस दृष्टि से देखने पर आत्मा अबद्धस्पृष्ट (कर्मों से अबद्ध) अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त दिखाई देता है वह दृष्टि शुद्धनय है।

इसकी व्याख्या आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार की है : जब आत्मा को अनादि कर्मबद्ध पर्याय की ओर से देखते हैं तब उसकी कर्मबद्धता यथार्थ प्रतीत होती है, किन्तु जब उसके उस चैतन्यस्वभाव पर ध्यान देते हैं जो पुद्गल के जड़स्वभाव से सदा अछूता रहता है तब कर्मबद्धता असत्य सिद्ध होती है।[२]

जिस समय आत्मा को देव, मनुष्य, नारक आदि पर्यायों के पक्ष से अनुभव करते हैं उस समय आत्मा के विभिन्न रूप सत्य ठहरते हैं, किन्तु जब उन पर्यायों में व्याप्त एक चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि डालते हैं तब विभिन्न रूप मिथ्या सिद्ध होते हैं।[३]

जब गुणों की हीनाधिक अभिव्यक्तिरूप वृद्धिहानिपर्याय की दिशा से आत्मा का अवलोकन किया जाता है तब उसका अनियतत्व भूतार्थ प्रतीत होता है, परन्तु जब सदा व्यवस्थित (एक ही स्थिति में) रहने वाले चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर निरीक्षण करते हैं तब अभूतार्थ ठहरता है।[४]

जिस समय चैतन्यसामान्य के ज्ञानदर्शनादि विशेषों की ओर दृष्टि करके देखते हैं उस समय आत्मा का सविशेषत्व वास्तविक सिद्ध होता है, किन्तु जब ज्ञानदर्शनादि विशेषों में व्याप्त चैतन्य रूप मूलस्वभाव पर दृष्टि डाली जाती है तब सविशेषत्व अभूतार्थ प्रमाणित होता है।[५]

---

१. समयसार/गाथा, १४
२. "तथात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा, १४
३. "तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेक-मात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १४
४. "तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थिता-त्मास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।' वही/आत्मख्याति/गाथा, १४
५. "तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्त-विशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब आत्मा को कर्मनिमित्तक मोहरागात्मक पर्याय के द्वारा अनुभव करते हैं तब उसका मोहरागादि से संयुक्त होना वास्तविक सिद्ध होता है, परन्तु जब स्वतः-सिद्ध चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में रखकर विचार करते हैं तब वह असत्य ठहरता है।[१]

मूलस्वभावावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणों या विशेषस्वभावों में उसका शुद्ध चैतन्यरूप असाधारण स्वभाव ही समाया होता है, इसलिए वे सब चैतन्यस्वभावात्मक हैं। इसी कारण दर्शनज्ञानादि गुण आत्मा के असाधारण धर्म या नियतस्वलक्षण सिद्ध होते हैं।[२] इस प्रकार शुद्ध चैतन्यभाव ही आत्मा का मूल स्वभाव है। अतः मूलस्वभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्धचैतन्यरूप एकस्वभाववाला दिखाई देता है, दर्शनज्ञानादिरूप विशेषस्वभावात्मकता या अनेकस्वभावात्मकता असत्य ठहरती है। इसीलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने पूर्वोद्धृत गाथा में कहा है कि जिस दृष्टि में आत्मा अविशेष (दर्शनज्ञानादि विशेषों से रहित) अर्थात् शुद्धचैतन्यरूप एकस्वभावात्मक दिखाई देता है, वही निश्चयदृष्टि है।[३]

इस मूलस्वभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करके ही आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

"एकश्चितः चिन्मय एव भावो।"[४]

— चैतन्य (आत्मा) का तो एक चिन्मयस्वभाव ही है।

मौलिकभेदावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

भिन्न वस्तुओं में जो स्वभावभेद अथवा प्रदेशभेद (सत्ताभेद) होता है वह मौलिकभेद का लक्षण है। जहाँ स्वभावभेद है वहाँ प्रदेशभेद अवश्यम्भावी है, जहाँ प्रदेशभेद है वहाँ स्वभावभेद अनिवार्य है। इस मौलिक भेद का अवलम्बन करनेवाली निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने परद्रव्य और आत्मा में सभी प्रकार के सम्बन्धों का निषेध किया है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है —

---

१. "तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः स्वयंबोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १४

२. "चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव।" वही/गाथा, २९८-२९९

३. वही/गाथा, १४

४. वही/कलश, १८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।"[१]

"सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः सम्बन्धशून्यत्वात्।"[२]

समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र जी बतलाते हैं कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए उनकी एक सत्ता नहीं हो सकती अर्थात् दो वस्तुएँ मिलकर एक वस्तु नहीं बन सकतीं।[३] जिनका स्वभाव अलग-अलग होता है उनका अस्तित्व भी अलग-अलग होता है अर्थात् वे अलग-अलग वस्तुएँ होती हैं : "स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति।"[४] कोई वस्तु स्वतन्त्र वस्तु है, इसका निश्चय तभी होता है जब उसमें अपने स्वरूप की सत्ता तथा अन्य के स्वरूप की असत्ता (अभाव) सिद्ध हो : स्वरूप-पररूपसत्ताऽसत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्।"[५]

शरीर और आत्मा में एकत्व का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने अधोलिखित गाथा में शरीर और आत्मा के एकत्व का निषेध किया है —

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।।[६]

अर्थात् व्यवहारनय (संश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि) के अनुसार कहा जाता है कि जीव और देह एक हैं, किन्तु निश्चयनय (मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि) से देखा जाय तो जीव और देह कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं : जैसे गलाकर मिश्रित किये गए सोने और चाँदी के पिण्ड में एक पदार्थ का व्यवहार होता है वैसे ही आत्मा और शरीर एक क्षेत्र में रहते हैं, इसलिए व्यवहारमात्र से उन्हें एक कहा जाता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय से देखने पर अर्थात् स्वभावगत भिन्नता पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सोना पीतवर्ण है और चाँदी श्वेतवर्ण। इस प्रकार दोनों के स्वभावों में अत्यन्त भिन्नता है, अतः उनका एक पदार्थ होना सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा और शरीर के स्वभावगतभेद पर दृष्टिपात करने

१. समयसार/कलश, २००
२. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, ३/४
३. "न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३
४. वही/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३
५. वही/आत्मख्याति/गाथा, २०१-२०२
६. वही/गाथा, २७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से प्रतीत होता है कि आत्मा चेतनस्वभाव है और शरीर जड़स्वभाव। अत: दोनों के स्वभावों में अत्यन्त भेद होने से उनका एकवस्तुत्व घटित नहीं होता। इसलिए उनमें भिन्नत्व ही है।[1]

आत्मा और कर्म में बद्धत्व या संश्लेष का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुगमन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के कर्मबद्ध या कर्मसंश्लिष्ट होने का भी निषेध किया है —

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ।।[2]

अमृतचन्द्र सूरि ने इस गाथा के भाव को निम्नलिखित शब्दों में समझाया है, "जीव और पुद्‍गलकर्म की संयुक्त बन्धपर्याय पर दृष्टि डालने से वे अभिन्न दिखाई देते हैं। इसलिए व्यवहारनय (संश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि) का अनुसरण करते हुए कहा जाता है कि जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट हैं। किन्तु जब उनके भिन्नवस्तुत्व पर दृष्टिपात किया जाता है तब वे एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् दिखाई देते हैं। तब निश्चयनय (मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि) का अनुगमन करते हुए कहा जाता है कि जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट हैं।"[3]

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय के अवलम्बन द्वारा आत्मा के कर्मबद्ध होने का निषेध कर आत्मा की सत्ता में परद्रव्य की सत्ता के अभाव की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

जीव और पुद्‍गलकर्म के परस्परावगाहरूप संश्लेषसम्बन्ध को ही बन्ध कहते हैं।[4] अत: निश्चयनय से बद्धत्व का निषेध निश्चयनय से संश्लेषसम्बन्ध का

---

१. "इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयो: समावर्तितावस्थायां कनककलधौतयो-रेकस्कन्धव्यवहारवद् व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयत:। निश्चयतो ह्यात्मशरीरयो-रुपयोगानुपयोगस्वभावयो: कनककलधौतयो: पीतपाण्डुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यन्त-व्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्ते: नानात्वमेवेत्येवं किल नयविभाग:।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७

२. वही/गाथा, १४१

३. 'जीवपुद्‍गलकर्मणोरेकबन्धपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्ष:। जीवपुद्‍गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यन्तव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्ष:।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १४१

४. "एवं जीवपुद्‍गलयो: परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्ध: सिद्ध्येत्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा, ६९-७०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निषेध है। व्यवहारनय (संश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि) से संश्लेषसम्बन्ध को वास्तविक बतलाया गया है।[1]

पर के साथ स्वस्वामिसम्बन्ध का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने संसारी जीव में दिखाई देनेवाले शरीर के वर्णादि भावों तथा पुद्गलकर्मनिमित्तक रागादिभावों के साथ जीव के स्वस्वामिसम्बन्ध का निषेध किया है। आचार्य कुन्दकुन्द इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं : "यद्यपि अरहन्तदेव ने जीव में बन्धपर्याय से अवस्थित कर्म या नोकर्म (शरीर) के वर्ण को देखकर आधाराधेयसम्बन्ध के कारण 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा उपचार से प्रज्ञापित किया है, तथापि (मौलिकभेदावलम्बी) निश्चयनय से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जीव नित्य अमूर्त स्वभाववाला है एवं उपयोग गुण (चैतन्यस्वभाव) के कारण शेष समस्त द्रव्यों से भिन्न है, अतः उसके कोई वर्ण नहीं है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह तथा संस्थान आदि को भी निश्चयद्रष्टा ऋषि (उपचारावलम्बी) व्यवहारनय से जीव का कहते हैं, (मौलिकअभेदावलम्बी) निश्चयनय से नहीं।[2] निश्चयनय से इन्हें जीव का क्यों नहीं कहा जा सकता, इसका व्याख्यान कुन्दकुन्ददेव ने इस प्रकार किया है —

"वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभाग-स्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेश-

---

१. "ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसम्बन्धो भवतु ···।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ५७

२. (क) पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।।
समयसार/गाथा, ५८-६०

(ख) 'तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति।'
वही/आत्मख्याति/गाथा, ५८-६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ये सभी पुद्गल के परिणाम (पुद्गलकर्मनिमित्तक) हैं। अतः चैतन्यलक्षण से शून्य होने के कारण इनके साथ जीव का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है अर्थात् जीव तद्रूप (वर्णादिरूप) नहीं है। इसलिए इन्हें निश्चयनय से जीव का नहीं कहा जा सकता।"[१]

तादात्म्यसम्बन्ध के लक्षण को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं : "जो धर्म वस्तु की सभी अवस्थाओं में व्याप्त होता है, कोई भी अवस्था जिसकी व्याप्ति से रहित नहीं होती, उसके साथ वस्तु का तादात्म्यसम्बन्ध होता है। वर्णादिभाव जीव की संसारावस्था में व्याप्त होते हैं, किन्तु मोक्षावस्था उनकी व्याप्ति से शून्य होती है, इसलिए वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यसम्बन्ध किसी भी प्रकार नहीं है।"[२] आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य अमृतचन्द्र बतलाते हैं कि वर्णादिभावों के साथ जीव का वैसा ही एकक्षेत्रावगाह (संश्लेष) सम्बन्ध है जैसा दूध और पानी का होता है। जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है अर्थात् जैसे अग्नि उष्णतारूप ही होती है वैसा तादात्म्यसम्बन्ध वर्णादि के साथ जीव का नहीं है। क्योंकि जीव अपने चैतन्यरूप प्रतिविशिष्ट स्वभाव के कारण अन्य समस्त द्रव्यों से भिन्न है। इसलिए वर्णादिभाव जीव के नहीं हैं[३] अर्थात् वर्णादि भावों का

---

१. समयसार/गाथा, ५०-५५

२. "यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो, वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। संसारावस्थायां कथञ्चिद् वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथञ्चनापि स्यात्।"

वही/आत्मख्याति/गाथा, ६१

३. (क) एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।

वही/गाथा, ५७

(ख) "वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे सम्बन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वाद् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः जीवस्य सन्ति।"

वही/आत्मख्याति/गाथा, ५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम जीव नहीं है।[१]

रागादिभाव भी जीव की संसारावस्था में ही व्याप्त होते हैं, मोक्षावस्था उनकी व्याप्ति से रहित होती है। इसलिए उनके साथ भी जीव का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं होता। अतः रागादिभाव भी जीव के भाव नहीं हैं, अर्थात् जीव नहीं हैं।[२]

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जिन भावों का पूर्व में कथन किया गया है वे सिद्धान्तग्रन्थों में (उपचारावलम्बी) व्यवहार-नय से जीव के भाव कहे गये हैं, (मौलिकअभेदावलम्बी) निश्चयनय से नहीं।[३] इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, "व्यवहारनय पर्यायाश्रित है। इसलिए वह जीव की पुद्गलसंयोग से सिद्ध अनादि बन्धपर्याय के औपाधिक (नैमित्तिक) भावों का अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है। अतः वह अन्य के भावों को अन्य का बतलाता है। किन्तु निश्चयनय द्रव्य पर आश्रित होता है। फलस्वरूप वह केवल जीव के स्वाभाविक भाव के आश्रय से प्रवृत्त होता है, इसलिए अन्य के भाव को अन्य का भाव बतलाये जाने का निषेध करता है।"[४]

स्वभावभेद के कारण जिनकी सत्ता ही जीव से सदा पृथक् रहती है वे न तो जीव के स्व हो सकते हैं, न जीव उनका स्वामी। जिनेन्द्रदेव ने निश्चयनय से स्वगुणपर्यायों के साथ ही जीव का स्वस्वामिसम्बन्ध बतलाया है, क्योंकि स्वधर्मों में ही जीव का स्वभाव विद्यमान रहता है,[५] जिसके कारण उनकी सत्ता जीव की

---

१. 'ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः।' समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ६५-६६

२. (क) 'रागद्वेषमोह...गुणस्थानान्यपि...जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति तादात्म्यलक्षण-सम्बन्धाभावात्।' वही/आत्मख्याति/गाथा, ५८-६०

(ख) 'एवं रागद्वेषमोह...लब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतन-त्वात् पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातम्। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम्।' वही/आत्मख्याति/गाथा, ६८

३. ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।। वही/गाथा, ५६

४. 'इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्ध-बन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात् केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति, निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।'
वही/आत्मख्याति/गाथा, ५६

५. 'यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः, स तस्य स्वामीति।'
वही/आत्मख्याति/गाथा, २०७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्ता से अभिन्न होती है। यह बात आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नोद्धृत व्याख्यान में स्पष्ट की है —

"जिसे परद्रव्य और आत्मा के नियत स्वलक्षणों की भिन्नता का ज्ञान होता है वही ज्ञानी एक चिन्मात्रभाव को अपना समझता है, शेष समस्त भावों को पराया। ऐसा जानते हुए वह परभावों को 'ये मेरे हैं' यह कैसे कह सकता है ? पर और आत्मा में निश्चयनय (मौलिक भेद की दृष्टि) से स्वस्वामिसम्बन्ध नहीं है। इसलिये चिद्भाव ही सर्वथा ग्राह्य है, शेष सभी भाव त्याज्य हैं।[1]

परद्रव्य के साथ जीव के स्वस्वामिसम्बन्ध का निश्चयनय से अभाव प्रतिपादित करने के लिए कुन्दकुन्ददेव ने एक सुन्दर युक्ति दी है। वे कहते हैं : "ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो यह कहे कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ? ज्ञानी तो निश्चितरूप से निजात्मा को ही अपना परिग्रह (स्व) मानता है।[2] वह सोचता है कि यदि जड़ परद्रव्य मेरा परिग्रह हो तो उससे मेरे अभिन्न (तद्रूप) होने का प्रसंग आयेगा, जिससे मैं भी जड़ ठहरूँगा। किन्तु मैं तो ज्ञाता हूँ, इसलिए जड़ द्रव्य मेरा परिग्रह (स्व) नहीं है।[3] मेरी अपनी वस्तु तो एकमात्र ज्ञायकभाव है। वही मेरा स्व है, उसी का मैं स्वामी हूँ।"[4] जीव को अपने नियतस्वलक्षण के द्वारा यह निर्णय करना चाहिये कि मेरे भीतर जो यह चैतन्यभाव है वही निश्चयनय से मैं हूँ। इसके अतिरिक्त जितने भी भिन्न लक्षण वाले भाव मुझमें दिखाई देते हैं वे मुझसे भिन्न तत्त्व हैं, मैं नहीं हूँ।"[5] यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित काव्य में कही है —

---

१. "यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान् ममामी इति ब्रूयात् परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासम्भवात् ? अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धान्तः।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ३००

२. को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ।। समयसार/गाथा, २०७

३. मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ।। वही/गाथा २०८

४. "मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः अस्यैवाहं स्वामी।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा २०८

५. पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ।। समयसार/गाथा, २९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणाः
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।[१]

अर्थात् जिनके चित्त का चरित्र उदात्त है उन मोक्षार्थियों को यह सिद्धान्त गाँठ में बाँधकर रख लेना चाहिये कि मैं सदैव एक ही शुद्ध चिन्मय परम ज्योति हूँ। ये जो पृथक् लक्षणवाले अन्य अनेक भाव मुझमें झलकते हैं वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझसे भिन्न द्रव्य हैं।

परभाव से कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध का निषेध

द्रव्य का अपना परिणाम कर्म कहलाता है और उसका जन्मदाता द्रव्य उसका कर्त्ता, जैसा कि कहा गया है —

'यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।'[२]

तथा

'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः।'[३]

दूसरे शब्दों में, पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य का नाम कर्त्ता है और उत्तरपर्याय से युक्त उसी द्रव्य का नाम कर्म —

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ।।[४]

कर्त्ता-कर्म के यही नियत लक्षण हैं। अतः कर्त्ता-कर्मभाव एक ही वस्तु में होता है। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म चसदैकमिष्यते ।।[५]

अर्थात् व्यवहारनय से ही भिन्न वस्तुओं में कर्त्ताकर्मभाव माना जाता है। यदि निश्चयनय से विचार किया जाय तो सदा एक ही वस्तु कर्त्ता और कर्म होती है।

---

१. समयसार/कलश, १८५
२. वही/कलश, ५१
३. वही/कलश, २११
४. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा, २२२
५. समयसार/कलश, २१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे।'[1]

—वस्तु भेद होने पर (भिन्न वस्तुओं में) कर्त्ता-कर्मभाव सम्भव नहीं है।

इसलिए वस्तुभेदरूप मौलिक भेद का अवलम्बन करने वाली निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने जीव और पुद्गल में कर्त्ता-कर्मभाव का निषेध किया है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है —

जे पुग्गलदव्वाणं परिणांमा होंति णाण आवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।[2]

—पुद्गल द्रव्य के जो ज्ञानावरणादि परिणाम होते हैं उनका कर्त्ता आत्मा नहीं है, यह जो जानता है वह ज्ञानी है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।[3]

—जीव न घट का कर्त्ता है, न पट का, न अन्य द्रव्यों का। उसके योग और उपयोग इनके निमित्तकर्त्ता होते हैं। इन योग और उपयोग का ही जीव कदाचित् (अज्ञानावस्था में) कर्त्ता होता है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।
ण वि कुणइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णम्पि ।।[4]

—जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से पुद्गल द्रव्य कर्मरूप में परिणमित हो जाता है और पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागद्वेषमोहरूप में परिणमित होता है। किन्तु, न तो जीव से पुद्गलकर्मों की उत्पत्ति होती है, न पुद्गलकर्मों से जीव के रागद्वेषमोह-परिणामों की। पुद्गलद्रव्य से ही पुद्गलकर्म उत्पन्न होते हैं और मोहरागद्वेष की उत्पत्ति जीव से ही होती है। जीव और पुद्गल इन कार्यों में केवल एक-दूसरे के निमित्त बनते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं — जैसे मिट्टी से मिट्टी के स्वभाववाला कलश ही उत्पन्न हो सकता है, वैसे ही जीव से जीव

१. समयसार/कलश, २०१
२. वही/गाथा, १०१
३. वही/गाथा, १००
४. वही/गाथा, ८०-८१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के स्वभाववाले कार्य की ही उत्पत्ति सम्भव है। इसलिए जीव स्वपरिणाम का ही कर्त्ता है। किन्तु, जैसे मिट्टी से भिन्नस्वभाववाला वस्त्र उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही जीव से पुद्गल के स्वभाववाला कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे सिद्ध है कि जीव पुद्गल के भावों का कर्त्ता कदापि नहीं है। अतः यह स्थित होता है कि जीव का स्वपरिणामों के साथ ही कर्त्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव है।[१]

यतः एक ही वस्तु में कर्त्ता-कर्मभाव होता है अतः मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को आत्मभाव (स्वपरिणाम) का ही कर्त्ता और भोक्ता बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में —

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयति पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।[२]

—(कर्त्ताकर्मादि के नियत स्वलक्षण का अनुसरण करनेवाली) निश्चयदृष्टि से देखने पर यह निश्चय होता है कि आत्मा आत्मभाव का ही कर्त्ता है और आत्मभाव का ही भोक्ता।

परद्रव्य से भोक्ताभोग्यसम्बन्ध का निषेध

स्वभावभेद की अपेक्षा से ही केवलीभगवान् ने चेतन-अचेतन परद्रव्य के साथ जीव के भोक्ता-भोग्यसम्बन्ध का निषेध किया है। जीव चेतन है पुद्गल अचेतन। चेतन को अचेतन का स्पर्श नहीं हो सकता (उसमें व्याप्त नहीं हो सकता), तब भोग कैसे सम्भव है ? प्रदेशभेद के कारण एक जीव दूसरे जीव का भी स्पर्श नहीं कर सकता, इसलिए चेतन के द्वारा चेतन परद्रव्य का भी भोग सम्भव नहीं है। इस प्रकार मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि आत्मा को परद्रव्यभोक्ता के रूप में नहीं पाती।

स्वभाव के साथ ही जीव का तादात्म्य होता है और उसी का भोग सम्भव होता है, जैसा कि कहा गया है : "जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।"[३] अतः मुक्त जीव अपने स्वभावोत्थ अतीन्द्रिय सुख का भोग

---

१. "मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्त्ता कदाचित् स्यात्। मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात् पुद्गलभावानां तु कर्त्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः। ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ८०-८२.

२. वही/गाथा, ८३

३. वही/आत्मख्याति/गाथा ८०-८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है तथा संसारी जीव शुभाशुभ कर्म तथा इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयों के निमित्त से होनेवाले अपने सुख-दुःखरूप परिणामों का वेदन करता है। इसलिए जीव मौलिक-अभेदावलम्बी निश्चयनयरूप प्रमाणैकदेश से निजस्वभाव का ही भोक्ता है। आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित गाथा इसमें प्रमाण है —

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।[1]

आचार्य जयसेन का भी ऐसा ही कथन है —

"शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मोत्थवीतरागपरमानन्दरूप-सुखस्य तथैवाशुद्ध-निश्चयेनेन्द्रियजनित-सुखदुःखानां भोक्तृत्वाद् भोक्ता भवति।"[2]

—जीव शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मा से उत्पन्न वीतराग परमानन्दरूप सुख का तथा अशुद्धनिश्चयनय से इन्द्रियजनित सुख-दुःख का भोग करने से भोक्ता है।

यद्यपि परद्रव्य के साथ तादात्म्य स्थापित न होने से आत्मा निश्चयनय से उसका भोक्ता नहीं है, तथापि उसके निमित्त से आत्मा का भोक्तास्वभाव (सुखदुःख-वेदन स्वभाव) परिणमित होता है तथा आत्मा के भोक्तास्वभाव के निमित्त से परद्रव्य का भोग्यस्वभाव (सुखदुःखनिमित्तस्वभाव) परिणमित होता है। अतः इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण उपचारावलम्बी व्यवहारनय से जीव को परद्रव्य का भोक्ता तथा परद्रव्य को जीव का भोग्य कहा जाता है।[3]

पर से ग्रहण-त्यागसम्बन्ध का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का आश्रय लेकर जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को परद्रव्य के ग्रहण-त्याग में असमर्थ बतलाया है जिसका वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार किया है —

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ।।
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परदव्वं ।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ।।

---

१. समयसार/गाथा, ८३
२. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७
३. (क) "कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।" नियमसार/गाथा १८
(ख) "व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसम्पादितेष्टानिष्टविषयाणां भोक्तृत्वाद् भोक्ता।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, २७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ।।[१]

—आत्मा आहारक नहीं है, क्योंकि आहार पुद्‌गलमय होने से मूर्त है और आत्मा अमूर्त है। जो परद्रव्य है (जिसकी सत्ता आत्मा से पृथक् है) उसे ग्रहण करने या छोड़ने की शक्ति आत्मा में नहीं है, न स्वभाव से, न कर्मोदय के प्रभाव से। अत: समस्त परद्रव्यों से भिन्न होने के कारण आत्मा जीव या अजीव किसी भी परद्रव्य को न ग्रहण करता है, न त्यागता है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी उपर्युक्त निश्चयनय का अनुसरण करते हुए आत्मा को आहारादि परद्रव्य के आदान और विसर्जन से शून्य बतलाया है :

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।[२]

—यह रागादिमल से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्यों से भिन्न है, स्वयं में नियत है तथा पृथक् वस्तुत्व धारण करता है, इसलिए न तो परद्रव्य का ग्रहण करता है, न विसर्जन।

निश्चयनय से परद्रव्य का ग्रहण तब कहलायेगा जब आत्मा उससे तन्मय हो जाय (परद्रव्यरूप हो जाय), किन्तु भिन्न द्रव्य होने के कारण ऐसा होता नहीं है।[३] इसलिए मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि उसे परद्रव्य-ग्राहक के रूप में नहीं पाती। परद्रव्य ग्राहकत्व के अभाव में परद्रव्य-त्याजकत्व का भी अभाव हो जाता है।

तथापि जीव रागादि के वशीभूत होकर शरीर के साथ परद्रव्य का संश्लेष या संयोग होने के अनुकूल उपयोग (इच्छा) और तज्जन्य योग (शारीरिक व्यापार को प्रेरित करने वाली आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप चेष्टा)[४] करता है, जिससे शरीर के साथ इच्छित पदार्थ का संयोग या संश्लेष होता है। इसे ही उपचार से परद्रव्य का ग्रहण कहते हैं।[५] इसी प्रकार संश्लिष्ट या संयुक्त पदार्थ के वियुक्त होने-योग्य

---

१. समयसार/गाथा, ४०५-४०७
२. समयसार/कलश २३५
३. "नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेण तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहार:।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ३४९-३५५
४. "योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयो: कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्त्तास्तु।" वही/आत्मख्याति/गाथा १००
५. "संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३४९-३५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग और उपयोग करता है, जिसके निमित्त से वियोग घटित होता है। इसे उपचार से परद्रव्य का त्याग कहते हैं। इस तरह उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि आत्मा को परद्रव्य के ग्राहक और त्याजक के रूप में पाती है। किन्तु मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से यह असत्य ठहरता है।

आत्मा का तादात्म्य स्वपरिणाम (स्वपर्याय) से होता है। उसी में वह प्रवृत्त (व्याप्त) होता है और उसी से निवृत्त होता है। अतः मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि में आत्मा स्वपरिणाम के ही ग्राहक और त्याजक के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इसके अनुसार आत्मा की जो परद्रव्येच्छारूप परिणाम में प्रवृत्ति और उससे निवृत्ति होती है उन्हें उपचार (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से परद्रव्य का ग्रहण और त्याग कहा जाता है।

परद्रव्य से निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध का निषेध

पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागद्वेषमोहरूप में परिणमित होता है और जीव के रागद्वेषमोहपरिणाम के निमित्त से पुद्गलद्रव्य कर्मरूप में परिणमित होता है। जब इस बाह्य सम्बन्ध पर ध्यान देते हैं अर्थात् परद्रव्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से अवलोकन करते हैं तब जीव और पुद्गल के निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की सत्यता का बोध होता है।[1] किन्तु, जब दोनों के भिन्न-भिन्न स्वभावों पर दृष्टि डालते हैं अर्थात् मौलिक-भेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखते हैं तब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता, सर्वथा असम्बन्ध ही दृष्टिगोचर होता है। जहाँ स्वभाव अलग-अलग दिखाई दे रहे हों, जहाँ प्रदेश अलग-अलग दिखाई दे रहे हों वहाँ कोई सम्बन्ध कैसे दिखाई दे सकता है ? इसीलिए अरहन्तदेव ने परद्रव्य और आत्मा में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को निश्चयदृष्टि से असत्य बतलाया है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र की अधोलिखित उक्तियों से स्पष्ट है : 'नास्तिसर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः'[2] तथा 'एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।'[3]

---

१. (क) "निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ८०-८२

(ख) "तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात् ।" तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/७

२. समयसार/कलश, २००

३. वही/कलश, २०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर के साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का निषेध

परद्रव्य और आत्मा भिन्न वस्तुएँ हैं। उनमें स्वभावभेद है, प्रदेशभेद है। इस मौलिक भेद पर ध्यान देने से अर्थात् मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर उनमें भिन्नता ही दिखाई देती है, कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। इसलिए ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध के भी दिखाई देने का प्रश्न नहीं उठता। जैसा कि कहा गया है — "नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः"[१] — परद्रव्य और आत्मा में कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। अथवा परद्रव्यों को जानते समय आत्मा परद्रव्यरूप से परिणमित (तन्मय) नहीं होता, स्वरूप में ही स्थित रहता है, इसलिए मौलिकरूप से भिन्न रहने के कारण मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से उनमें ज्ञेयज्ञायकरूप सम्बन्ध घटित नहीं होता। यह आशय आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है —

"ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मयं न भवति।"[२]

"ज्ञानमात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः।"[३]

— जैसे चूना दीवार को सफेद करते हुए भी दीवार से तन्मय नहीं होता (दीवार में परिवर्तित नहीं होता) इसलिए दीवार को निश्चयनय से सफेद नहीं करता, वैसे ही ज्ञान ज्ञेय को जानता है, तो भी उससे तन्मय नहीं होता (ज्ञेयरूप में परिणत नहीं होता), इसलिए उसे निश्चयनय से नहीं जानता।

— ज्ञानस्वरूप आत्मा घटपटादि ज्ञेय पदार्थों का निश्चयनय से ज्ञायक नहीं है, इसका अभिप्राय यह है कि वह उनसे तन्मय नहीं होता। तो क्या होता है ? ज्ञायक ज्ञायक ही रहता है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित रहता है।

इस प्रकार परद्रव्यों को जानते हुए भी आत्मा उनसे भिन्न बना रहता है, अतः मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर उनमें ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने केवली भगवान् के निश्चयनय से सर्वज्ञ होने का निषेध किया है।

किन्तु जैसे दर्पण में मुखादि की छाया पड़ती है, वैसे ही ज्ञान में परद्रव्यों

---

१. समयसार/कलश, २००
२. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३५६-३६५
३. वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के आकार प्रतिबिम्बित होते हैं,[१] जिन्हें ज्ञेयाकार कहते हैं।[२] ज्ञेयाकारमय ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्य या अभेद होता है, इसलिए उसके साथ आत्मा का साक्षात् ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध घटित होता है। अतः अपनी ज्ञेयाकारात्मक ज्ञानपर्याय को जानने से आत्मा को परद्रव्यों का ज्ञान होता है। इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च ? परिणामसम्बन्धत्वात् । यतः खलु आत्मद्रव्याणि च परिणामैः सह सम्बन्ध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रथ्यते।"[३]

इसका भाव यह है कि द्रव्यों के निमित्त से आत्मा का ज्ञानस्वभाव द्रव्यज्ञानरूप से परिणमित होता है तथा आत्मा के ज्ञानस्वभाव के निमित्त से द्रव्य अपने ज्ञेयस्वभावरूप से परिणमित होते हैं। इस परस्परावलम्बित निमित्तनैमित्तिक परिणाम के द्वारा परद्रव्य और आत्मा में ज्ञेय-ज्ञायक-सम्बन्ध घटित होता है।

इस प्रकार चूँकि परद्रव्यों के निमित्त से ज्ञान की ज्ञेयाकारात्मक अवस्था होती है और उस अवस्था के ज्ञान से आत्मा को परद्रव्यों का ज्ञान होता है, इसलिए निमित्तनैमित्तिक बाह्य सम्बन्ध के द्वारा केवली भगवान् परद्रव्यों को जानते हैं। अतः जब हम बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से देखते हैं, तभी केवली भगवान् के समस्त परद्रव्यों के ज्ञायक होने का सत्य दृष्टिगोचर होता है। इसी अभिप्राय से केवली भगवान् को व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहा गया है —

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।[४]

—केवली भगवान् व्यवहारनय से समस्त परद्रव्यों को जानते हैं (अर्थात् व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं)। निश्चयनय से आत्मा को ही जानते हैं (अर्थात् निश्चयनय से आत्मज्ञ ही हैं)।

यहाँ केवली भगवान् को व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहकर निश्चयनय से सर्वज्ञ होने का निषेध किया गया है। निश्चयनय से उन्हें आत्मज्ञ बतलाया गया है, क्योंकि

---

१. "नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति।"
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, १/२६

२. "नैमित्तकभूतज्ञेयाकारान् आत्मस्थान् अवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते।"
वही/तत्त्वदीपिका, १/२६

३. वही, १/३६

४. नियमसार/गाथा, १५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा का स्वपर्याय के साथ अभेद (तादात्म्य) होता है, अतः वह निजपर्याय को तन्मय होकर जानता है। फलस्वरूप अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से अवलोकन करने पर स्वयं के साथ ही आत्मा का ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध निश्चित होता है। यतः केवली भगवान् की स्वकीय ज्ञानपर्याय सर्वज्ञेयाकारमय होती है, इसलिए आत्मज्ञता में सर्वज्ञता गर्भित है, किन्तु जब उनके लिए 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब वह व्यवहारनय से ही उपपन्न होता है।

पर से श्रद्धेय-श्रद्धानकारकसम्बन्ध का निषेध

जीवादिपरद्रव्य के निमित्त से आत्मा का श्रद्धानस्वभाव जीवादिश्रद्धानरूप से परिणमित होता है, किन्तु आत्मा जीवादि परद्रव्यरूप से परिणमित (तन्मय) नहीं होता, इसलिए परद्रव्य से भिन्न रहने के कारण मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से आत्मा और परद्रव्य में श्रद्धेय-श्रद्धानकारक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।[1] जीवादि परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने श्रद्धानपरिणाम से ही आत्मा तन्मय होता है, अतः मौलिक-अभेदावलम्बी निश्चयनय दर्शाता है कि आत्मा स्वयं का ही श्रद्धानकारक है और स्वयं ही श्रद्धेय। तथापि जीवादिपरद्रव्य और आत्मा के जीवादिश्रद्धानरूप परिणाम में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता है, उसके कारण उपचारावलम्बी व्यवहारनय से जीवादिपरद्रव्य को 'श्रद्धेय' शब्द से तथा आत्मा को 'जीवादि-श्रद्धानकारक' शब्द से अभिहित किया जाता है।[2]

पर से साध्यसाधकसम्बन्ध का निषेध

यतः आत्मा भिन्न द्रव्य के रूप में परिणमित (तन्मय) नहीं हो सकता अथवा भिन्नद्रव्य से उसका प्रदेशात्मक अभेद नहीं हो सकता, उनमें दूरी ही बनी रहती है, इसलिए मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से परीक्षण करने पर परद्रव्य के साथ आत्मा का मोक्षविषयक साध्यसाधकभाव उपपन्न नहीं होता। अतः जिनेन्द्रदेव ने उक्त निश्चयनय का आश्रय लेकर परद्रव्य के साथ जीव के साध्य-साधक सम्बन्ध का अभाव प्रतिपादित किया है।

आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमित होकर सिद्धावस्था प्राप्त करता है। सम्यग्यदर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमन साधकभाव है तथा सिद्धत्वरूप परिणमन साध्यभाव। आत्मा इन दोनों पर्यायों से तन्मय होता है, इसलिए मौलिक अभेद पर आश्रित निश्चयनय से देखने पर वह स्वयं ही साध्य और स्वयं ही साधक

---

१. "तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धान-कारकं न भवति, तन्मयं न भवतीत्यर्थः।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३५६-३६५

२. "जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्दधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति।" वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध होता है। इस तथ्य की मीमांसा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है, तो भी उसमें उपायभाव और उपेयभाव विद्यमान हैं, क्योंकि वह एक होते हुए भी साधक और सिद्ध उभयरूप में परिणमित होता है। इनमें जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय। आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र के वशीभूत हो स्वरूप से च्युत होकर संसरण करता है। वह जब व्यवहार-सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र को सुनिश्चलरूप से ग्रहण करता है तब उसके पाकप्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आरूढ़ होता है और अन्तर्मग्न (स्वात्माश्रित) निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की विशेषता से साधक-रूप में परिणमित होता है। तथा जब स्वात्माश्रित रत्नत्रय परमप्रकर्ष पर पहुँचता है तब समस्त कर्मों का क्षय कर निर्मल परमात्मस्वभाव की प्राप्ति द्वारा स्वयं सिद्धरूप में परिणमित होता है। इस प्रकार एक ही ज्ञान उपाय और उपेय भावों को साधता है।"

उक्त आशय को व्यक्त करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के शब्द इस प्रकार हैं —

"आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव। तस्यैकस्यापि स्वयंसाधकसिद्धोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः। यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानाचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरम्परया क्रमेण स्वरूप-मारोप्यमाणस्यान्तर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परम-प्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमल-स्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति।"[1]

आचार्यद्वय अमृतचन्द्र एवं जयसेन ने मौलिकअभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का आश्रय लेकर स्वयं के साथ ही आत्मा के मोक्षविषयक साध्य-साधक भाव को अभेदषट्कारक के रूप में इस प्रकार प्रतिपादित किया है —

"आत्मा स्वतन्त्ररूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप में परिणमन करता है, अतः स्वयं कर्त्ता होता है। स्वयं सिद्धपर्यायरूप परिणाम को प्राप्त होता है, अतः स्वयं कर्म बनता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से साधक बनकर सिद्धपर्याय को साधता है, इसलिए स्वयं करण का रूप धारण करता है। उपलब्ध सिद्धपर्याय स्वयं को प्रदान कर स्वयं को सन्तुष्ट करता है, इस तरह स्वयं ही सम्प्रदान में परिणत

१. समयसार/स्याद्वादाधिकार/पृ० ५३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है। पूर्वप्रवृत्त मत्यादिज्ञानविकल्पों का अपगम होने पर सहजज्ञानस्वभाव के रूप में ध्रुव रहता है, अतः स्वयं अपादानभाव को प्राप्त होता है। अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का स्वयं आधार होने से स्वयं अधिकरण है।"[१]

आचार्य अमृतचन्द्र परद्रव्य के साथ आत्मा के षट्कारकात्मक साध्य-साधक सम्बन्ध का निषेध करते हुए लिखते हैं —

"स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्न-घातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयम्भूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति।"[२]

— स्वयं ही षट्कारकरूप से परिणत होने के कारण अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा द्रव्यकर्म और भावकर्म इन दो प्रकार के घाती कर्मों का विनाशकर स्वयमेव आविर्भूत होने से आत्मा स्वयम्भू कहलाता है। अतः निश्चयनय से परद्रव्य के साथ आत्मा का कारकात्मक सम्बन्ध नहीं है।

पर के साथ आधाराधेयसम्बन्ध का निषेध

मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए अरहन्तदेव ने आत्मा और परद्रव्य में आधाराधेय सम्बन्ध का भी अभाव बतलाया है। इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेन एकसत्तानुपपत्तेः। तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव। ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेय सम्बन्धोऽवतिष्ठते।"[३]

—एक वस्तु में दूसरी वस्तु की सत्ता नहीं है, क्योंकि दोनों के प्रदेश परस्पर भिन्न हैं, इसलिए उनकी एक सत्ता की उपपत्ति नहीं होती। एकसत्तात्मक न होने से उनमें आधाराधेयसम्बन्ध भी नहीं है। वस्तु स्वरूप में ही स्थित होती है, अतः स्वरूप के ही साथ उसका आधाराधेय सम्बन्ध घटित होता है।

पुद्गलकर्मनिमित्तक रागादिभावों के साथ आत्मा के उक्त सम्बन्ध का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं —

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहे कोहो चेव ही उवओगे णत्थि खलु कोहो।।

१. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति १/१६
२. वही/तत्त्वदीपिका १/१६
३. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।।[1]

— चैतन्यपरिणामभूत दर्शनज्ञानरूप उपयोग, उपयोग में ही स्थित है, क्रोधादि भावों में नहीं, और क्रोध की सत्ता क्रोध में ही है, उपयोग में नहीं। आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों में तथा शरीरादि नोकर्मों में भी उपयोग स्थित नहीं है और उपयोग में इन कर्म-नोकर्मों का अस्तित्व नहीं है। कारण यह है कि इनके स्वरूप अत्यन्त विपरीत हैं, अतः इनमें परमार्थतः आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है।[2]

आत्मा का स्वरूप के साथ तादात्म्य होता है, इसलिए मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर स्वरूप आधेय के रूप में और आत्मा उसके आधार के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

तथापि बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से प्राप्त ज्ञान के अनुसार परद्रव्य के साथ आत्मा का आधाराधेय सम्बन्ध होता है। इसका निरूपण अगले अध्याय में किया जायेगा।

इस प्रकार मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) से अवलोकन करने पर निश्चित होता है कि परद्रव्य से आत्मा किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं है, न स्वस्वामिभावरूप से, न कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण, इन षट्कारकों के रूप में। निश्चयदृष्टि से वह परद्रव्यों से सर्वथा पृथक् दिखाई देता है।

मौलिक-अभेदावलम्बिनी दृष्टि से आत्मस्वरूप का निर्णय

वस्तु और उसके गुणपर्यायरूप धर्मों में प्रदेश (सत्ता) की अपेक्षा अभेद है, किन्तु संज्ञा (नाम), संख्या, लक्षण और प्रयोजन की दृष्टि से भिन्नता (अन्यत्व) है। जैसे जीव और उसके दर्शनज्ञानादि गुणों के प्रदेश पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वे (जीव और दर्शनज्ञानादि गुण) एक ही वस्तु हैं, तथापि उनमें संज्ञादि की अपेक्षा भिन्नता है। यथा, जीवद्रव्य की संज्ञा 'जीव' है और ज्ञानगुण की संज्ञा 'ज्ञान'। यह संज्ञा की दृष्टि से भेद है। जो चतुर्विध प्राणों से जीता है, जियेगा और और जीता था, वह जीव है तथा जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है वह ज्ञान है। यह लक्षण की अपेक्षा अन्यत्व है। अविनश्वर रहते हुए बन्धमोक्षादि-पर्यायरूप से परिणमित होना जीवद्रव्य का प्रयोजन है और पदार्थों को जानना ज्ञानगुण का

---

१. समयसार/गाथा १८१-१८२
२. "न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा सन्ति परस्परमत्यन्तं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसम्बन्ध-शून्यत्वात् ।" वही/आत्मख्याति/गाथा १८१-१८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयोजन है। यह प्रयोजनगत भेद है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों में एक ही जीवद्रव्य व्याप्त होता है, किन्तु एक जीवद्रव्य में, दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुण अन्तर्मग्न होते हैं। यह संख्या की दृष्टि से भेद है।[१]

यह संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन का भेद बाह्य भेद है। मूलत: वस्तु और उसके धर्मों में अभेद है, क्योंकि उनके स्वभाव, प्रदेश या सत्ता अभिन्न होती है। स्वभावगत अभेद, प्रदेशगत अभेद, सत्तागत अभेद अथवा वस्तुरूप अभेद ये सब मौलिक अभेद के नामान्तर हैं।

मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) का अनुसरण करते हुए अरहन्तदेव ने धर्म और धर्मी, गुण और गुणी, पर्याय और पर्यायी, कर्त्ता और कर्म आदि में भिन्नत्व का निषेध किया है और एकत्व दर्शाया है। अर्थात् धर्म और धर्मी आदि अलग-अलग वस्तु न होकर एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम हैं, यह उपदेश दिया है। दूसरे शब्दों में जीवादि द्रव्यों को एकत्वमय, अद्वैत या अखण्ड बतलाया है।

धर्म-धर्मी में भिन्नत्व का निषेध

आचार्य कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त निश्चयनय का अवलम्बनकर आत्मा से दर्शनज्ञानचारित्रादि धर्मों के भिन्न होने का निषेध इन शब्दों में किया है —

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।[२]

— आत्मा में दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में भिन्नता दर्शानेवाला वर्णन व्यवहारनय से किया जाता है। निश्चयनय से न दर्शन आत्मा से स्वतन्त्र वस्तु है, न ज्ञान, न चारित्र, अपितु दर्शन भी आत्मा ही है, ज्ञान भी आत्मा ही है, चारित्र भी आत्मा ही है। अत: मात्र आत्मा (ज्ञायक) ही एक स्वतन्त्र वस्तु है।

---

१. "संज्ञादि : संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनानि। गुणगुणीति संज्ञा नाम। गुणा अनेके गुणीत्वेक इति सङ्ख्याभेद:। सद्द्रव्यलक्षणं, द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणा: इति लक्षणभेद:। द्रव्येण लोकमानं क्रियते, गुणेन द्रव्यं ज्ञायते इति प्रयोजनभेद:। यथा जीवद्रव्यस्य जीव इति संज्ञा। ज्ञानगुणस्य ज्ञानमिति संज्ञा। चतुर्भि: प्राणैर्जीवति, जीविष्यति अजीवद् इति जीवद्रव्यलक्षणम्। ज्ञायते पदार्थ अनेनेति ज्ञानमिति ज्ञानगुणलक्षणम्। जीवद्रव्यस्य बन्धमोक्षादिपर्यायैरविनश्वररूपेण परिणमनं प्रयोजनम्। ज्ञानगुणस्य पुन: पदार्थपरिच्छित्तिमात्रमेव प्रयोजनमिति।" आलापपद्धति/टिप्पण/सूत्र, ११२

२. समयसार/गाथा, ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही भाव उन्होंने निम्नलिखित गाथा में अभिव्यक्त किया है —

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।[1]

—साधु को सदा दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उपासना करनी चाहिए, किन्तु निश्चयनय से ये तीनों एक अखण्ड आत्मा ही हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है — "जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण देवदत्त के स्वभाव से भिन्न न होने के कारण देवदत्त ही हैं, अन्य वस्तु नहीं, वैसे ही आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण भी आत्मस्वभाव से पृथक् न होने के कारण आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं। इसलिए 'साधु को नित्य दर्शनज्ञानचारित्र की उपासना करनी चाहिए', इस व्यवहारनयात्मक कथन से यह निश्चयकथन प्रद्योतित होता है कि एकमात्र आत्मा ही उपास्य है।"[2]

अधोलिखित गाथा में भी यही तथ्य प्रकट किया गया है —

जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ।।[3]

—क्योंकि जीव ही सदा जानता है इसलिए वही ज्ञायक है, वही ज्ञानी है। इस तरह ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है।

इसकी व्याख्या में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं — "अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः।"[4] अर्थात् चेतन होने के कारण एकमात्र जीव ही ज्ञान है, इसलिए ज्ञान और जीव में अभेद है।

तात्पर्य यह कि जब हम मौलिक अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि समस्त जीवधर्म जीव ही प्रतीत होते हैं, किन्तु जब संज्ञादिबाह्य-भेद की दृष्टि से अवलोकन किया जाता है तब जीव और दर्शनज्ञानादि गुणों में परस्पर अन्यत्व दिखाई देता है।

इसी प्रकार स्वात्मा का सम्यग्दर्शन, स्वात्मा का सम्यग्ज्ञान तथा

---

१. समयसार/गाथा, १६

२. "यथा देवदत्तस्य कस्यचिद् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद् देवदत्त एव न वस्त्वन्तरं तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमाद् आत्मैव न वस्त्वन्तरं तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते।" वही/आत्मख्याति/गाथा, १६

३. वही/गाथा, ४०३

४. वही/आत्मख्याति/गाथा, ३९०-४०४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वात्मलीनतारूप सम्यग्चारित्र इन तीन के समूह का नाम ही ऐकाग्र्य या शुद्धोपयोग है। अतः मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से अथवा अभेदप्रधान निश्चयनय से देखने पर अकेला ऐकाग्र्य या शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है, यह निर्णय होता है। तथा संज्ञादि-भेदप्रधान व्यवहारनय से निरीक्षण करने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन का समूह मोक्षमार्ग है, इस निर्णय पर पहुँचते हैं।[१]

मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) से अवलोकन करने पर यह भी निश्चय होता है कि आत्मा के स्वस्वामी, कर्त्ताकर्म, भोक्ताभोग्य, ग्रहणत्याग, ज्ञेयज्ञायक, श्रद्धेय-श्रद्धानकारक, साध्यसाधक, आधाराधेय आदि सम्बन्ध निजस्वभाव के ही साथ होते हैं। इनका स्पष्टीकरण पूर्व में प्रसंगानुसार किया जा चुका है।

नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि से वस्तुस्वरूप का निर्णय

ज्ञाता की जो दृष्टि नियतस्वलक्षण के आधार पर वास्तविक वस्तु का निर्णय करती है वह नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि है तथा जो नियतस्वलक्षण के बिना संयोगादि सम्बन्ध के आधार पर प्रयोजनवश अन्य वस्तु को अन्य वस्तु का नाम देती है तथा अन्य के द्वारा इस प्रकार नाम दिये जाने की वास्तविकता को समझते हुए उसके प्रयोजन का निर्णय करती है, वह उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि है, क्योंकि संयोगादि सम्बन्ध के आधार पर प्रयोजनवश अन्य के लिए अन्य के नाम का प्रयोग करना उपचार कहलाता है।[२]

आगम में नियतस्वलक्षण के आधार पर वास्तविक जीवादि तत्त्वों को भी जीवादि के नाम से वर्णित किया गया है तथा नियतस्वलक्षण के अभाव में जो जीवादि नहीं हैं उन्हें भी उपचार से जीवादि संज्ञाएँ दी गयी हैं। नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से यह निर्णय होता है कि इनमें वास्तविक जीवादि कौन हैं ?

---

१. (क) "तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात् पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-द्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थः।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/४२

(ख) "तथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति। स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव।" वही ३/६६

२. (क) "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्रसमारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः।" आलापपद्धति/सूत्र, २०७-२०८

(ख) "मञ्चाः क्रोशन्ति इति तात्स्थ्यात् तच्छब्दोपचारः।"

श्लोकवार्तिक, २/१/६/५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चैतन्यभाव की 'जीव' संज्ञा

जिनेन्द्रदेव ने जीव और शरीर तथा जीव और रागादि में कथंचित् अभेद दर्शाने के लिए (ताकि शरीरघात से जीवघातरूप हिंसा तथा पर्याय की अपेक्षा आत्मा अशुद्ध सिद्ध हो सके) उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का आश्रय लेकर जीवसंयुक्त शरीर एवं रागादि भावों को जीव शब्द से वर्णित किया है। किन्तु कोई उन्हें वास्तविक जीव न समझ ले, इस सम्भावना का निराकरण करने हेतु नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण कर शुद्ध चैतन्यरूप वास्तविक जीव को जीव शब्द से अभिहित किया है और यह स्पष्ट किया है कि जो शरीर और रागादि को जीव कहा गया है वह उपचार (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से कहा गया है, नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से नहीं। इससे शरीर और रागादि के वास्तविक जीव होने का निषेध हो जाता है और उपचार का अर्थ समझनेवाले शिष्य शरीर और रागादि को जीव संज्ञा दिये जाने का अभिप्राय समझ लेते हैं तथा उन्हें वास्तविक जीव मानने की भूल नहीं करते।

जिनेन्द्रदेव के उपदेश के आधार पर नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से परमार्थ (वास्तविक) आत्मा का निश्चय कराते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ।।[१]

— नियतस्वलक्षण का अवलम्बन करने वाली प्रज्ञा से पहचानना चाहिए कि मेरे भीतर जो चैतन्यभाव है वही मैं हूँ,[२] अन्य लक्षणवाले शेष भाव मुझसे भिन्न हैं।

इसी उद्देश्य से आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं कि एकमात्र चैतन्यभाव ही आत्मा है, ऐसा निश्चय करना चाहिए — "चिन्मात्र एव आत्मा निश्चेतव्यः।"[३]

चैतन्यभाव में ही वास्तविक आत्मा का निश्चय कराने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि जिनेन्द्रदेव ने जीवसंयुक्त शरीर को जीवसंज्ञा दी है, किन्तु वह उपचारावलम्बी व्यवहारनय से दी है (नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से नहीं) —

---

१. समयसार/गाथा, २९७
२. "यो हि नियतस्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञयाप्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहम्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा, २९७
३. वही/आत्मख्याति/गाथा, २९४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।[१]

—सूत्र (आगम) में जो पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रियादि शरीरों को 'जीव' संज्ञा दी गई है वह व्यवहारनय (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से दी गयी है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि शरीर को प्रयोजनवश उपचार से जीव कहा गया है, वास्तव में जीव नहीं है। निष्कर्षत: एकमात्र चैतन्यभाव ही वास्तविक जीव सिद्ध होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यह भी स्पष्ट किया है कि सूत्र में उपचारावलम्बी व्यवहारनय का अनुसरण करते हुए रागादिभावों को भी प्रयोजनवश 'जीव' शब्द से अभिहित किया गया है —

एवमेव च ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।।[२]

—(जैसे लोक में राजा की सेना के लिए राजा शब्द का व्यवहार किया जाता है)[३] वैसे ही सूत्र में अध्यवसानादि (रागादि) भावों के लिए जीव शब्द का व्यवहार (उपचार) किया गया है।

इससे यह तथ्य सामने आ जाता है कि रागादिभावों को प्रयोजनवश उपचार से जीव कहा गया है, वे यथार्थत: जीव नहीं हैं।

इस प्रकार नियतस्वलणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि एकमात्र चैतन्यभाव को परमार्थ आत्मा के रूप में प्रकट करती है और शरीरादि को जीव संज्ञा दिये जाने का रहस्य उद्घाटित कर उन्हें वास्तविक जीव मानने की भूल से बचाती है।

शुद्धोपयोग की 'मोक्षमार्ग' संज्ञा

स्वात्माश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप शुद्धोपयोग मोक्षमार्ग का नियतस्वलक्षण है, क्योंकि उसके होने पर नियम से मोक्ष होता है, न होने पर नहीं होता।[४]

१. समयसार/गाथा, ६७
२. वही/गाथा, ४८
३. राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदायस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।। वही/गाथा, ४७
४. (क) "निश्चयमोक्षमार्गेस्थितानां नियमेन मोक्षोभवति।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २७६-२७७
(ख) "आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्।"
वही/आत्मख्याति/गाथा २७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिए जिनेन्द्र भगवान् ने शुद्धोपयोगरूप वास्तविक मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा है। उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग (परद्रव्याश्रित-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) की साधना से आती है। इसलिए यद्यपि वह मोक्षमार्ग का नियतस्वलक्षण नहीं है, तथापि साध्यसाधकसम्बन्ध के कारण उसकी उपादेयता दर्शाने हेतु भगवान् ने उसे भी उपचार से मोक्षमार्ग नाम दिया है। इससे कोई शिष्य शुभोपयोग को वास्तविक मोक्षमार्ग समझने की भूल कर सकता है। अत: इस सम्भावना को टालने के लिए भगवान् ने नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि का अनुसरण करते हुए शुद्धोपयोग अथवा आत्माश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की समष्टि को 'निश्चय' विशेषण के प्रयोग द्वारा वास्तविक मोक्षमार्ग निरूपित किया है, जिसे आचार्यों ने अपने शब्दों में इस प्रकार दर्शाया है —

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ।।[१]

—जो आत्मा निज शुद्धस्वरूप के सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान सहित उसी में निश्चलरूप से स्थित होता है, वह न तो किसी परभाव से ग्रस्त होता है, न स्वभाव को छोड़ता है। इसलिए वही निश्चयनय से मोक्षमार्ग है।

"निश्चयरत्नत्रयात्मक: शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य:।"[२]

—मोक्षार्थी पुरुष को शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

"परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदन्ति।"[३]

—निज परम आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग् अनुभूति के रूप में जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र हैं उन्हीं के समूह को जिनेन्द्रदेव ने मोक्षमार्ग कहा है।

इसके ही वास्तविक मोक्षमार्ग होने की पुष्टि के लिए आचार्यों ने यह स्पष्ट किया है कि अरहन्तदेव ने जो जीवादिपरद्रव्याश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप शुभोपयोग को मोक्षमार्ग संज्ञा दी है वह उपचारावलम्बी व्यवहारनय से दी है। यथा —

---

१. पञ्चास्तिकाय/गाथा, १६१
२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ४१२
३. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ४१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।।[1]

—जीवादि पदार्थों का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, ग्यारह अंगों एवं चौदह पूर्वों का ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान तथा बारह प्रकार के तप एवं तेरह प्रकार के चारित्र में प्रवृत्तिरूप सम्यक्चारित्र, इनके सम्मिलित रूप की मोक्षमार्ग संज्ञा व्यवहारनय से है।

इससे यह तथ्य दृष्टि में आ जाता है कि परद्रव्याश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप शुभोपयोग को प्रयोजनवश उपचार से मोक्षमार्ग नाम दिया गया है, परमार्थतः मोक्षमार्ग नहीं है। इस तथ्य के दृष्टि में आने से निश्चित हो जाता है कि शुद्धोपयोग ही वास्तविक मोक्षमार्ग है।

स्वात्मश्रद्धानादि की 'सम्यग्दर्शनादि' संज्ञाएँ

स्वात्मा का सम्यक्श्रद्धान निश्चयमोक्षमार्ग का अंग होने से सम्यग्दर्शन का नियतस्वलक्षण है। अतः नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण कर इस वास्तविक सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन कहा गया है[2] और इसका साधक होने से जीवादि के श्रद्धान को उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दर्शन संज्ञा दी गई है।[3] यहाँ निश्चय और व्यवहार विशेषणों से स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वात्मश्रद्धान ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है, जीवादिश्रद्धान वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं है, अपितु वास्तविक सम्यग्दर्शन का साधक होने से उसकी उपादेयता दर्शाने हेतु उसे उपचार से सम्यग्दर्शन नाम दिया गया है।

इसी न्याय से आत्मज्ञान की सम्यग्ज्ञान संज्ञा नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि पर आश्रित है[4] तथा जीवादि तत्त्वों के ज्ञान का सम्यग्ज्ञान नाम उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि पर।[5] ये दोनों दृष्टियाँ इस बात का निश्चय कराती हैं कि आत्मज्ञान ही वास्तविक सम्यग्ज्ञान है, जीवादि तत्त्वों का ज्ञान वास्तविक सम्यग्ज्ञान नहीं है, अपितु उसका साधक होने से उपचार से सम्यग्ज्ञान शब्द से अभिहित किया गया है।

इसी प्रकार निजशुद्धात्मभाव में निश्चल अवस्थान के लिए सम्यक्चारित्र

---

१. पञ्चास्तिकाय/गाथा, १६०
२. "दर्शनमात्मविनिश्चितिः।" पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, २१६
३. "जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं।" समयसार/गाथा, १५५
४. "आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।" पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, २१६
५. "जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।" समयसार/गाथा, १५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द का प्रयोग नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से किया गया है[१] तथा अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति को सम्यक्चारित्र संज्ञा उपचारावलम्बी व्यवहारनय से दी गयी है।[२] यहाँ भी इन दोनों दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निजशुद्धात्मस्वभाव में निश्चल अवस्थान वास्तविक सम्यक्चारित्र है और अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति को साध्य-साधक सम्बन्ध के कारण उपचार से सम्यक्चारित्र नाम दिया गया है।

रागद्वेषमोह की 'आस्रव-बन्ध' संज्ञाएँ

जीव के रागद्वेषमोह परिणाम द्रव्यास्रव (पुद्गल कर्मों के आस्रव) एवं द्रव्यबन्ध (आत्मा और पुद्गलकर्मों के संश्लेष सम्बन्ध) के निमित्त होते हैं। अतएव आस्रव एवं बन्ध के नियतलक्षण हैं।[३] इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से उन्हें जिनेन्द्रदेव के द्वारा आस्रव और बन्ध नाम दिये गये हैं, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित प्ररूपण से प्रकट होता है —

"मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः । ज्ञानावरणादिपुद्गल-कर्मास्रवणनिमित्तत्वात् किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद् रागद्वेषमोहा एवास्रावः।"[४]

—नवीन पुद्गलकर्मों का आस्रव पूर्वबद्ध मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्मों के उदय के निमित्त से होता है और उनका उदय आस्रव का निमित्त तभी बनता है जब उससे आत्मा रागद्वेषमोहपरिणाम करता है। इस प्रकार नवीन पुद्गलकर्मों के आस्रव के जो निमित्त हैं उनके निमित्त होने से रागद्वेषमोहपरिणाम ही मुख्यतः आस्रव हैं।

"द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद् रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः।"[५]

—द्रव्यबन्ध का साधकतम होने से रागपरिणाम ही निश्चयनय से बन्ध है।

चूँकि रागद्वेषमोह के निमित्त से आत्मा में द्रव्यकर्मों का आगमन और संश्लेष होता है, अतः जिनेन्द्रदेव ने कार्य में कारण का उपचारकर अर्थात् उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से द्रव्यकर्मों के आगमन और संश्लेष को भी आस्रव और बन्ध संज्ञाएँ

---

१. "रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रमिति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १५५

२. "असुहादो विणिवित्ती सुहे पउत्ती य जाण चारित्तं।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा, ४५

३. "बन्धस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणम्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २९४

४. वही/आत्मख्याति/गाथा, १६४-१६५

५. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/८७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दी हैं। यहाँ अलग-अलग पदार्थों के लिए किये गये एक ही नाम-प्रयोग पर नियत-स्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि तथा उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि रागद्वेषमोह परमार्थत: (यथार्थत:) आस्रव और बन्ध हैं तथा पुद्‌गलकर्मों के आगमन और संश्लेष के लिए दिये गये ये नाम अवास्तविक हैं।

रागद्वेषमोहाभाव की 'संवर' संज्ञा

ज्ञान जब शुभाशुभविकल्पों से रहित होकर शुद्धोपयोगमय हो जाता है तब रागद्वेषमोह की उत्पत्ति नहीं होती। इससे द्रव्यकर्मों का आस्रव रुकता है। फलस्वरूप द्रव्यकर्मों के आस्रवनिरोध का हेतु होने से रागद्वेषमोह का निरोध संवर का नियतस्वलक्षण है। अत: अरहन्त भगवान् ने नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से इसे संवर शब्द से अभिहित किया है, जिस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

"एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयद् अविचलितम् अवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किञ्चनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भ: प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भाद् रागद्वेषमोहाभावलक्षण: संवर: प्रभवति।"[१]

— इस प्रकार यह भेदविज्ञान जब रंचमात्र भी ज्ञान के विपरीत न होकर अर्थात् रागादिविकार से ग्रस्त न होकर स्वभाव में अविचलित रहता है तब शुद्धोपयोगमय होने से ज्ञान ज्ञान ही रहता है, किंचित् भी रागद्वेषमोह नहीं करता। इस प्रकार भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। उससे रागद्वेषमोहाभावरूप संवर फलित होता है।

रागद्वेषमोह का अभाव द्रव्यकर्मों के निरोध का हेतु है। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का अनुसरण करते हुए कार्य में कारण के उपचार द्वारा द्रव्यकर्मों के निरोध को 'संवर' संज्ञा दी है। यहाँ उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि रागद्वेषमोहाभाव की संवर संज्ञा वास्तविक है और द्रव्य- कर्मों के निरोध की अवास्तविक।

शुद्धोपयोग की 'निर्जरा' संज्ञा

बहिरंग और अन्तरंग तपों से संवर्धित शुद्धोपयोग से द्रव्यकर्मों का एकदेशक्षय होता है। अत: यह निर्जरा का नियत स्वलक्षण है।[२] फलस्वरूप नियत-

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, १८१-१८३

२. "कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितशुद्धोपयोगो जीवस्य ··· ··· निर्जरा।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, १०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण कर आगम में इसे निर्जरा नाम दिया गया है। और चूँकि शुद्धोपयोग के निमित्त से द्रव्यकर्मों का एकदेशक्षय होता है, इसलिए उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का अनुगमन करते हुए जिनेन्द्रदेव ने कार्य में कारण के उपचार द्वारा द्रव्यकर्मों के एकदेशक्षय को निर्जरा शब्द से अभिहित किया है।

यहाँ नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से विचार करने के बाद उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से विचार करने पर निश्चित होता है कि द्रव्यकर्मों के एकदेशक्षय की निर्जरा संज्ञा अवास्तविक है, अतः शुद्धोपयोग ही वास्तविक निर्जरा है। इससे द्रव्यकर्मों के एकदेशक्षय को वास्तविक निर्जरा समझ लेने की भूल नहीं हो पाती।

क्षायिकसम्यग्दर्शनादि की 'मोक्ष' संज्ञा

क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान तथा यथाख्यात नामक क्षायिक सम्यक्चारित्र, इन तीनों की अभिन्नता जिसमें होती है, उस आत्मपरिणाम से समस्त कर्मों का क्षय होता है, अतः वह मोक्ष का नियतस्वलक्षण है।[1] इसलिए नियत-स्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय के अनुसार सर्वज्ञ ने उसे मोक्ष संज्ञा दी है और क्योंकि वह सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों के क्षय का निमित्त है, फलस्वरूप उपचारावलम्बी व्यवहारनय का अनुगमन कर नैमित्तिक में निमित्त के नाम का उपचार किया है अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों के क्षय को मोक्ष नाम दिया है।[2] यहाँ भी जब उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार किया जाता है तब क्षायिकसम्यग्दर्शनादिमय आत्मपरिणाम ही वास्तविक मोक्ष सिद्ध होता है, सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों के क्षय की 'मोक्ष' संज्ञा अवास्तविक ठहरती है।

रागादि के अभाव की 'हिंसादि' संज्ञाएँ

रागादिभाव से ग्रस्त होकर किसी जीव का घात करने पर घातक को कर्मबन्ध होता है। रागादि के अभाव में पूर्ण यत्नाचार करते हुए जीवघात हो जाने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता।[3] इसलिए रागादिभाव के साथ ही कर्मबन्ध का अन्वय-व्यतिरेक होने से रागादि की उत्पत्ति अथवा प्रमत्तभाव हिंसा का नियतलक्षण है। यतः रागादि की उत्पत्ति हिंसा का नियतलक्षण है, अतः रागादि की अनुत्पत्ति अहिंसा

---

१. "निरवशेषकर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्षः।" भगवतीआराधना, टीका ३८/१३४

२. "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।" तत्त्वार्थसूत्र, १०/२

३. मरदु वा जियदु वा जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।। प्रवचनसार, ३/१७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का नियतलक्षण सिद्ध होता है। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अवलम्बनकर जिनेन्द्रदेव ने इन्हें क्रमशः 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्दों से अभिहित किया है। यह आचार्य अमृतचन्द्र के अधोलिखित कथन से ज्ञात होता है —

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।[१]

—रागादिभावों की उत्पत्ति न होना अहिंसा है और उत्पत्ति होना हिंसा, यह जिनागम का संक्षेप है।

रागादिभावों से ग्रस्त होना प्रमाद कहलाता है, इसलिए प्रमादयुक्त होने को हिंसा और प्रमादरहित होने को अहिंसा कहा गया है —

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत् ।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ।।[२]

—जीव स्वयं अहिंसा है और स्वयं हिंसा। ये दोनों पराधीन नहीं हैं। जो प्रमादहीन है वह अहिंसक है, जो प्रमादयुक्त है वह सदैव हिंसक है।

प्रमादहीन होने का लक्षण है जीवरक्षा के प्रयत्न में तत्पर होना। इसलिए जीवों का मरण हो या न हो, जो अयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह हिंसा करता है, जो यत्नपूर्वक आचरण करता है वह अहिंसामय होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु वधकरोत्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ।।[३]

—यत्नाचाररहित श्रमण छहों कायों के जीवों का वध करनेवाला कहा गया है। यदि वह यत्नपूर्वक प्रवृत्त होता है तो जैसे कमल जल से लिप्त नहीं होता वैसे वह हिंसा से लिप्त नहीं होता।

इस तरह रागादि की अनुत्पत्ति या प्रमाद का अभाव अथवा यत्नाचार ही अहिंसा का नियतलक्षण है। अतः नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि के आधार पर आगम में इसे अहिंसा शब्द से अभिहित किया गया है। किन्तु रागादि के वशीभूत होकर ही जीव परप्राणों के घात में प्रवृत्त होता है अथवा उनकी रक्षा का यत्न नहीं करता जिससे अशुभकाययोग द्वारा प्राणव्यपरोपण होने पर परजीव को पीड़ा होती

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, ४४
२. धवला/पुस्तक, १४/५, ६, ९३
३. प्रवचनसार, ३/१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। यह क्रूरपरिणाम से निष्पन्न अशुभकाययोग[1] अशुभास्रव का कारण होता है और अशुभ द्रव्यकर्मों का आस्रव तीव्रकषायवश बन्ध में परिणत हो जाता है। इसलिए बन्ध का हेतु होने से[2] प्रमत्तयोगजन्य परजीवघात को जिनेन्द्रदेव ने उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का अनुसरण करते हुए उपचार से हिंसा संज्ञा दी है।[3] इसीलिए जीवघात से निवृत्ति को उपचारत: अहिंसा शब्द से अभिहित किया है।

परपीड़ाकर अप्रशस्त वचन असत्यवचन कहलाते हैं। उनकी उत्पत्ति आत्मा के रागादिग्रस्त होने पर होती है।[4] और मुख से अप्रशस्त वचन निकलें या न निकलें रागादिग्रस्त होने मात्र से कर्मबन्ध होता है, अत: रागादिपरिणाम या प्रमत्तभाव असत्य का नियतलक्षण होने से नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि के अनुसार 'असत्य' शब्द से अभिहित किया गया है। और रागादिपरिणाम या प्रमत्तभाव का अभाव सत्य का नियतलक्षण है। अत: उपर्युक्त दृष्टि से इसे 'सत्य' नाम दिया गया है। असत्यवचन अशुभ वाग्योग है। वह अशुभास्रव का निमित्त है और अशुभास्रव बन्ध का। इसलिए परम्परया बन्ध का हेतु होने से सर्वज्ञ ने असत्यवचन को उपचार (उपचारावलम्बी व्यवहारनय) से असत्य नाम दिया है[5] और उसके अभाव को उपचार से 'सत्य' शब्द से अभिहित किया है।

चौर्यक्रिया में प्रवृत्ति लोभादिरूप रागपरिणति से होती है। इस दशा में चोरी की जाय या नहीं रागपरिणतिमात्र से कर्मबन्ध होता है। अत: लोभरूप रागपरिणति चौर्य का नियत लक्षण है। इस अपेक्षा से उसकी 'चौर्य' संज्ञा है। और लोभरूप रागपरिणति का अभाव अचौर्य का नियत लक्षण है। इस दृष्टि से उसका नाम अचौर्य है। अदत्तादान अर्थात् चोरी की क्रिया अशुभ काययोग है। वह अशुभास्रव का निमित्त है और अशुभास्रव बन्ध का । अत: परम्परया बन्धहेतु होने से अदत्तादान को आगम में उपचारत: 'चौर्य' शब्द से अभिहित किया गया है और उसके अभाव को उपचारत: 'अचौर्य' शब्द से।

कामभावरूप रागपरिणाम काम-क्रियाओं में प्रवृत्ति का हेतु है। इस प्रमत्तदशा

---

१. (क) "प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभ: काययोग:।"
(ख) "अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ:।" सर्वार्थसिद्धि ६/३
२. "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव:।" तत्त्वार्थसूत्र ८/१
३. "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" वही, ७/१३
४. यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदा: सन्ति चत्वार: ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९१
५. (क) "असदभिधानमनृतम्।" तत्त्वार्थसूत्र, ७/१४
(ख) "अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योग:।" वही, ६/३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में कामचेष्टा की जाय या नहीं, कर्मबन्ध अवश्यम्भावी है। इसलिए कामभावरूप रागपरिणाम अब्रह्म का नियतस्वलक्षण है और कामभाव का अभाव ब्रह्मचर्य का। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से कामभाव को 'अब्रह्म' की संज्ञा दी गई है तथा कामभाव के अभाव को ब्रह्मचर्य की। और चूँकि मन, वचन एवं काय से की जानेवाली मैथुनादि कामचेष्टा अशुभ मनोयोग, अशुभ वाग्योग और अशुभ काययोग होने से अशुभास्रव का निमित्त अतएव बन्ध का कारण है, इसलिए अरहन्तदेव ने उसके लिए उपचार से अब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है[१] और उसके अभाव को उपचार से 'ब्रह्म' नाम दिया है।

इसी प्रकार परद्रव्येच्छारूप रागपरिणति बाह्यपरिग्रह का निमित्त है। इस अवस्था में बाह्य पदार्थों का संग्रह किया जाय या नहीं इच्छामात्र से कर्मबन्ध होता है।[२] अत: इच्छा परिग्रह का नियतलक्षण है और इच्छा का अभाव अपरिग्रह का। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने इच्छा को 'परिग्रह'[३] शब्द से अभिहित किया है और इच्छा के अभाव को 'अपरिग्रह'[४] शब्द से। यत: परद्रव्येच्छारूप रागभाव से जीव परद्रव्य को ग्रहण करता है और परद्रव्यग्रहण मूर्च्छा (परद्रव्य के संरक्षण, संवर्धन और संस्करण की इच्छा) का निमित्त होता है[५] इसलिए अरहन्त भगवान् ने उसे उपचार से 'परिग्रह' संज्ञा दी है और परद्रव्य के त्याग को 'अपरिग्रह' संज्ञा।

इस प्रकार नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) के अनुसार आत्मा के रागादिपरिणाम की हिंसा,[६] असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह संज्ञाएँ हैं। इसके विपरीत उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि (व्यवहारनय) के अनुसार जीवघात (प्राणव्यपरोपण), असत्यवचन, अदत्तादान, मैथुन एवं बाह्यपरिग्रह को ये संज्ञाएँ दी गयी हैं।

---

१. "मैथुनमब्रह्म।" तत्त्वार्थसूत्र, ७/१६

२. "परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन बन्धो भवति।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/१९

३. "इच्छा परिग्रह:।" समयसार/आत्मख्याति, २११

४. "अपरिग्गहो अणिच्छो।" वही/आत्मख्याति, २११

५. (क) "तस्योभयप्रकारस्यापि परिग्रहस्य संरक्षणे, उपार्जने, संस्करणे, वर्द्धनादौ व्यापारो मनोऽभिलाष: मूर्च्छा प्रतिपाद्यते।" तत्त्वार्थवृत्ति, ७/१७

(ख) यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्ग: ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११३

६. "रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/१७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार एक ओर नियतस्वलक्षणावम्बी निश्चयनय से रागादि के अभाव को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम दिये गये हैं, दूसरी ओर, उपचारावलम्बी व्यवहारनय से जीवघातनिवृत्ति, असत्यवचननिवृत्ति, अदत्तादान-निवृत्ति, मैथुननिवृत्ति एवं बाह्यपरिग्रहनिवृत्ति को इन नामों से संकेतित किया गया है।

इन दोनों दृष्टियों के अभिप्राय को समझनेवाला व्यक्ति जब इन दृष्टियों से विचार करता है तब स्पष्ट हो जाता है कि रागादिपरिणाम की ही हिंसा आदि संज्ञाएँ वास्तविक हैं, जीवघातादि की अवास्तविक। जीवघातादि को प्रयोजनवश ये नाम दिये गये हैं। इसी प्रकार रागादि के अभाव की अहिंसादि संज्ञाएँ यथार्थ हैं, और जीवघातादि से निवृत्ति को दी गई ये संज्ञाएँ अयथार्थ। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से विचार करने पर मनुष्य अयथार्थ को यथार्थ समझने की भूल से बच जाता है।

शुभाशुभपरिणामनिवृत्ति की 'व्रत' संज्ञा

समस्त शुभाशुभ परिणामों से निवृत्ति अर्थात् स्वस्वरूप में निश्चलरूप से स्थित होना, जिसे परमसामायिक और निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं, व्रत का नियतस्वलक्षण है,[1] क्योंकि उससे शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। इसलिए नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि का आश्रय लेकर सर्वज्ञदेव ने इसे 'व्रत' संज्ञा दी है, जैसा कि श्री ब्रह्मदेव सूरि के निम्नलिखित वचन से विदित होता है —

"सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि।"[2]

— समस्त शुभाशुभ भावों से निवृत्ति निश्चयव्रत है।

अत: जब हम नियतस्वलक्षणावलिम्बनी निश्चयदृष्टि से व्रतों के स्वरूप का विचार करते हैं तब इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि शुभाशुभभावों से निवृत्ति ही वास्तविक (स्वलक्षणसम्मत) व्रत है तथा जीवघात, अप्रशस्तवचन, अदत्तादान, मैथुन तथा बाह्यपरिग्रह से विरति को उपचार से 'व्रत' संज्ञा दी गयी है, क्योंकि इनके अभ्यास से ही जीव निश्चयव्रत को ग्रहण करने में समर्थ होता है, इसलिए निश्चयव्रत के साथ इनका साध्यसाधक सम्बन्ध है।[3]

---

१. "तत: परं समस्तशुभाशुपरिणामनिवृत्तिरूपं स्वस्वरूपे निश्चलावस्थानं परमसामायिक-व्रतमारोहति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/७

२. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवसूरिटीका/गाथा, ५७

३. "निश्चयेन ''' ''' समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिव्रतम्। व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्।
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवसूरिटीका/गाथा, ३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः जब नियतस्वलक्षणावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर जीवघातादि से निवृत्ति में व्रत का लक्षण दिखाई नहीं देता तब निश्चय होता है कि इन्हें उपचार से व्रत कहा गया है, ये वास्तविक व्रत नहीं हैं। और तब हम उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि का आश्रय कर उपचार के निमित्त और प्रयोजन का अन्वेषण करते हैं, तब ज्ञात होता है कि उपचरित व्रतों और वास्तविक व्रतों में साध्य-साधकभाव है, इसलिए उपचरितव्रत कथंचित् उपादेय हैं।

शुद्धात्मस्वरूप में अवस्थान की 'समिति' आदि संज्ञाएँ

निज शुद्धात्मस्वरूप में निश्चलतापूर्वक स्थित होना समिति का नियत-स्वलक्षण है। इसलिए इसकी नियतस्वलक्षणावलम्बी निश्चयनय से समिति संज्ञा है। इसकी सिद्धि में सहायक होने से सम्यक् ईर्या (यत्नपूर्वकगमन), सम्यक् भाषा (हितमितप्रियवचन), सम्यक् एषणा (समभावपूर्वक निर्दोष आहार-ग्रहण), सम्यक् आदान-निक्षेपण (कमण्डलु आदि को यत्नपूर्वक उठाना-रखना) तथा सम्यक् व्युत्सर्ग (निर्बाधस्थान में मलमूत्र-विसर्जन) को जिनेन्द्रदेव ने उपचार से समिति संज्ञा प्रदान की है।[१]

निज शुद्धस्वरूप में निश्चलरूप से स्थित रहना गुप्ति का नियतस्वलक्षण है। अतः इसकी नियतस्वलक्षण की दृष्टि से 'गुप्ति' संज्ञा है। इसकी सिद्धि में सहायक होने से मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के निरोध को उपचार से त्रिगुप्ति नाम दिया गया है।[२]

स्वशुद्धात्मस्वभाव में परिणत होना धर्म का नियत स्वलक्षण है। अतः इसे नियत स्वलक्षण की अपेक्षा 'धर्म' शब्द से अभिहित किया गया है। इसमें साधक होने से अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को उपचार से धर्म कहा गया है।[३]

---

१. (क) "निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यग् इतो गतः परिणतः समितः।
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/४०

(ख) "व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गसंज्ञाः पञ्चसमितयः।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका, ३५

२. "निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयात् स्वस्यात्मनो गोपनं ··· गुप्तिः। व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः।"
वही, ३५

३. "निजशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, १/८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वशुद्धात्मा के चिन्तन (अनुभूति) में लीन होना[1] नियतस्वलक्षण की अपेक्षा अनुप्रेक्षा है। तत्साधक होने से शरीरादि के अनित्यत्वादि स्वभाव का जो बार-बार चिन्तन किया जाता है, उसे उपचार से अनुप्रेक्षा नाम दिया गया है।

निजशुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति से विचलित न होना नियतस्वलक्षण की दृष्टि से परीषहजय है। इसकी सिद्धि में सहायक होने से जो क्षुधादि की पीड़ा को समभाव से सहा जाता है, उसे उपचार से परीषहजय कहा गया है।

निर्विकार निश्चल चित्तवृत्ति[2] अथवा शुद्धोपयोग निश्चयरत्नत्रय का लक्षण है। तत्परिणत निजात्मा का स्वरूप स्वशुद्धात्मस्वरूप कहलाता है। उसमें चरण करने (स्थित रहने) से शुभाशुभ कर्मों का उन्मूलन होता है। अतः स्वशुद्धात्मस्वरूप में चरण नियतस्वलक्षण की अपेक्षा चारित्र है।[3] इसकी उपलब्धि में सहायक होने से अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति को उपचार से चारित्र संज्ञा दी गई है।[4]

स्वयं को अपने शुद्धस्वरूप में संयमित (स्थित) करना नियतस्वलक्षण की दृष्टि से संयम है। तत्साधक होने से षट्कायिक जीवों के वध तथा इन्द्रियविषयों के सेवन से निवृत्त होने को उपचार से संयम कहा गया है।[5]

अपने वीतरागज्ञानदर्शनसुखस्वभाव में तपना (स्थित होना) नियतस्वलक्षण की अपेक्षा तप है। उसमें साधक होने के कारण अनशनादि बाह्य तपों के लिए उपचार से तप संज्ञा का व्यवहार किया गया है।[6]

स्वशुद्धात्मा में शोभन अध्याय या अभ्यास (सम्यक् प्रवृत्ति) की नियतस्वलक्षण से स्वध्याय संज्ञा है। इसकी सिद्धि में सहायक होने से जिनेन्द्रप्रणीत

---

१. "समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीन-तच्चिन्तन-तन्मयत्वेन ···।'
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ३५

२. "निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य ···।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, १/७

३. "शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम्।"
वही/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ३५

४. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं ।। वही/गाथा, ४५

५. "सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात् पञ्चेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, १/१४

६. "समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणम्।"
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यश्रुत के अभ्यास (अध्ययन) को उपचार से स्वाध्याय नाम दिया गया है।[१]

निज शुद्धस्वरूप में चित्तवृत्ति के अविचलित रहने को नियतस्वलक्षण की अपेक्षा ध्यान कहा गया है।[२] इसमें साधक होने से पञ्चपरमेष्ठी आदि के स्वरूप-चिन्तन को उपचार से ध्यान संज्ञा दी गई है।[३]

शुद्धात्मपरिणति आदि की 'नि:शङ्का' आदि संज्ञाएँ

सप्त भयों से मुक्त होकर घोर उपसर्ग और परीषह की स्थिति में भी शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय में लीन रहने का जो गुण है उसकी नियतस्वलक्षण के अनुसार 'नि:शङ्का' संज्ञा है। जिनोपदेश में शंका का अभाव इसकी सिद्धि में सहायक है। अत: इस सहायक गुण को उपचार से 'नि:शंका' संज्ञा दी गई है।[४]

दृष्ट, श्रुत और अनुभूत इन्द्रियभोगों का त्यागकर निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक स्वात्मोत्थ सुख के आस्वादन में तृप्ति अनुभव करने का जो गुण है उसका नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'निष्कांक्षा' नाम है। इहलोक और परलोक के सुखों की आकांक्षा का त्याग इसकी प्राप्ति में सहायक है। इसलिए इस सहायक गुण को उपचार से 'निष्कांक्षा' नाम दिया गया है।[५]

समस्त रागद्वेषादि विकल्पों का परित्याग कर निर्मल आत्मानुभूतिरूप निज शुद्धात्मा में स्थित होने का गुण नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'निर्विचिकित्सा' शब्द से संकेतित होता है। मुनियों और श्रावकों की शारीरिक बीभत्सता को देखकर घृणा के भाव को मन में न आने देना इसकी सिद्धि में सहायक है। अत: इस साधक

---

१. "स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्याय:।"

बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ५३

२. "शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिर्हि ध्यानम्।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, १४६

३. "पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण पराश्रितधर्मध्यानबहिरङ्गसहकारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावनास्वरूपमात्माश्रितं धर्मध्यानं प्राप्य ··· भावमोक्षं प्राप्नोतीति।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १५०-१५१

४. "रागादिदोषा अज्ञानं वाऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति तत: कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यै: संशय: सन्देहो न कर्तव्य:। ··· इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम्। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनि:शङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणागुप्तिमरणव्याधिवेदनाकस्मिकाभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावेनैव नि:शङ्कगुणो ज्ञातव्य इति।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ४१

५. वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुण को उपचारत: 'निर्विचिकित्सा' शब्द से अभिहित किया जाता है।[१]

मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रणीत शास्त्रों को पढ़-सुनकर उनसे प्रभावित न होना अमूढ़दृष्टिगुण की उत्पत्ति का हेतु है। अत: इसे जिनेन्द्रदेव ने उपचार से अमूढ़दृष्टि-गुण नाम दिया है। इसके प्रसाद से अन्तस्तत्त्व (आत्मा) और बहिस्तत्त्व (शरीर) का निश्चय हो जाने पर समस्त परद्रव्यों में आत्मबुद्धि, उपादेयबुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव का त्यागकर त्रिगुप्ति द्वारा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मक निजात्मा में जो निश्चलरूप से स्थित होने का गुण है, उसका नियतस्वलक्षण की अपेक्षा अमूढ़दृष्टिगुण नाम है।[२]

भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग तो स्वभाव से शुद्ध है। उसका जब अज्ञानियों या अशक्त पुरुषों के दूषित आचरण से अपवाद होता है तब आगम के अनुसार यथाशक्ति धन की सहायता से अथवा धर्मोपदेश से जो दोष का निवारण किया जाता है उसे उपगूहन गुण का साधक होने से उपचार से उपगूहनगुण नाम दिया गया है। उसकी सहायता से निजनिर्दोषपरमात्मा के प्रच्छादक मिथ्यात्वरागादि दोषों का स्वात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप ध्यान से जो प्रच्छादन अर्थात् विनाश किया जाता है उसकी नियतस्वलक्षण की दृष्टि से उपगूहनगुण संज्ञा है।[३]

भेदाभेदरत्नत्रय के धारक चातुर्वर्ण संघ में जब कोई दर्शनचारित्रमोह के उदय से दर्शन, ज्ञान अथवा चारित्र को छोड़ना चाहता है तब आगम के अनुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश से, धन से अथवा अन्य किसी भी उपाय से उसे जो धर्म में स्थिर किया जाता है उसे स्थितीकरण में साधक होने से उपचार से स्थितीकरण संज्ञा दी गई है। उसकी सहायता से धर्म में दृढ़ता हो जाने पर मिथ्यात्वरागादि के अभाव से निजपरमात्मस्वभावजन्य सुखामृत के आस्वादन में चित्त का स्थिर होना नियतस्व-लक्षण की अपेक्षा स्थितीकरण है।[४]

बाह्य और आभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक चतुर्विध संघ से बछड़े से गाय के समान नि:स्वार्थ प्रेम करना वात्सल्य गुण की अभिव्यक्ति का निमित्त है। अत: इसे उपचार से वात्सल्य कहा गया है। इसकी सहायता से जब धर्म में दृढ़ता हो जाती है तब मिथ्यात्वरागादि समस्त शुभाशुभभावों में प्रीति का अभाव होने पर स्वशुद्धात्मानुभूतिजन्य परमानन्द के आस्वादन में जो प्रीति का आविर्भाव होता है उसकी नियतस्वलक्षण के अनुसार वात्सल्यगुण संज्ञा है।[५]

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ४१
२. वही
३. वही
४. वही
५. वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावक दानपूजा आदि के द्वारा तथा मुनि ज्ञान, तप आदि के द्वारा जो जैन शासन की प्रभावना करता है उससे प्रभावना गुण प्रकट होता है, अतः इसे उपचार से प्रभावनागुण नाम दिया गया है। इसके बल से मिथ्यात्व-कषाय आदि समस्त विभावपरिणामरूप परमतों के प्रभाव को नष्ट कर शुद्धोपयोगरूप स्वसंवेदन-ज्ञान के द्वारा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मक निज आत्मा का अनुभव करना नियत-स्वलक्षणसम्मत प्रभावना गुण है।[१]

हसने आदि की 'हास्य' आदि संज्ञाएँ

हसने की नियतस्वलक्षण की अपेक्षा हास्य संज्ञा है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से हास्य उत्पन्न होता है उसकी, कारण में कार्य का उपचार करने से, उपचारतः हास्य संज्ञा है — "हसनं हासः। जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण हस्सणिमित्तो जीवस्स रागो उप्पज्जइ तस्स कम्मक्खंधस्स हस्सो त्ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो।"[२]

भीति की मुख्यतः भय संज्ञा है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से जीव में भय उत्पन्न होता है उनकी, कारण में कार्य का उपचार करने से, उपचारतः भय संज्ञा है — "भीतिर्भयम्। जेहिं कम्मक्खंधेहिं उदयमागदेहि जीवस्स भयमुप्पज्जइ तेसिं भयमिदि सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो।"[३]

जीवों का सदृशपरिणाम नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'जाति' है। जिस कर्मस्कन्ध से जीवों में अत्यन्त सादृश्य उत्पन्न होता है उस कर्मस्कन्ध को, कारण में कार्य का उपचार करके, उपचार से जाति नाम दिया जाता है — "जातिर्जीवानां सदृशपरिणामः। ··· जत्तो कम्मक्खंधादो जीवाणं भूओ सरिसत्तमुप्पज्जदे सो कम्म-क्खंधो कारणे कज्जुवयारादो जादि त्ति भण्णदे।"[४]

कर्मभूमि नियतस्वलक्षण की दृष्टि से कर्मभूमि है। कर्मभूमियों में उत्पन्न मनुष्यों को उपचार से कर्मभूमि संज्ञा दी गई है — "कम्मभूमीसुप्पण्णमणुस्साण-मुवयारेण कम्मभूमीववदेसादो।"[५]

स्वात्मा का सम्यक् श्रद्धान नियतस्वलक्षणतः सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के साथ उदित रहने से आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता उत्पन्न

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ४१
२. धवला/पुस्तक ६/सूत्र २४/पृ० ४७
३. वही
४. वही/पुस्तक ६/चूलिका १/सूत्र २८/पृ० ५१
५. वही/चूलिका ८/सूत्र ११/पृ० २४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेवाली कर्मप्रकृति को उपचार से सम्यक्त्व नाम दिया गया है।[१]

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल — ये पाँच ज्ञान प्रमाण हैं। इनमें प्रथम दो परोक्ष प्रमाण हैं। यहाँ मतिज्ञान 'प्रथम' के नियत स्वलक्षण की अपेक्षा प्रथम है। क्रम में द्वितीय होने पर भी प्रथम का समीपवर्ती होने से श्रुतज्ञान की उपचारतः प्रथम संज्ञा है।[२]

द्रव्यश्रुत के अध्ययन से उत्पन्न भावश्रुत की नियतस्वलक्षण के अभिप्राय से 'ज्ञान' संज्ञा है। ज्ञान का निमित्त होने से द्रव्यश्रुत के लिए उपचार से 'ज्ञान' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[३]

समस्त बाह्य पदार्थ नियतस्वलक्षण की अपेक्षा 'पदार्थ' कहलाते हैं। उनके निमित्त से केवली भगवान् के ज्ञान में उन पदार्थों के ज्ञेयाकार झलकते हैं। उन्हें उपचार से पदार्थ कहा जाता है[४] और इस उपचार के आधार पर भगवान् व्यवहारनय से सर्वगत कहलाते हैं।[५]

इन समस्त प्रकरणों में नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि एवं उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि के अभिप्राय को जाननेवाला मनुष्य इन दोनों दृष्टियों से विचार करके समझ लेता है कि नियतस्वलक्षण की अपेक्षा प्रयुक्त की गयी संज्ञा (नाम) वास्तविक है और नियतस्वलक्षण के बिना उपचार से प्रयुक्त की गयी संज्ञा अवास्तविक। इस तरह वह अवास्तविक को वास्तविक समझने की भ्रान्ति से बच जाता है।

आत्माश्रितभावावलम्बिनी दृष्टि से मोक्षमार्ग का निर्णय

स्वात्मा का श्रद्धान, स्वात्मा का ज्ञान और स्वात्मलीनतारूप चारित्र

---

१. "तत्थ अत्तागम-पदत्थसद्धाए जस्सोदएण सिथिलत्तं होदि, तं सम्मत्तं। कधं तस्स सम्मत्तववएसो ? सम्मत्तसहचरिदोदयत्तादो उवयारेण सम्मत्तमिदि उच्चदे।"
धवला/पुस्तक ६/चूलिका १/सूत्र ११/पृ० ३९

२. "मतिश्रुतयोः प्रथमत्वं कथम् ? सत्यम्। प्रथमं मतिज्ञानं तन्मुख्यम् तस्य समीपवर्तित्वादुपचारेण श्रुतमपि प्रथममुच्यते।" तत्त्वार्थवृत्ति, १/११

३. "श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव।"
प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, १/३४

४. "येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकरेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति ततः कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते।"
वही/तात्पर्यवृत्ति १/२६

५. "व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते।" वही/तत्त्वदीपिका १/२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माश्रित (आत्मविषयक) भाव हैं। इनका मेल नियम से मोक्ष का हेतु है। इसलिए आत्माश्रितभाव का अवलम्बन कर मोक्षमार्ग का निर्णय करनेवाली दृष्टि निश्चयदृष्टि (निश्चयनय) होती है। उसके द्वारा अवलोकन करने पर इन आत्माश्रित भावों का समूह ही वास्तविक मोक्ष-मार्ग के रूप में प्रकट होता है। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है — 'आत्माश्रितो निश्चयनयः',[1] तथा 'आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्।'[2] अर्थात् आत्माश्रित निश्चयदृष्टि से ज्ञान में आने वाले मोक्षमार्ग पर जो चलते हैं, वे ही मुक्त होते हैं।

इसके विपरीत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान, जीवादि तत्त्वों का ज्ञान एवं जीवरक्षादिरूप चारित्र पराश्रित (परद्रव्यविषयक) भाव हैं। इनका संयुक्तरूप नियम से मोक्ष का हेतु नहीं है। जब आत्माश्रित मोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य अर्जित करने के लिए उसका आश्रय किया जाता है तब परम्परया मोक्ष का हेतु होता है। केवल स्वर्गादि प्राप्त करने के उद्देश्य से अवलम्बन करने पर मोक्ष में सहायक नहीं होता। अतः आत्माश्रित निश्चयमोक्षमार्ग का साधक बनकर परम्परया मोक्ष का हेतु होने से जिनेन्द्रदेव ने पराश्रित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के समूह को उपचार से मोक्षमार्ग संज्ञा दी है[3] जिससे उसकी परम्परया मोक्षहेतुता एवं इस कारण उपादेयता की प्रतीति हो जाय।

निष्कर्ष यह कि आत्माश्रितभावावलम्बिनी निश्चयदृष्टि आत्माश्रित सम्यग्दर्शनादि पर जाती है और युक्तिपूर्वक उनकी नियमेन मोक्षहेतुता के दर्शन करती है और इस तरह वह वास्तविक मोक्षमार्ग का बोध कराती है, साथ ही जिसे उपचार से मोक्षमार्ग संज्ञा दी गयी है उसमें मोक्षमार्ग का नियतस्वलक्षण न पाने के कारण वह उसे वास्तविक मोक्षमार्ग के रूप में ग्रहण नहीं करती।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय ज्ञाता की वह दृष्टि है जो मूल-पदार्थ, मूल-स्वभाव, मौलिक भेद, मौलिक अभेद, नियतस्वलक्षण एवं आत्माश्रित भाव के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करती है और ज्ञाता को इन सबका तथा इन पर आश्रित वस्तु के विभिन्न धर्मों का बोध कराती है। वह दृष्टि व्यवहारनय द्वारा बतलाये गये रूप को वस्तु का मूलरूप नहीं मानती, उसके द्वारा निरूपित स्वभाव को वस्तु का मूलस्वभाव नहीं मानती, उसके द्वारा दिखलाये

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २७२
२. वही
३. (क) "पराश्रितो व्यवहारनयः।" वही
(ख) "एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्ग प्रोक्त इति।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गये गुण-गुणी भेद को मौलिक भेद के रूप में स्वीकार नहीं करती, उसके द्वारा परद्रव्य से जो सम्बन्ध दर्शाये गये हैं, उन्हें वस्तु की सत्ता के भीतर अस्वीकार करती है तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले जो भाव आत्मा के भाव कहे गये हैं, उन्हें आत्मा का स्वाभाविक भाव नहीं मानती, इसी प्रकार उपचार से जिन्हें जीवादि पदार्थ कहा गया है, उन्हें वास्तविक जीवादि के रूप में ग्रहण नहीं करती।

निष्कर्ष यह कि ज्ञाता की निश्चयनयरूप दृष्टि पुद्‌गलसंयुक्त आत्मा की आत्मा के रूप में प्रतीति न कराकर मूल (स्वतन्त्र) आत्मा की ही आत्मा के रूप में प्रतीति कराती है, दर्शनज्ञानादि स्वभावविशेषों को आत्मस्वभाव के रूप में न दर्शाकर एक चैतन्यभावरूप मूलस्वभाव को ही आत्मस्वभाव के रूप में दर्शाती है, आत्मा और दर्शनज्ञानादि गुणों में जो संज्ञादि का भेद है उसका अनुभव न कराकर प्रदेश की अपेक्षा जो अभेद है उसका ही अनुभव कराती है, परद्रव्य से जो बाह्य सम्बन्ध हैं उनका बोध न कराकर उनसे जो प्रदेशगत भिन्नता है उसका ही बोध कराती है तथा आत्मा में जो कर्मनिमित्तक रागादिभाव उत्पन्न होते हैं उनका आत्म-भाव के रूप में निश्चय न कराकर एक चैतन्यभाव का ही आत्मस्वभाव के रूप में निश्चय कराती है। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा का निश्चय कराती है।

निश्चयनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

अब इस बात पर विचार किया जा रहा है कि निश्चयनय का अवलम्बन कर जो उपदेश दिया जाता है उसके प्रयोजन क्या हैं ?

मिथ्याधारणाओं का विनाश

अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण तथा मिथ्या उपदेश के कारण आत्मस्वरूप तथा मोक्षमार्ग के विषय में जीव की जो मिथ्या धारणाएँ चली आती हैं, निश्चयनयात्मक उपदेश से वे नष्ट हो जाती हैं तथा आत्मा के मौलिक स्वरूप एवं मोक्ष के वास्तविक मार्ग का ज्ञान होता है जो सम्यग्दर्शन के लिए आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — "इस जीव ने अनादिबद्धकर्मों के द्वारा विषयतृष्णा उत्पन्न किये जाने के कारण इन्द्रिय सुख की प्राप्ति के उपायों तथा इन्द्रियसुख का तो काफी ज्ञान और अनुभव किया है, इसके बारे में उसे दूसरों से भी काफी उपदेश मिला है और उसने भी दूसरों को बहुत कुछ सिखाया है, किन्तु, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का न तो आज तक उसे स्वयं ज्ञान हो पाया है, न ही उसे दूसरों से प्राप्त करने का अवसर मिला है। कारण यह है कि आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वभाव कषायों से मिश्रित होने के कारण, एक तो स्वयं जीव की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टि में नहीं आता, दूसरे, जीव ने उसे जानने के लिये कभी आत्मज्ञानियों की संगति नहीं की।''[१]

तात्पर्य यह कि अनादिमोह से ग्रस्त होने के कारण जीव अपने शुद्ध चैतन्यभावरूप मौलिक स्वरूप से अपरिचित होता है।[२] आत्मा अतीन्द्रिय तत्त्व है, इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता। संसारावस्था में देह और रागादि के साथ वह इस प्रकार घुला-मिला रहता है जैसे दूध और पानी। इसलिए शरीर और रागादि से पृथक् तत्त्व के रूप में उसका बोध नहीं होता। जीव को शरीर ही चलता-फिरता, खाता-पीता, राग-द्वेष करता, सुख-दुःख भोगता तथा जीता-मरता दिखाई देता है, अतः वह उसे ही आत्मा समझता है, अर्थात् चेतना को शरीर का ही धर्म मानता है और चेतना का शरीर से पृथक् अस्तित्व-बोध न होने के कारण शरीर में ही अपना अस्तित्व समझता है। इसलिए शरीर के उत्पन्न होने से अपनी उत्पत्ति मानता है और शरीर के नष्ट होने से अपना नाश। कुछ लोग मानते हैं कि रागादिभावों से अलग चेतना की प्रतीति नहीं होती, अतः रागादिभाव ही आत्मा हैं। कुछ का मत है कि सुख-दुःखादि के अनुभव से भिन्न कोई चेतन-तत्त्व ज्ञान में नहीं आता, इसलिए सुख-दुःखानुभूति ही आत्मा है।[३]

इतना ही नहीं, जीव के साथ संसारावस्था में जिन शरीर, परिवार, धन-धान्य आदि पदार्थों का संयोग होता है उनके साथ वह अपना शाश्वत सम्बन्ध मानता है, अर्थात् अपने को अकेला नहीं मानता, अपितु संसार के कुछ पदार्थों से सम्बद्ध मानता है, किसी के साथ अपने को पिता के रूप में सम्बद्ध मानता है, किसी के साथ पुत्र के रूप में, किसी के साथ पति के रूप में, किसी के साथ पत्नी के रूप में। इसी प्रकार धन-धान्य से भी अपने को सम्बद्ध मानता है।[४]

जीव के योग और उपयोग के निमित्त से पुद्गलद्रव्य कर्मरूप में बदल जाता है तथा मिट्टी आदि द्रव्य घट आदि पर्यायों में परिणत हो जाते हैं, इससे वह समझता है कि मैं पुद्गलकर्मों तथा घटादि परद्रव्यों का कर्त्ता हूँ।[५] उसके योगोपयोग के निमित्त से पुद्गल की कर्म एवं घट आदि पर्यायें नष्ट भी हो जाती हैं। यह देखकर वह मानता है कि मैं परद्रव्य का विनाशक हूँ। इसी प्रकार दया-भाव एवं यत्नाचार के निमित्त से परजीवों के शरीर का घात नहीं हो पाता तथा

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ४
२. "मोह महामद पियो अनादि भूल आपको भरमत वादि।" छहढाला, १/२
३. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ३९-४३
४. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, २०-२२
५. वही/आत्मख्याति/गाथा, १०५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसाभाव एवं प्रमत्तयोग के निमित्त से हो जाता है। इससे वह समझता है कि मैं दूसरों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, उनका भला-बुरा कर सकता हूँ।

इन्द्रियों के साथ इष्टानिष्ट विषयों का संसर्ग होने से आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है, जो आत्मा की ही पर्यायों का वेदन है, किन्तु इस कारण जीव अपने को विषयों का भोक्ता समझता है। संसार के पदार्थ सुख-दुःख के हेतु नहीं हैं। उनके निमित्त से मोही जीव स्वयं सुख-दुःखरूप से परिणत होता है, किन्तु उसे पदार्थ ही सुख-दुःख के स्रोत प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप परमार्थ मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ होने के कारण वह शुभप्रवृत्तियों को ही मोक्ष का परमार्थ मार्ग मान लेता है।

इस प्रकार अनादि मिथ्यात्व तथा एकान्तव्यवहाराश्रित मिथ्या उपदेश के फलस्वरूप अथवा व्यवहार को निश्चयनिरपेक्ष होकर ग्रहण करने के कारण जीव अनेक मिथ्याधारणाओं के जाल में फँस जाता है। इनका विनाश निश्चयनयात्मक उपदेश के ग्रहण करने से होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — "भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो"[१] अर्थात् मूलपदार्थावलम्बी निश्चयनय का (व्यवहारनय के विषय का निषेध न करते हुए) आश्रय लेने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मिथ्याविकल्पों का नाश होने पर होती है। मिथ्या-विकल्पों का विनाश भूतार्थ को जानने से होता है। इस तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

"अज्ञानी जीव ऐसे मिथ्या विकल्प करता है कि मैं देह हूँ, देह मेरा स्वरूप है, स्त्री-पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा धन-धान्यादि अचेतन पदार्थ मेरे हैं, मेरे थे और मेरे रहेंगे। किन्तु जब भूतार्थ (निश्चयनय द्वारा दर्शित शुद्ध आत्मस्वरूप) को जान लेता है तब ये विकल्प छोड़ देता है।"[२]

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं — "जो साधु शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय से निरपेक्ष होकर अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय का आश्रय लेता है वह मिथ्यात्वग्रस्त होकर देह और धनादि परद्रव्य से ममत्व नहीं छोड़ पाता। फलस्वरूप शुद्धात्मपरिणतिरूप मोक्षमार्ग को दूर से छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग पर ही चलता है। इससे सिद्ध है कि अशुद्धनय के आश्रय से अशुद्धात्मा

१. समयसार/गाथा, ११
२. वही/गाथा, २०-२३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की ही प्राप्ति होती है।[१] किन्तु जो साधु केवल स्व-विषय में प्रवृत्त होने वाले अशुद्ध-द्रव्यनिरूपक व्यवहारनय का विरोध नहीं करता, अपितु मध्यस्थ होकर शुद्ध द्रव्य-निरूपणात्मक निश्चयनय के आश्रय से मोह को दूर करता है उसे इस सत्य की अनुभूति हो जाती है कि न तो किसी परद्रव्य से मेरा सम्बन्ध है, न किसी परद्रव्य का मुझसे। मैं शुद्धज्ञानात्मक एक अकेला तत्त्व हूँ। इस अनुभूति से वह परद्रव्यरूप अनात्मा को छोड़कर आत्मा को ही आत्मा के रूप में ग्रहणकर, आत्मा में ही ध्यान केन्द्रित करता है। उस एकाग्रचिन्तानिरोध के समय वह शुद्धात्मा ही रह जाता है। अतः निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।''[२]

समयसारकलश में उन्होंने कहा है — "अनादिकाल से ही अज्ञानी जीवों की यह महामिथ्या धारणा बनी हुई है कि 'मैं परद्रव्य का कर्त्ता हूँ।' यदि निश्चयनय के ग्रहण से यह एक बार भी नष्ट हो जाय तो फिर जीव कभी बन्धनग्रस्त नहीं हो सकता।''[३]

निश्चयनय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की व्याख्या में कहते हैं —

"जो जीव यह मिथ्या मान्यता रखते हैं कि मैं श्रमण (मुनि) हूँ अथवा श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ, इन्हीं बाह्य लिंगों से मुझे मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, वे व्यवहाराभासी हैं। वे विवेक से परिपूर्ण निश्चयनय का अवलम्बन न करने के कारण परमार्थसत्य भगवान् समयसार के दर्शन में समर्थ नहीं होते।''[४]

"मुनिधर्म और श्रावकधर्म को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग नाम दिया गया है,

---

१. "यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक-व्यवहारनयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति ···।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/९८

२. "यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् नाहं परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसम्बन्धमुद्धूय ···।" वही, २/९९

३. आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपो तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ।। समयसार/कलश, ५५

४. "ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिङ्गममकारेण मिथ्याहङ्कारं कुर्वन्ति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवन्तं समयसारं न पश्यन्ति।" वही/आत्मख्याति/गाथा, ४१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे परमार्थतः मोक्षमार्ग नहीं हैं, शुद्धात्मानुभूति परमार्थतः मोक्षमार्ग है।[१] अतः जो व्यवहार को ही परमार्थ मान लेते हैं वे समयसार (शुद्धात्मा) का अनुभव नहीं कर पाते। परमार्थ को ही परमार्थबुद्धि से ग्रहण करने वालों को समयसार का अनुभव होता है।''[२]

"जो मनुष्य व्यवहार को ही परमार्थरूप से ग्रहण करते हैं उनका परमार्थ को प्राप्त कर पाना असम्भव है। तुष को ही चावल समझ लेनेवाले तुष ही प्राप्त करते हैं, चावल नहीं।''[३]

ये कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि आत्मा और मोक्षमार्ग के विषय में जीव की जो अनादि मिथ्याबुद्धियाँ होती हैं और जो मिथ्या उपदेश तथा निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार के अवलम्बन से पुष्ट हो जाती हैं, वे व्यवहारसापेक्ष निश्चयनय का आश्रय लेने से ही दूर होती हैं।

सम्यक् धारणाओं की उत्पत्ति

निश्चयनय के उपदेश से अनादि मिथ्या धारणाओं का विनाश होता है और सम्यक् धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। निश्चयनयात्मक उपदेश पाकर जीव को यह ज्ञान होता है कि मैं मूलतः शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, मोहरागादिभाव मेरे मौलिक स्वरूप में विद्यमान नहीं हैं। मेरे साथ संयुक्त पुद्गलकर्म, शरीर तथा अन्य जड़पदार्थ भी मेरे स्वरूप में शामिल नहीं हैं, मुझसे पृथक् हैं, क्योंकि वे जड़स्वभावात्मक हैं। स्त्रीपुत्रादि चेतनपदार्थ भी मुझसे भिन्न हैं, क्योंकि उनके प्रदेश (सत्ता) भिन्न हैं। मैं स्वरूप को छोड़कर किसी भी परद्रव्य का रूप धारण नहीं करता, न ही किसी परद्रव्य की सत्ता मेरी संत्ता के भीतर समाविष्ट होती है। इसलिए मैं न तो परद्रव्य का कर्त्ता हूँ, न भोक्ता, न रक्षक, न नाशक। इसी प्रकार परद्रव्य भी मेरा कर्त्ता-भोक्ता आदि नहीं है। मैं एक अखण्ड तत्त्व हूँ, मेरे गुणपर्याय मुझसे अभिन्न हैं। मैं मूलतः एकस्वभावात्मक हूँ, अनादि और अनन्त हूँ। मैं न जन्म लेता हूँ, न मरता हूँ। सुख मेरा स्वभाव है। अतः मेरी अनुभूति में आनेवाला सुख मुझसे ही उद्भूत होता है, किसी परद्रव्य से नहीं आता। निश्चयनयात्मक उपदेश से अपने इस मौलिक स्वरूप का ज्ञान होने पर इसकी प्राप्ति जीवन का लक्ष्य बन जाती है।

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा, ४१४

२. "ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते।" वही

३. "व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ।। वही/कलश, २४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयनय द्वारा दिये गये उपदेश से जीव को यह भी ज्ञात होता है कि मुझे संसार-बन्धन में बाँधने वाला मूलकारण मेरी अपनी अशुद्ध परिणति है और उससे मुक्त होने का उपाय है मेरा अपना शुद्ध परिणमन अर्थात् शुद्धोपयोग। यह ज्ञान होने पर जीव शुद्धात्मपरिणाम को ही साधने का प्रयत्न करता है।

स्वपद का निश्चय

निश्चयनय जीव को स्वपद का बोध कराता है। आत्मा में दिखाई देने वाले भावों में से जो निश्चयनय से आत्मा का सिद्ध होता है वही उसका अपना पद है अर्थात् आत्मा के स्थित होने योग्य स्थान है, क्योंकि वह ध्रुव (स्थायी) है[1] और विपदाओं से रहित है।[2] उसमें स्थित होकर आत्मा निराकुलता का अनुभव करते हुए कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। इसलिए वही उपलब्ध करने योग्य है। आत्मा का वह भाव है शुद्धचैतन्यस्वभाव। दर्शनज्ञानादि गुण उससे अभिन्न हैं तथा शरीरादि परद्रव्य एवं मोहरागादि परभाव भिन्न हैं, इसलिए अद्वैत (एक) होने के कारण, वह शुद्ध है।[3] इसके अतिरिक्त जितने भी शरीरादि परद्रव्य एवं शुभाशुभ भाव हैं वे आत्मस्वरूप से पृथक् हैं तथा अध्रुव हैं, इस कारण विपदाओं के स्थान (संसार के हेतु) हैं अतः आत्मा के पद नहीं है (उसके स्थित होने योग्य स्थान नहीं हैं)। निश्चयनयात्मक उपदेश से शुद्धचैतन्यस्वभाव के ही आत्मपद होने का निश्चय होता है।[4] निश्चय होने पर जीव उसमें स्थित होने का प्रयत्न करता है और कर्मबन्धन काटकर मोक्ष पा लेता है। यह निश्चयनयात्मक उपदेश का एक महान् प्रयोजन है।

---

१. "इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वादपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानो नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः अव्यभिचारी भावः स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम्।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा, २०३

२. एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ।। वही/कलश, १३९

३. "न किञ्चनाप्यन्यत् शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन, स्वधर्माविभागेन चैकत्वात्।"

प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/१००

४. "एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्र-निरूपणात्मकत्वाद् अयमेक एव च ध्रुवत्वाद् उपलब्धव्यः, किमन्यैरध्वनीनाङ्गसङ्गच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः।" वही/तत्त्वदीपिका २/१००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनःस्थिति में परिवर्तन

निश्चयनयात्मक उपदेश से जब जीव स्वयं को देह से भिन्न चिन्मात्र ज्योति समझ लेता है, तब जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि का भय समाप्त हो जाता है। पर में आसक्ति नहीं रहती। पर के कर्त्ता-हर्त्ता होने के अहंकार से वह मुक्त हो जाता है। इससे परमशान्ति का आविर्भाव होता है। प्रत्येक जीव में एक जैसी शक्तियाँ हैं, प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखता है, जीवों की इस समानता के बोध से सब जीवों के प्रति समभाव उत्पन्न होता है, प्राणिमात्र के प्रति मैत्री उदित होती है। कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई ऊँचा, कोई नीचा, कोई स्पृश्य, कोई अस्पृश्य, कोई अपना, कोई पराया प्रतीत नहीं होता। सबमें समानस्वरूपात्मक ब्रह्म के दर्शन होते हैं। तब किसी के प्रति न राग का भाव रहता है, न द्वेष का, न हिंसा की भावना उत्पन्न होती है, न अहंकार। लौकिक जीवन मैत्रीपूर्ण हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीय अध्याय

असद्भूतव्यवहारनय

पूर्व में प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञाता की जो दृष्टि सोपाधिक (परद्रव्यसंयुक्त) पदार्थ, औपाधिकभाव, स्वभावविशेष (विशिष्टस्वभाव), बाह्य-भेद, बाह्यसम्बन्ध, पराश्रितभाव एवं उपचार के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्णय करती है उसे व्यवहारनय कहते हैं। इनमें सोपाधिक पदार्थ, औपाधिकभाव, बाह्य-सम्बन्ध एवं उपचार असद्भूतव्यवहारनय के विषय हैं तथा बाह्यभेद एवं स्वभावविशेष सद्भूतव्यवहारनय के। पराश्रितभाव बाह्यसम्बन्ध में गर्भित है।

असद्भूतव्यवहारनय में परस्पर विपरीत विषय समाविष्ट हैं। यह वास्तविक विषय का अवलम्बन करके भी प्रवृत्त होता है और अवास्तविक का भी। उदाहरणार्थ, सोपाधिक पदार्थ, औपाधिकभाव, बाह्यसम्बन्ध तथा उपचार, इन चार का अवलम्बन कर यह वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है। इनमें प्रथम तीन विषय वास्तविक हैं तथा अन्तिम अर्थात् उपचार (उपचार से दिया गया नाम) अवास्तविक।

यद्यपि आलापपद्धतिकार ने अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म के अन्यत्र समारोपण को असद्भूतव्यवहार कहा है और असद्भूतव्यवहारनय को ही 'उपचार' संज्ञा दी है,[१] तथापि एक अन्य सूत्र में असद्भूतव्यवहारनय को भिन्नवस्तुसम्बन्ध का भी प्रतिपादक कहा है[२] और भिन्नवस्तु-सम्बन्ध यथार्थ है। अतः असद्भूतव्यवहारनय का विषय वास्तविक पदार्थ भी है। इसके अतिरिक्त कर्मों के उदय के निमित्त से होने वाली मनुष्यादि सोपाधिक पर्यायों, मोह-रागादि औपाधिक भावों तथा कर्मों के उपशम, क्षयोपशम आदि के निमित्त से होनेवाले औपाधिभावों को भी, जो वास्तविक हैं, जयसेन आदि आचार्यों ने तथा पञ्चाध्यायीकार ने असद्भूतव्यवहारनय का विषय बतलाया है।[३] इसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय में आगे किया जायेगा तथा 'व्यवहार-

---

१. "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवो-पचारः।" आलापपद्धति/सूत्र, २०७-२०८

२. "भिन्नवस्तुसम्बन्धविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।"
वही/पादटिप्पणी/द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, पृ० २२८

३. (क) "अशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ११३-११५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नय के भेद' नामक अध्याय में भी इस पर प्रकाश डाला जायेगा।

यदि केवल अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म के अन्यत्र समारोपण को असद्भूतव्यवहारनय माना जाय, तो जैसे मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना सर्वथा असत्य होता है, वैसे ही शरीरादिपर्यायों और रागादिभावों को असद्भूतव्यवहारनय से सोपाधिक जीव की पर्यायें कहना भी मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान सर्वथा असत्य हो जायेगा। इसी प्रकार जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाम में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तथा परद्रव्य और आत्मा में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी असद्भूतव्यवहारनय से ही घटित होते हैं। ये सम्बन्ध भी मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान सर्वथा मिथ्या सिद्ध होंगे।

अतः स्पष्ट है कि असद्भूतव्यवहारनय का विषय मात्र उपचार नहीं है, अपितु सोपाधिक पदार्थ, तज्जन्य औपाधिकभाव एवं परद्रव्यसम्बन्ध की वास्तविकता का बोध कराना भी है। फलस्वरूप इस नय के वास्तविक और अवास्तविक विषयों को स्पष्ट करने के लिए यहाँ असद्भूतव्यवहारनय के तीन भेद किये गये हैं : उपाधिमूलक, बाह्यसम्बन्धमूलक एवं उपचारमूलक। प्रस्तुत अध्याय में प्रथम तीन वास्तविक विषयों से सम्बन्धित असद्भूतव्यवहारनय का ही अनुशीलन किया जायेगा।

उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय
(सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि)

जो तत्त्व वस्तु में अस्वाभाविकभाव की उत्पत्ति का प्रयोजक (प्रेरक) होता है, उसे उपाधि कहते हैं — 'प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।'[१] उससे युक्त पदार्थ सोपाधिक पदार्थ कहलाता है। जीव के साथ अनादि से शरीर और द्रव्यकर्मों के रूप में पुद्गलद्रव्य का संयोग है, जिसके निमित्त से जीव की अनेक अस्वाभाविक अवस्थाएँ होती हैं। अतः पुद्गलद्रव्य जीव की उपाधि है और पुद्गलरूप उपाधि से युक्त जीव सोपाधिक जीव। इसे अशुद्ध जीव या अशुद्धोपादानात्मक जीव भी कहते हैं।[२] इसी प्रकार जीव के शुभाशुभ परिणाम के निमित्त से पुद्गलद्रव्य भी

(ख) अपि वाऽसद्भूतोऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ।।

पञ्चाध्यायी/प्रथम अध्याय/श्लोक, ५४६

१. तर्कभाषा/केशवमिश्र, पृ० ७५

२. "हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति ? तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानमशुद्धं तप्तायःपिण्डवत्। निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् ....।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १०२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मरूप में परिणमित होता है, अतः जीवरूप उपाधि से युक्त पुद्गलद्रव्य सोपाधिक पुद्गल है।

पुद्गलकर्मरूप उपाधि के निमित्त से जीव में चार प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती है : औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक।[१] ये अशुद्ध और शुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। पुद्गलकर्मरूप उपाधि का जब उदय होता है तब मोह-रागादि अशुद्ध भावों की उत्पत्ति होती है, जब उपशम, क्षयोपशम तथा घातिकर्मों का क्षय होता है तब एकदेशशुद्ध भावों की[२] और जब समस्त पुद्गलकर्मों का क्षय होता है तब पूर्णशुद्ध भावों की उत्पत्ति होती है। किन्तु, ये शुद्ध होते हुए भी उपाधि-हेतुक होने से स्वाभाविक नहीं हैं, औपाधिक हैं, इसलिए शुद्धचैतन्यरूप पारिणामिक-भाव के समान स्वभावभाव न होकर विभावभाव हैं, परमभाव न होकर अपरमभाव हैं, स्वभाव न कहलाकर परभाव कहलाते हैं।[३]

मोहनीय आदि कर्मों के उदय से जीव के मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान और असंयमरूप परिणाम होते हैं, सिद्धत्व तिरोहित हो जाता है, वह मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारक पर्यायों में संसरण करता है, स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये तीन लिंग धारण करता है तथा छह लेश्याओं की अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए जीव की ये अशुद्ध अवस्थाएँ औपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं। इस कारण इनका बोध सोपाधिक पदार्थ का अवलम्बन करनेवाली दृष्टि से देखने पर होता है। अतः जीव के साथ इनका सम्बन्ध उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है। इसी नय के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने राग, द्वेष, मोह को जीव का स्वकीय परिणाम कहा है, 'रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्णपरिणामा'[४] तथा आचार्य जयसेन ने जीव को अशुद्धोपादानरूप से (जो कर्मोपाधिहेतुक है)[५] रागादि भावों का कर्त्ता कहा है —

---

१. "तत्रोदयेन युक्त औदयिकः। उपशमेन युक्त औपशमिकः। क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः। क्षयेण युक्तः क्षायिकः। परिणामेन युक्तः पारिणामिकः। त एते पञ्च जीवगुणाः। तत्रोपाधिचतुर्विधत्वनिबन्धनाश्चत्वारः। स्वभावनिबन्धन एकः।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, ५६

२. "सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा।"
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, १४

३. "औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानाम्।"
नियमसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १३ एवं ११०

४. समयसार/गाथा, ३७१

५. "कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वाद् अशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत् तन्मयात्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयोभण्यते।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा, ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्त्ता, न च द्रव्यकर्मणः।"[१]

—अर्थात् अज्ञानीजीव अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध उपादानरूप में मिथ्यात्वरागादिभावों का ही कर्त्ता है, द्रव्यकर्म का नहीं।

अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय का ही नामान्तर है।[२] असद्भूत का अर्थ है जो जीव में स्वतःसिद्ध नहीं है, उपाधिमूलक से अभिप्राय है जो उपाधि के कारण उत्पन्न हुआ है और व्यवहार का अर्थ है उसे जीव से सम्बन्ध देखना या दर्शाना।

यदि सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि से न देखकर मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखा जाय, तो जीव में मोहरागादि औदयिक भावों का अस्तित्व दिखाई नहीं देगा, क्योंकि कर्मोपाधिरहित शुद्ध आत्मद्रव्य मोहरागादिस्वभावात्मक नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वभावात्मक है।[३]

मोहनीय कर्म के उपशम से जीव में औपशमिक सम्यग्दर्शन एवं औपशमिक सम्यक्चारित्र की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव के ज्ञानगुण की मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, कुमति, कुश्रुत एवं कुअवधि (विभंग) पर्यायें तथा दर्शनावरण के क्षयोपशम से दर्शनगुण की चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन एवं अवधिदर्शन ये तीन पर्यायें प्रकट होती हैं। मोहनीय के क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र तथा संयमासंयम का एवं अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य इन पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है। मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व, एवं क्षायिक सम्यक्चारित्र तथा ज्ञानावरणादि का क्षय होने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य एवं दानादि क्षायिक लब्धियाँ उदित होती हैं। इसलिए जीव की ये पर्यायें भी औपाधिक हैं, जिससे इनके जीवसम्बद्ध होने का ज्ञान सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से निरीक्षण करने पर होता है। मूलपदार्थावलम्बिनी निश्चयदृष्टि जीव के शुद्धचैतन्यरूप पारिणामिक भाव पर ही जाती है, अतः उसके द्वारा देखने पर जीव में इन औपाधिक भावों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १०२

२. "स चाशुद्धनिश्चयो यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १०२

३. "बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि।"

वही/आत्मख्याति/गाथा, १३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र जीव की औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक पर्यायें हैं, इन्हीं का सम्मिलित रूप शुद्धोपयोग कहलाता है जो मोक्ष का वास्तविक मार्ग है, अतः शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग भी जीव की औपाधिक पर्याय है।[१] इसलिए सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी असद्भूत व्यवहारदृष्टि से देखने पर ही जीव में इस पर्याय के अस्तित्व का बोध होता है। निरुपाधिक मूल-पदार्थावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर इसका अस्तित्व दिखाई नहीं देता। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस (मूलपदार्थावलिम्बनी) दृष्टि का अवलम्बनकर उपर्युक्त समस्त भावों का जीव में अभाव बतलाया है, क्योंकि जीव के साथ उनका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, अपितु औपाधिक सम्बन्ध है। समयसार की छह गाथाओं में उन्होंने वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त अनेक भावों के जीव में होने का निषेध किया है जिनमें उपर्युक्त सभी औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं चतुर्दश गुणस्थान तक के क्षायिक भाव आ जाते हैं। वे कहते हैं —

"(निश्चनयनय से विचार करने पर निश्चित होता है कि) जीव में न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न संस्थान है, न संहनन है। जीव में न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय हैं, न कर्म हैं, न नोकर्म। जीव में न वर्ग हैं, न वर्गणा हैं, न स्पर्द्धक हैं, न अध्यात्मस्थान हैं, न अनुभागस्थान। जीव में न योगस्थान हैं, न बन्धस्थान, न उदयस्थान, न मार्गणास्थान। जीव में न स्थितिबन्धस्थान हैं, न संक्लेशस्थान, न विशुद्धिस्थान, न संयमलब्धिस्थान। जीव में न जीवस्थान हैं, न गुणस्थान। ये सब पुद्गलकर्मनिमित्तक होने से पुद्गल के परिणाम हैं।[२] चूँकि ये कर्मोपाधि के निमित्त से जीव में होते हैं, इसलिए निरुपाधिक (मूल) पदार्थावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर जीव में इनका अस्तित्व दिखाई नहीं देता, सोपाधिकपदार्थावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर ही दिखाई देता है। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय से निषेधकर व्यवहारनय (उपाधिकमूलक असद्भूतव्यवहारनय) से इन्हें जीव का कहा है —

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।[३]

१. "तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्ध-पारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमनम् आगमभाषयौपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्मभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ३२०

२. वही/गाथा, ५०-५५

३. वही/गाथा, ५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—अर्थात् ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं।

यतः उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय से ही जीव के साथ इनका सम्बन्ध सिद्ध होता है, अतः श्री माइल्लधवल ने इन्हें स्पष्टतः असद्भूत एवं उपचरित कहा है —

उवसमखयमिस्साणं तिह्णं एक्कोवि ण हु असब्भूओ ।
णो वत्तव्वं एवं सो वि गुणो जेण उवयरिओ ।।[1]

—औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) इन तीनों में से कोई भी भाव आत्मा में असद्भूत (स्वभावतः असत्) नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ये सब भी उपचरित (उपाधिमूलक) हैं।

बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय
(बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि)

परद्रव्य के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे बाह्य सम्बन्ध कहते हैं। परद्रव्यों के साथ जीव के विविध बाह्य सम्बन्ध होते हैं, जैसे संश्लेषसम्बन्ध, संयोगसम्बन्ध, निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध, ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध, साध्यसाधकसम्बन्ध, आधाराधेयसम्बन्ध इत्यादि। इन सम्बन्धों का निश्चय[2] बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी दृष्टि या बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय से देखने पर होता है। यहाँ उन सम्बन्धों पर दृष्टिपात किया जा रहा है।

जीव और पुद्गल के संश्लेषसम्बन्ध का निश्चय

अनादि से जीव और पुद्गल का नीर-क्षीर के समान एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध है, इसे संश्लेषसम्बन्ध कहते हैं। शरीर और कर्मरूप पुद्गल के संश्लेष से ही जीव की केवलज्ञानादि शक्तियाँ तिरोहित हैं और वह देह-कारागार में बन्दी होकर नाना प्रकार के दुःख भोगता है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त वर्णादि-गुणस्थानपर्यन्त भावों में जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, कर्म, नोकर्म इत्यादि पुद्गल के परिणाम हैं, उनके साथ जीव का दूध और पानी के समान

---

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र/गाथा, २९२
२. यहाँ 'निश्चय' शब्द 'निर्णय' का पर्यायवाची है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है — 'एवं ववहारस्सदु विणिच्छओ णाणदंसणचारित्ते।'
समयसार/गाथा, ३६५
३. "आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभावः संसारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसङ्कोचितात्मशक्तिः।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा, २९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्परवगाहरूप (संश्लेष) सम्बन्ध बतलाया है —

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिको जम्हा ।।[१]

— अर्थात् इन (पुद्गलद्रव्य के परिणामों) के साथ आत्मा का सम्बन्ध नीर-क्षीर के सम्बन्ध के समान परस्परावगाहरूप समझना चाहिए। आत्मा चेतन है और ये अचेतन, इसलिए इनके साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध न होने से ये आत्मा के नहीं हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि आत्मा और शरीर परस्परावगाढरूप से अवस्थित हैं —

परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः।[२]

निम्नलिखित गाथा में आत्मा और पुद्गलकर्म के परस्पर संश्लेष का कथन किया गया है —

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ।।[३]

— आत्मा अनादि से पुद्गलकर्मों से मलिन है, इस कारण रागादिरूप से परिणमन करता है। इससे नवीन कर्मपुद्गल आकर आत्मा से संश्लिष्ट हो जाते हैं। इसलिए रागादिपरिणाम ही कर्म है।

आत्मा और पुद्गलकर्मों का संश्लेष ही बन्ध शब्द से प्ररूपित किया गया है —

सपदेसो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ।।[४]

— लोकाकाशप्रमित असंख्येय प्रदेशोंवाला होने से आत्मा मोहरागद्वेष से कषायित होकर कर्मरज से संश्लिष्ट हो जाता है, उसे ही आगम में बन्ध कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी ऐसा ही कहा है —

"एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्धः सिद्ध्येत्।"[५]

---

१. समयसार/गाथा, ५७
२. वही, आत्मख्याति, गाथा २७
३. प्रवचनसार, २/२९
४. वही, २/९६
५. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ६९-७०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

— जीव और पुद्‌गल में परस्परावगाहसम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है।

और उन्होंने यह भी बतलाया है कि जब आत्मा का अनादिबद्धस्पृष्टत्व पर्याय से अनुभव किया जाता है तब उसका बद्धस्पृष्टत्व (कर्मों से बद्ध होना) भूतार्थ ठहरता है —

"तथात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थम्।"[१]

इसका तात्पर्य यही है कि परद्रव्यसंश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूत-व्यवहारदृष्टि से देखने पर ही आत्मा के कर्मबद्ध होने की वास्तविकता दृष्टि में आती है। आचार्य कुन्दकुन्द के "जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं"[२] इस कथन से भी यही बात सिद्ध होती है।

आगम में जीव और पुद्‌गल के विश्लेषसम्बन्ध का भी वर्णन किया गया है। यथा —

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।"[३]

— बन्धहेतुओं के अभाव तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा से विश्लेष होना मोक्ष है।

"जीवेन सहात्यन्तविश्लेषः कर्मपुद्‌गलानां च मोक्ष इति।"[४]

— कर्मपुद्‌गलों का जीव से अत्यन्त विश्लेष होना मोक्ष कहलाता है।

जीव और पुद्‌गल का यह संश्लेष और विश्लेष सम्बन्ध बाह्यसम्बन्धा-वलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से अवलोकन करने पर दृष्टिगोचर होता है।[५] निश्चय-दृष्टि जीव और पुद्‌गल के प्रदेशभेदरूप मौलिक भेद का ही अवलम्बन करती है। अतः उससे अवलोकन करने पर संश्लेषसम्बन्ध अभूतार्थ ठहरता है। इससे विश्लेष-सम्बन्ध स्वतः अभूतार्थ सिद्ध हो जाता है।

जीव और शरीर के कथंचित् अभेद का निश्चय

परद्रव्य-संश्लेषसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से देखने पर ही जीव और शरीर के कथंचित् अभेद की प्रतीति होती है।

जीव और शरीर का संश्लेष अनोखा संश्लेष है। किन्हीं भी अन्य वस्तुओं के संश्लेष की उपमा से इसका यथावत् बोध नहीं कराया जा सकता। शरीर और

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १४
२. वही/गाथा, १४१
३. तत्त्वार्थसूत्र, १०/२
४. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १०८
५. "ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्रव्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसम्बन्धो भवतु ... ...।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा का मेल बिलकुल वैसा नहीं है जैसा नीर और क्षीर का, घी और घड़े का अथवा शरीर और वस्त्र का होता है। शरीर से संयुक्त वस्त्र को यदि चीरा-फाड़ा जाय तो शरीर को अथवा शरीर के द्वारा आत्मा को पीड़ा नहीं होती, किन्तु आत्मसंयुक्त शरीर को छिन्न-भिन्न किया जाय तो आत्मा को पीड़ा होती है। नीर और क्षीर के संश्लेष में दोनों में से किसी को इस पीड़ा का अनुभव सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों अचेतन हैं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर और आत्मा का मेल अनोखा है, अन्य समस्त वस्तुओं के मेल से भिन्न है, नीर-क्षीर के मेल से कुछ विशिष्ट है। मेल के इस अनोखेपन या वैशिष्ट्य को ही अभेद कहा गया है जो वास्तविक है। आचार्य जयसेन ने इस विलक्षण अभेद की वास्तविकता को निम्न व्याख्यान में प्रकाशित किया है —

कश्चिदाह जीवात् प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति। कथं हिंसा ? अथ भिन्नस्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातम् ? तत्रापि हिंसा नास्तीति। तत्र, कायादिप्राणैः सह कथञ्चिद् भेदाभेदः। कथमिति चेत् तप्तायःपिण्डवद् वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्त्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः। निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः। यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति। न च तथा प्रत्यक्षविरोधात्। ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता, न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता, व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव। तन्नारकादिदुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत। भीतिरस्ति इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति।"[१]

—कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि शरीरादि प्राण जीव से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो जैसे जीव का विनाश नहीं होता वैसे ही प्राणों का भी नहीं हो सकता, तब हिंसा कैसे सम्भव है ? यदि प्राण भिन्न हैं तो जीव के प्राणों का घात होने पर भी क्या फर्क पड़ता है ? इस स्थिति में भी हिंसा नहीं हो सकती।

इसका समाधान यह है कि शरीरादि प्राणों के साथ जीव का कथंचिद् भेद भी है और अभेद भी। कैसे ? जैसे तप्त लोह-पिण्ड से अग्नि को अलग करना सम्भव नहीं है, वैसे ही वर्तमान पर्याय में प्राणों को जीव से पृथक् करना असम्भव है। इस कारण व्यवहारनय से अभेद है। किन्तु मरणकाल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते इस कारण भेद है। यदि सर्वथा भेद हो, तो जैसे दूसरे के शरीर

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३३२-३४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के छिन्न-भिन्न किये जाने पर हमें दु:ख नहीं होता वैसे ही अपने शरीर के छिन्न-भिन्न किये जाने पर भी नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता, यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

प्रश्न : इस तरह भी हिंसा व्यवहारनय से घटित होती है, निश्चयनय से नहीं।

समाधान : आपने ठीक कहा। हिंसा व्यवहारनय से ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार पाप भी एवं नरकादि के दु:ख भी व्यवहारनय से ही घटित होते हैं। यह हमें मान्य है। इसलिए यदि नरकादि के दु:ख आपको अच्छे लगते हों, तो हिंसा कीजिए, यदि उनसे भय हो तो त्याग दीजिए।"

इस प्रकार शरीरादि प्राणों के साथ जीव का कथंचित् अभेद वास्तविक है। यद्यपि व्यवहारनय परद्रव्यसम्बन्धावलम्बी होने से अभूतार्थ है[1] तथापि जीव की परद्रव्यसम्बद्ध अवस्था एवं जीव और शरीर के कथंचित् अभेद की प्रतीति उसी के द्वारा होती है, मूलपदार्थावलम्बी निश्चयनय से यह सम्भव नहीं है।

परद्रव्य के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का निश्चय

परद्रव्यसम्बन्ध की दिशा से अवलोकन करने वाले असद्भूत व्यवहारनय के द्वारा इस सम्बन्ध की भी प्रतीति होती है। अत: यह परमार्थभूत है, काल्पनिक नहीं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार ने यह बात स्पष्ट की है —

"तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ: सम्बन्ध: संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन: कल्पनारोपित:।"[2]

— इस प्रकार व्यवहारनय का आश्रय लेने पर दो पदार्थों में रहनेवाला कार्यकारणभाव (निमित्तनैमित्तिक) सम्बन्ध संयोग-समवायादि सम्बन्धों के समान प्रतीति में आता है। अत: प्रतीतिसिद्ध होने के कारण पारमार्थिक (यथार्थ) ही है, कल्पनारोपित नहीं।

यह सम्बन्ध अनेकरूपों में दृष्टिगोचर होता है। संसारावस्थापन्न जीव और पुद्गलकर्मों में इस सम्बन्ध के अस्तित्व का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।[3]

---

१. "यद्यप्यं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि ... ...।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ४६

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/७

३. समयसार/गाथा, ८०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

— जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से पुद्‌गलपरमाणु कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं। इसी प्रकार पुद्‌गलकर्मों के निमित्त से जीव भी शुभाशुभभाव-रूप परिणमन करता है।

साता-असातावेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख-दुःखरूप से परिणमित होता है।[१] आत्मा के शुद्धोपयोगरूप स्वभाव के निमित्त से कर्मपुद्‌गल संवर, निर्जरा और मोक्षरूप से परिणमन करते हैं।[२]

साता-असातावेदनीय कर्म के उदय से इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयों का सान्निध्य प्राप्त होता है। इन्द्रियविषयों का सान्निध्य आत्मा की सुखदुःखात्मक परिणति में निमित्त बनता है।[३]

जीव के योग (आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दरूप प्रयत्न) और उपयोग (इच्छादिरूप परिणाम) के निमित्त से मिट्टी आदि पदार्थ घट-पटादि रूप से परिणमित होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।[४]

— जीव न तो घट उत्पन्न करता है, न पट, न अन्य द्रव्य। उसके योगोपयोग इन द्रव्यों के (निमित्तरूप से)[५] कर्त्ता हैं। जीव इन योग और उपयोग का कर्त्ता होता है।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

"जो घटादि अथवा क्रोधादि परद्रव्यात्मक कार्य हैं उन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि इससे आत्मा के घटादिमय अथवा क्रोधादिमय होने का प्रसंग आता है। निमित्तनैमित्तिकभाव से भी उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि इस तरह आत्मा के नित्य होने से इनकी नित्य उत्पत्ति का प्रसंग आता है। इसलिए आत्मा के अनित्य योग और उपयोग ही इनके निमित्तरूप से कर्त्ता हैं। चूँकि योग आत्मा के प्रदेशों का चलनरूप व्यापार है तथा उपयोग आत्मा के चैतन्यस्वभाव

---

१. "शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदुःखपरिणामानाम्...।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा २७
२. वही/गाथा १०८
३. "पुद्‌गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं... ...।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८४
४. वही/गाथा १००
५. "इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का रागात्मक परिणाम है, अत: कदाचित् अज्ञानावस्था में वह इनका कर्त्ता होता है, किन्तु परद्रव्यात्मक कर्म का कर्त्ता कभी नहीं होता।''[१]

तात्पर्य यह कि जीव के योग और उपयोग घटादि कार्यों की उत्पत्ति के निमित्त कारण होते हैं।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है तथा लोक के पदार्थ ज्ञेयस्वभाव।[२] ज्ञानस्वभाव आत्मा के निमित्त से पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव परिणमित होता है, अर्थात् वे ज्ञानस्वभावात्मक आत्मा में प्रतिबिम्बित होते हैं। दूसरे शब्दों में, ज्ञेयों के आकार ज्ञान में झलकते हैं। तथा पदार्थों के निमित्त से आत्मा का ज्ञानस्वभाव परिणमित होता है, अर्थात् पदार्थों के आकारों को ग्रहण करता है, अपने में झलकाता है। इसे ज्ञान का ज्ञेयाकारमय परिणमन कहते हैं।[३]

धर्म, अधर्म आकाश और काल, ये द्रव्य क्रमश: जीव की गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्तना के निमित्त हैं।

चूँकि कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव के निमित्त से होता है, इसलिए कदाचित् एक जीव दूसरे जीव के क्रोधादि के उदय का निमित्त बन जाता है। बाह्य परिग्रह के निमित्त से जीव में मूर्च्छा की उत्पत्ति हो जाती है। क्षेत्रविशेष या कालविशेष भयादि कषाय की उत्पत्ति का निमित्त हो जाता है।

तथैव देव, शास्त्र और गुरु के निमित्त से जीव के मोहरागद्वेष का विलय होता है। कहा भी गया है —

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।[४]

—जो जिनशास्त्र से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा शुद्धात्मादि पदार्थों को जानता है, उसका मोह नियम से क्षीण होता है। अत: शास्त्रों का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। तथा —

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नम:।।

—जो अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे थे उनके नेत्रों को जिन्होंने ज्ञानरूपी

---

१. समयसार/आत्मख्याति, गाथा १००
२. "णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।" प्रवचनसार १/२८
३. "ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति, किन्तु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति।" वही/तत्त्वदीपिका १/२८ एवं ३६
४. प्रवचनसार, १/८६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंजन की शलाका से उन्मीलित कर दिया, उन श्रीगुरु को नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार परद्रव्यों के साथ आत्मा का कई प्रकार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्थापित होता है। इस सम्बन्ध की प्रतीति असद्भूतव्यवहारनय से होती है, क्योंकि यही नय परद्रव्यसम्बन्ध की दिशा से वस्तु का अवलोकन करता है। निश्चयनय की दृष्टि तो भिन्न वस्तुओं के मौलिक भेद पर ही जाती है, जिससे उसके अनुसार इस सम्बन्ध का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

परद्रव्यों के साथ संयोगसम्बन्ध का निश्चय

कर्मोदयवश जीव के साथ शरीर, पति-पत्नी, सन्तान, धन-सम्पत्ति, इन्द्रिय-विषय आदि बाह्य पदार्थों का संयोग होता है, जो जीव के मोहरागद्वेष के उदय तथा सुख-दुःखात्मक परिणति का निमित्त बनता है। संयोगसम्बन्ध का निरूपण आचार्यों ने इस प्रकार किया है —

पंथे पहियजणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं ।
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ ।।[१]

—जैसे मार्ग में पथिकों का क्षणमात्र के लिए संयोग होता है वैसे ही आत्मा के साथ (माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-मित्रादि) बन्धुजनों का संयोग अल्पकाल के लिए होता है।

जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं दिट्ठु ।।[२]

—हे जीव ! तू घर, परिवार, शरीर और मित्रादि को अपना मत समझ, क्योंकि योगियों ने आगम में यह बतलाया है कि इनका संयोग कर्माधीन है, अतः ये अनित्य हैं।

"दुक्खपडिकारहेदुदव्वसंपादयं कम्मं सादावेदणीयं णाम। दुक्खसमण-हेदुदव्वाणमवसारयं च कम्मासादावेदणीयं णाम।"[३]

— जो कर्म दुःख को रोकनेवाली सामग्री का संयोग कराता है उसे सातावेदनीय कहते हैं, जो उसका वियोग कराता है वह असातावेदनीय कहलाता है।

इस संयोगसम्बन्ध के अस्तित्व का बोध भी बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि से होता है।

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ८
२. परमात्मप्रकाश २/१२३
३. धवला १३/५, ५, ८८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परद्रव्य के साथ ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध का निश्चय

परद्रव्यों के साथ आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। निम्नलिखित आर्ष-वचनों से इस सम्बन्ध की वास्तविकता का बोध होता है —

"अहं हि तावज्ज्ञायक एव स्वभावेन। केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव सम्बन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः सम्बन्धाः।"[१]

— मैं तो स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। केवल ज्ञायक होने के कारण विश्व के साथ भी मेरा सहज ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध ही है, स्व-स्वामी आदि अन्य सम्बन्ध नहीं।

"ज्ञेयज्ञायकलक्षणसम्बन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वाद् उपात्तवैश्वरूप्यमपि ···।"[२]

— यद्यपि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध अनिवार्य होने के कारण आत्मा में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है, इसलिए आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है (तथापि अपनी ज्ञायकस्वभावरूप एकरूपता को नहीं छोड़ता)।

चूँकि परद्रव्य के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बाह्यसम्बन्ध है, इसलिए इसका प्रकाशन बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि (परद्रव्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहार-नय)[३] से होता है। मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से देखने पर परद्रव्य से असम्बन्ध का ही ज्ञान होता है, सम्बन्ध का नहीं। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवलीभगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।[४]

— केवली भगवान् समस्त पदार्थों को व्यवहारनय से जानते-देखते हैं और निश्चयनय से केवल स्वयं को जानते हैं।

परद्रव्य के साथ साध्यसाधकसम्बन्ध का निश्चय

जीवादि परद्रव्यो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का साधक है। परमार्थ देव, शास्त्र, और गुरु का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन का साधक है। जिनबिम्बदर्शन सम्यक्त्व का हेतु है। मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय सम्यक्त्व कां हेतु है, ज्ञाना-

---

१. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/१०८
२. वही
३. "उपचरितासद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकनं स्वसंवेद्यं प्रतिभाति।" परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका १/५
४. नियमसार/गाथा १५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वरण का क्षयोपशम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का हेतु है जो मोक्ष में सहायक हैं। देशनालब्धि (गुरु का उपदेश) सम्यग्दर्शन की साधक है। इन्द्रियाँ, प्रकाश, उपाध्याय आदि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साधक हैं।

बाह्य परिग्रह का त्याग मूर्च्छा-निरोध का साधक है। आहार एवं रस आदि का त्याग तप का साधक है। इन्द्रिय-विषयों का त्याग संयम का साधक है। परप्राण-व्यपरोपण, अदत्तादान, अप्रशस्तवचन एवं स्वस्त्री-परस्त्री का त्याग अहिंसादि व्रतों का साधक है। पंचपरमेष्ठी का चिन्तन आत्म-ध्यान का साधक है। शास्त्रों का अनुशीलन मिथ्यात्व और अज्ञान के निवारण का साधक है। देवशास्त्र-गुरु की भक्ति पापास्रव के निरोध की साधक है।

मोक्ष में सहायक इन भिन्न साधनों को जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से मोक्षमार्ग नाम दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि प्राथमिक साधक व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित भिन्नसाध्यसाधनभाव का अवलम्बनकर सुखपूर्वक मोक्षमार्ग में अवतरित हो जाते हैं —

"व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।"[१]

परद्रव्य के साथ आत्मा के इस साध्यसाधक-सम्बन्ध का ज्ञान बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी दृष्टि (परद्रव्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय) से अवलोकन करने पर होता है।

परद्रव्य के साथ आधाराधेयसम्बन्ध का निश्चय

लोकाकाश आधार है और जीव आधेय। कर्मभूमि और भोगभूमि आधार हैं, जीव आधेय। स्वर्ग, नरक और मध्यलोक आधार हैं, जीव आधेय। जीव आधार है और कर्म, नोकर्म (शरीर) आधेय। इसी कारण जीव में स्थित शरीर के वर्ण को देखकर 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने उपचार से कहा है।[२] इस प्रकार जीव और परद्रव्यों में आधार-आधेय सम्बन्ध है जो बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी दृष्टि से देखने पर ही अनुभव में आता है। मौलिक भेद का आश्रय लेने वाली निश्चयदृष्टि तो इसकी प्रतिषेधक है।

इस प्रकार के और भी अनेक बाह्य सम्बन्ध परद्रव्यों के साथ जीव के

---

१ पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका, गाथा १७२

२. "तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि ... ...।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ५८-६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते हैं। वे सब बाह्यसम्बन्धावलम्बिनी असद्भूतव्यवहारदृष्टि (असद्भूतव्यवहारनय) से देखने पर ही दिखाई देते हैं।

असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि असद्भूतव्यवहारनय का अवलम्बन कर शिष्यों को उपदेश देना क्यों आवश्यक है ? जिन प्रयोजनों से यह आवश्यक है उनकी यहाँ विस्तार से चर्चा की जा रही है।

संसारपर्याय का उपपादन

निरुपाधिक जीव (जीवनामक मूलपदार्थ) पर दृष्टि डालने से वह शरीर, कर्म और मोहरागादि भावों से रहित दिखाई देता है। अतः मूलपदार्थावलम्बी निश्चयनय से उपदेश देने पर जीव संसारी सिद्ध नहीं होता। जब सोपाधिक जीव को दृष्टि का विषय बनाया जाता है तभी वह शरीर से संश्लिष्ट, कर्मों से बद्ध और मोहरागादि-परिणाममय दृष्टिगोचर होता है। इसलिए सोपाधिकपदार्थावलम्बी असद्भूतव्यवहार-नयात्मक उपदेश से ही जीव की संसारपर्याय दृष्टि में आती है, जिसे जानकर जीव मोक्ष के लिए उद्यत होता है।

हिंसा के सद्भाव का उपपादन

बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से जीव और शरीर का संश्लेष-सम्बन्ध दृष्टि में आता है और उनमें जो कथंचित् अभेद है उसकी उपपत्ति होती है। इस कथंचित् अभेद से ही शरीरघात करने पर जीवघात घटित होता है और उससे हिंसा के पाप और कर्मबन्ध की युक्तिमत्ता सिद्ध होती है। यदि केवल मौलिकभेदप्रदर्शक निश्चयनय से उपदेश दिया जाय तो उससे जीव, शरीर से सर्वथा भिन्न सिद्ध होगा जिससे त्रस और स्थावर जीवों का निःशंक (प्रमत्तयोगपूर्वक) वध करने में जीवघात घटित नहीं होगा। अतः शरीरघात से जीवघात को सत्यता सिद्ध करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से भी उपदेश दिया है। इस बात का स्पष्टीकरण समयसार में किया गया है।

प्रश्न उठाया गया है कि यदि शरीरादि पदार्थ पुद्गलस्वभावात्मक हैं तो उन्हें जिनेन्द्रदेव ने जीव शब्द से सूचित क्यों किया है ? इसके उत्तर में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — जिनेन्द्रदेव ने शरीर और रागादि भावों से जीव के कथंचित् अभेद की प्रतीति कराने के लिए (बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूत) व्यवहारनय से उपदेश दिया है।[१] उनके अभिप्राय को आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित व्याख्यान में स्पष्ट किया है —

---

१. यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावस्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावा: जीवा इति यद् भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद् अपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभाव:। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभाव:।"[१]

—ये सभी अध्यवसानादि भाव (शरीरादि एवं रागादि) जीव हैं — ऐसा उपदेश सर्वज्ञ भगवान् ने इसलिए दिया है कि अभूतार्थ व्यवहारनय से घटित होने वाला आत्मा का संसारी रूप भी लोगों की दृष्टि में आ जाय, क्योंकि जैसे म्लेच्छभाषा म्लेच्छों को वास्तविक अर्थ का बोध कराने का साधन है वैसे ही व्यवहानय अपरमार्थ होते हुए भी व्यवहारियों (प्राथमिक भूमिका में स्थित साधकों) को परमार्थ का अवबोधक है। अतएव उन्हें मोक्षमार्ग में लगाने हेतु व्यवहारनय के पक्ष को दर्शाना न्यायोचित है।

यदि व्यवहारनय का आश्रय लेकर आत्मा की संसारपर्याय दृष्टि में न लायी जाय तो एकमात्र निश्चयनय पर आश्रित उपदेश से जीव और शरीर की मौलिक (स्वभावगत) भिन्नता ही दृष्टि में आयेगी, जिससे त्रस और स्थावर जीवों को नि:शंक होकर (प्रमत्तयोगपूर्वक) कुचलने-मसलने में भस्म को कुचलने-मसलने के समान हिंसा के अभाव का प्रसंग आयेगा और उससे बन्ध का अभाव सिद्ध होगा। इसी प्रकार आगम में कहा गया है कि जीव रागद्वेषमोहरूप से परिणमित होकर कर्मों से बँधता है, अत: उसे मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। किन्तु, यदि केवल निश्चयनय-सम्मत उपदेश देकर जीव को रागद्वेषमोह से सर्वथा पृथक् दर्शाया जाय तो (बद्ध सिद्ध न होने से) मोक्ष के उपाय का अवलम्बन औचित्यपूर्ण सिद्ध न होगा, जिससे मोक्षप्राप्ति असम्भव हो जायेगी।

आचार्य अमितगति ने भी कहा है —

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेका: ।
कायवधे हन्त कथं तेषां सञ्जायते हिंसा ।।[२]

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।। समयसार/गाथा ४६

१. वही/आत्मख्याति/गाथा-४६

२. अमितगतिश्रावकाचार ६/२१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—जो विवेकहीन पुरुष आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद बतलाते हैं, उनके मत में शरीर के वध से हिंसा कैसे घटित होगी ?

तात्पर्य यह कि जीव और शरीर में संश्लेषसम्बन्ध होने से उनमें जो एक विलक्षण अभेद है, उसे दर्शाने से ही लोग शरीर का घात करने में जीवघातरूप हिंसा मानेंगे। इसलिए संश्लेषसम्बन्धदर्शक व्यवहारनय से जीव के स्वरूप का प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है।

स्तेयादि के सद्भाव का उपपादन

मौलिकभेदावलम्बी निश्चयनय पर आश्रित उपदेश से जैसे जीव और शरीर के संश्लेषसम्बन्ध एवं तन्निमित्तक अभेद का निषेध होता है, वैसे ही परद्रव्य के साथ आत्मा के संयोगसम्बन्ध का भी निषेध होता है। फलस्वरूप जीव के साथ पति-पत्नी, सन्तान, धन-सम्पत्ति आदि का संयोग सिद्ध न होने से उनमें स्वस्वामिभाव का उपचार नहीं किया जा सकता और उपचार के अभाव में स्वकीय और परकीय का भेद घटित न होने से परद्रव्यहरणरूप चोरी तथा परस्त्री-परपुरुषगमनरूप व्यभिचार (अब्रह्म) आदि के पाप भी असत् हो जाते हैं। इन पापों की सत्ता बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय से उपदेश देने पर सिद्ध होती है, क्योंकि उसके द्वारा ही परद्रव्यों के साथ जीव का संयोगसम्बन्ध उपपन्न होता है।

बन्धमोक्ष की प्रक्रिया का उपपादन

अनादिबद्ध कर्मों के उदय से आत्मा मोहरागादिरूप परिणमित होता है। उससे नये कर्मों का बन्ध होता है। नये कर्म पुनः मोहरागादि के निमित्त बनते हैं। उनसे जीव फिर द्रव्यकर्मों के बन्धन में बँधता है। किन्तु जब वह सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है तब आत्मा के शुद्धभाव से नये कर्मपुद्गलों का आस्रव रुकता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। इस रीति से जब आत्मा से संश्लिष्ट सभी पुद्गल कर्म पृथक् हो जाते हैं तब वह मुक्त हो जाता है। आत्मा और पुद्गल के निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पर आश्रित बन्ध और मोक्ष की इस प्रक्रिया पर प्रकाश निश्चयनयात्मक उपदेश से नहीं पड़ सकता, क्योंकि निश्चयनय आत्मा और परद्रव्य के मौलिक भेद का अवलम्बन कर आत्मा का प्रतिपादन करता है। अतः उससे आत्मा और परद्रव्य का सर्वथा असम्बन्ध ही सिद्ध होता है। जब बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय के आश्रय से उपदेश दिया जाता है तभी बन्ध और मोक्ष की उपर्युक्त प्रक्रिया उपपन्न होती है।

मोक्ष की आवश्यकता का उपपादन

जीव की निरुपाधिक अवस्था पर दृष्टिपात करने से वह कर्मों से अबद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और मोहरागादिशून्य दिखाई देता है, इसलिए निरुपाधिकपदार्थावलम्बी (मूलपदार्थावलम्बी) निश्चयनय पर आश्रित उपदेश से मोक्ष की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। जब सोपाधिक अवस्था का अवलोकन करते हैं तभी जीव की कर्मबद्धता और मोहरागात्मक परिणति सत्य सिद्ध होती है। अत: सोपाधिकपदार्थावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयसम्मत उपदेश से ही मोक्ष की आवश्यकता उपपन्न होती है।

मोक्षमार्ग की साध्यता का उपपादन

शुद्धोपयोग मोक्षमार्ग है। अशुभोपयोग उसके मार्ग की प्रबल बाधा है। वह शुद्धोपयोग को असाध्य बनाता है। शुभोपयोग अशुभोपयोग का निरोध कर शुद्धोपयोग के मार्ग की बाधा दूर करता है, जिससे वह साध्य हो जाता है। शुभोपयोग जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान, तत्त्वाभ्यास, अरहन्तादि की भक्ति, इन्द्रियविषयपरित्याग, जीव-रक्षा आदि परद्रव्याश्रित प्रवृत्ति से साध्य होता है। इस तरह परद्रव्य के साथ जीव का साध्यसाधक सम्बन्ध है।

किन्तु मौलिकभेदावलम्बी निश्चयनय इस सम्बन्ध का निषेध करता है, जिससे साधन के निषेध से मोक्षमार्ग की साध्यता का भी निषेध हो जाता है। इस प्रकार निश्चयनयात्मक उपदेश से मोक्षमार्ग असाध्य सिद्ध होता है। किन्तु वह असाध्य नहीं है, साध्य ही है। बस इतना है कि उसकी साध्यता का उपपादन बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से होता है।

सर्वज्ञत्व का उपपादन

आत्मा और परद्रव्यों में तादात्म्य-सम्बन्ध न होने से मौलिकरूप से भेद है, अत: मौलिकभेदावलम्बी निश्चयनय उनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भी निषेधक है। फलस्वरूप निश्चयनयात्मक उपदेश से केवली भगवान् सर्वज्ञ (समस्त परद्रव्यों को जानने वाले) भी सिद्ध नहीं होते। उनका सर्वज्ञ होना बाह्यसम्बन्धावलम्बी असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश से सिद्ध होता है।

धर्मादि द्रव्यों के लक्षण का उपपादन

निश्चयनय परद्रव्यसम्बन्ध-प्रतिषेधक है, अत: तदाश्रित उपदेश से धर्म, अधर्म, आकाश और काल के लक्षण उपपन्न नहीं होते, क्योंकि उनके लक्षण परद्रव्यसम्बन्धात्मक हैं, जैसे धर्मद्रव्य का लक्षण है जीव और पुद्गल की गति का हेतु होना और अधर्मद्रव्य का लक्षण है उनकी स्थिति का निमित्त होना। निश्चयनयात्मक उपदेश से ज्ञानावरणादि कर्मों के लक्षण भी घटित नहीं होते, क्योंकि ये भी परद्रव्यसम्बन्धपरक हैं। उदाहरणार्थ, जीव के ज्ञानगुण को आवृत करना ज्ञानावरण का लक्षण है और दर्शन को आवृत करने वाला दर्शनावरण कहलाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। जीव के श्रद्धा और चारित्र गुणों को विपरीत बनाने वाले कर्म का नाम मोहनीय है। जीव के साथ दु:खोपशामक सामग्री का संयोग कराना सातावेदनीय का लक्षण है और दु:खोत्पादक सामग्री का सान्निध्य प्राप्त कराना असातावेदनीय का। इन समस्त द्रव्यों और कर्मों के लक्षण तभी उपपन्न होते हैं जब परद्रव्यसम्बन्धदर्शक असद्भूतव्यवहारनय से व्याख्यान किया जाय।

इन प्रयोजनों का साधक होने से असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और मोक्ष की सिद्धि में कितना महत्त्व रखता है, यह उपर्युक्त समीक्षा से भलीभाँति हृदयंगम हो जाता है।

अभूतार्थता का अभिप्राय

आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है — "ववहारोऽभूयत्थो।"[१] व्यवहारनय में असद्भूतव्यवहारनय भी गर्भित है और असद्भूतव्यवहारनय में सोपाधिक पदार्थ तथा परद्रव्यसम्बन्ध जैसे वास्तविक विषयों का अवलम्बन करने वाला असद्भूतव्यवहारनय भी शामिल है। यहाँ विचारणीय है कि इस नय के सन्दर्भ में अभूतार्थता का क्या अभिप्राय है ? अभूतार्थ का शाब्दिक अर्थ है ऐसा पदार्थ जो स्वाभाविक या मौलिक नहीं है, जो परद्रव्यसंयोग से निष्पन्न है या जिसमें परद्रव्यसम्बन्ध दिखाई देता है, अथवा जिसमें गुणपर्यायरूप भेद दृष्टिगोचर होता है, या जिसके लिए किसी अन्य का नाम दिया गया है।

यहाँ विचार करने पर स्पष्ट होता है कि यद्यपि सोपाधिक पदार्थ तथा परद्रव्यसम्बन्ध वास्तविक हैं, इनका अवलम्बन करके वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के कारण इस असद्भूतव्यवहारनय का निर्णय असत्य नहीं है, तथापि इसके द्वारा मूलपदार्थ, मूलस्वभाव और मौलिकभेद का प्रकाशन नहीं होता, जो भूतार्थ का स्वरूप है, इसलिए भूतार्थ का प्रकाशक न होने से अभूतार्थ है। किन्तु केवल इसी अपेक्षा से अभूतार्थ है। आत्मा की सोपाधिक अवस्था वास्तविक है, परद्रव्य से आत्मा के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वास्तविक हैं। अतः इनका प्रकाशक होने की अपेक्षा भूतार्थ है।

---

१. समयसार/गाथा ११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ अध्याय

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय

(उपचारावलम्बिनी व्यवहारदृष्टि)

उपचार का अर्थ है अन्य वस्तु के धर्म को अन्य पर आरोपित करना।[1] अन्य वस्तु का धर्म उसके वाचक शब्द के द्वारा आरोपित किया जाता है। अत: अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग करना अर्थात् एक वस्तु को दूसरी वस्तु के नाम से संकेतित करना उपचार कहलाता है।[2] यह असद्भूतव्यवहारनय का एक भेद है।

उपचार एक लोकव्यवहार

उपचार एक लोकव्यवहार है। लोक में किसी बालक के क्रूरता, पराक्रम आदि गुणों के अतिरेक को द्योतित करने के लिए उसे उपचार से सिंह कहा जाता है — 'सिंहो माणवक:'। किसी मनुष्य के जड़ता-मन्दता आदि धर्मों की अधिकता दर्शाने के लिए उसे 'बैल' शब्द से पुकारा जाता है — 'गौर्वाहीक:' (हलवाहा बैल है)। आयुवर्धन (स्वास्थ्यवर्धन) में घी की अमोघशक्ति का अनुभव कराने के प्रयोजन से घी के लिए 'आयु' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है — 'आयुर्घृतम्'। इसी युक्तिमत् लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए जिनेन्द्रदेव ने प्रयोजन-विशेष से शरीर तथा रागादि को 'जीव' शब्द से वर्णित किया है, शरीर के वर्णादि को जीव के वर्णादि की संज्ञा दी है, जीव को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नाम दिया है, सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग में मोक्षमार्ग शब्द का उपचार किया है। इसी प्रकार के अन्य अनेक औपचारिक प्रयोग किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं —

"जैसे लोक में सेना के साथ जाते हुए राजा को देखकर उस सम्पूर्ण सेना को 'राजा जा रहा है' ऐसा उपचार से कहा जाता है, यद्यपि उसमें राजा एक ही होता है, वैसे ही जीव के साथ जितने भी शरीर, राग, द्वेष, मोह आदि भाव दिखाई

---

१. "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार:। असद्भूतव्यवहार एवोपचार:।" आलापपद्धति/सूत्र २०७-२०८

२. (क) "मञ्चा: क्रोशन्ति इति तात्स्थ्यात् तच्छब्दोपचार:।" श्लोकवार्तिक २/१/६/५६
(ख) "गुणसहचारित्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते।" धवला १/९/१६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देते हैं, उन सबके लिए सूत्र (आगम) में उपचार से 'जीव' शब्द का प्रयोग किया गया है, यद्यपि उनमें जीव शुद्धचैतन्यभाव मात्र होता है।''[१] तथा ''जैसे किसी मार्ग में लोगों को लुटता हुआ देखकर 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा लोग उपचार से कहते हैं, वैसे ही जिनेन्द्रदेव ने जीव में स्थित कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा उपचार से कहा है।''[२]

निमित्त और प्रयोजन पर आश्रित

अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के नाम का उपचार किसी निमित्त और प्रयोजन के होने पर ही होता है, जैसा कि कहा गया है — ''मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने चोपचारः प्रवर्तते।''[३]

उदाहरणार्थ, राजा और सेना का साहचर्यसम्बन्ध सेना में राजा शब्द के उपचार का निमित्त है और प्रयोजन है राजा के प्रभुत्व और बल की प्रतीति कराना तथा शरीर और जीव का संश्लेष-सम्बन्ध शरीर के लिए जीव शब्द के औपचारिक प्रयोग का निमित्त है और यह इस प्रयोजन से किया जाता है कि जीव और शरीर के उस विलक्षण अभेद की प्रतीति हो जाय जिसके कारण शरीर के छेदन-भेदन से जीव को पीड़ा होती है और हिंसा का पाप घटित होता है।[४] इसी प्रकार 'यह मार्ग लुटता है' यहाँ मार्गस्थ लोगों में मार्ग शब्द का उपचार आधार-आधेय सम्बन्ध के कारण सम्भव होता है और इससे यह ध्वनित किया जाता है कि मार्ग लुटेरों के लिए सुवधिाजनक है और इसमें पथिक नित्य और निश्चित रूप से लूटे जाते हैं तथा 'यह जीव का वर्ण है' यहाँ शरीर में जीवत्व का उपचार भी आधार- आधेय सम्बन्ध के निमित्त से सम्भव हुआ है[५] और ऐसा प्रयोग जीव और शरीर के उपर्युक्त

---

१. राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।।
एवमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।। समयसार/गाथा ४७-४८

२. पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।। वही/गाथा ५८-५९

३. आलापपद्धति/सूत्र २१२

४. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

५. ''तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि।'' वही/गाथा ५८-६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभेद का अनुभव कराने के लिए किया गया है।

व्याकरण और काव्यशास्त्र में उपचार

उपचार की मीमांसा व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र में भी की गयी है। काव्यशास्त्र में इसे शब्द का लाक्षणिक प्रयोग कहा जाता है — "लक्षणया शब्दप्रयोग:।"[१] यह दो प्रकार का होता है — रूढ़ एवं सप्रयोजन। जैसे "कर्मणि कुशल:"[२] (कार्य में दक्ष) यहाँ 'कुशल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'हाथों को क्षति पहुँचाये विना कुशों को तोड़ने वाला।' किन्तु कुशों को इस प्रकार तोड़ने में जो दक्षता आवश्यक है उससे साधर्म्य होने के कारण किसी भी कार्य को दक्षतापूर्वक सम्पन्न करनेवाले के अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) हो गया है। इस रूढ़ि के कारण 'कुशल' शब्द 'दक्ष' अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'दक्ष' अर्थ में 'कुशल' शब्द के प्रयोग का कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु 'सिंहो माणवक:' यहाँ 'बालक' के अर्थ में 'सिंह' शब्द का प्रयोग रूढ़ि के कारण नहीं किया गया है (क्योंकि वह 'बालक' के अर्थ में रूढ़ है ही नहीं), अपितु बालक के सिंहसदृश क्रौर्य-शौर्यादि गुणों के अतिशय की प्रतीति कराने के प्रयोजन से किया गया है।[३]

जैनसिद्धान्त में लक्षणा द्वारा शब्दप्रयोग (उपचार) सप्रयोजन होता है, जैसा कि पूर्व में कहा गया है। यद्यपि आगम में जो औपचारिक प्रयोग सप्रयोजन होते हैं, वे लोक में अनादि से रूढ़ भी हैं, तथापि आगम में रूढ़ि के कारण नहीं, अपितु प्रयोजनवश ही उनका प्रयोग हुआ है, क्योंकि आगम में प्रयोजन के बिना अन्य के लिए अन्य के शब्द का प्रयोग करने की कोई उपयोगिता नहीं है, उलटे अन्यथाबुद्धि उत्पन्न होने का ही खतरा है। लोक में अज्ञानतावश शरीरादि को जीव कहने की अनादिपरम्परा है, किन्तु जिनेन्द्रदेव ने इस परम्परावश शरीरादि के लिए जीव शब्द प्रयुक्त नहीं किया है, अपितु प्रयोजनवश किया है। इसे आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार में स्पष्ट किया है। प्रश्न किया गया है कि जब शरीरादि अध्यवसानभाव जीव नहीं हैं तब उन्हें सर्वज्ञ भगवान् ने जीव क्यों कहा है ?[४] इसके समाधान में आचार्य कुन्दकुन्द के भाव को स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने बतलाया है कि जीव और शरीर में एक ऐसा विलक्षण अभेद है, जिसके

---

१. काव्यप्रकाश, २/१४

२. वही, २/९

३. "प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्।" काव्यप्रकाश, २/१४

४. "यद्यध्यवसानादय: पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् ... ...।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण शरीर के घात से जीवघातरूप हिंसा का पाप सम्भव होता है, उसका बोध कराने के प्रयोजन से जिनेन्द्र भगवान् ने शरीर को जीव शब्द से अभिहित किया है। यदि इस विलक्षण अभेद का बोध न कराया जाय और स्वभावगत भिन्नता ही दर्शायी जाय तो शरीर के घात से जीवघातरूप हिंसा घटित नहीं होगी। फलस्वरूप कर्मबन्ध भी घटित नहीं होगा। तब लोग निःशंक होकर प्राणियों का वध करेंगे और कर्मबन्ध करते रहेंगे, कभी मुक्त न हो पायेंगे।[1] इस कारण जिनेन्द्रदेव ने प्रयोजनवश ही शरीर में जीव शब्द का उपचार किया है।

सार यह कि जिन वस्तुओं में परस्पर संश्लेष, संयोग, साहचर्य, सामीप्य, आधाराधेय, निमित्तनैमित्तिक, कारण-कार्य आदि सम्बन्ध होते हैं उन्हीं में से एक को दूसरे के नाम से अभिहित किया जाता है[2] और ऐसा किसी प्रयोजन से ही किया जाता है, बिना प्रयोजन के नहीं। बिना प्रयोजन के ऐसा करने पर अज्ञानमय व्यवहार कहलाता है।

उपचार कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, अपितु लोकप्रसिद्ध कथनशैली है।[3] वक्ता उपयुक्त अर्थ में ही उपचार का प्रयोग करता है और श्रोता भी उससे उपयुक्त अर्थ ही ग्रहण करता है। जब कोई वक्ता कहता है कि 'यह लड़का गधा है' तो वह 'गधा' शब्द का प्रयोग 'गधा' नामक पशु के अर्थ में नहीं करता, बल्कि 'अत्यन्त मूर्ख' के अर्थ में करता है तथा श्रोता भी उससे मूर्ख अर्थ ही ग्रहण करता है, 'गधा' अर्थ नहीं। इसलिए यह प्रामाणिक कथनशैली है।[4] इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए इसका अनुसरण किया है। यद्यपि लौकिक जन लोक-प्रचलित उपचारकथन के उपयुक्त अर्थ को तो अनायास ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु आगम में प्रयुक्त उपचार-वचनों के उपयुक्त अर्थ को सरलतया ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है। इसलिए जिनेन्द्र भगवान् ने आगमवचनों के हार्द को समझने के लिए सर्वप्रथम नयों के अभिप्राय को हृदयंगम कर लेना आवश्यक बतलाया है। कौन-

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

२. "सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः .... इत्युपचरितासद्भूतव्यवहानयस्यार्थः।"
आलापपद्धति/सूत्र २१३

३. "नेयमदृष्टकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात्।"
धवला पुस्तक १, सूत्र ४, पृ० १३५

४. "जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि, सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्गः।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३५६-३६५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सा कथन किस नय से अर्थात् किस अपेक्षा से किया गया है यह समझ लेने पर ही उपचार-कथन के उपयुक्त अर्थ को ग्रहण कर पाना सम्भव है।

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

निश्चयनय (नियतस्वलक्षणावलम्बिनी निश्चयदृष्टि) के प्रकरण में प्रसंगवश उन पदार्थों का वर्णन किया गया है, जिन्हें जिनेन्द्रदेव ने नियतस्वलक्षण के अभाव में भी निमित्त और प्रयोजनवश उपचार से जीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, मोक्षमार्ग, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि संज्ञाएँ दी हैं। यहाँ प्रसंगवश उनका पुनः उल्लेख करते हुए उपचार से दी गयी उन संज्ञाओं के निमित्त और प्रयोजन का विश्लेषण किया जा रहा है और यह दर्शाया जा रहा है कि जिस वस्तु के लिए उपचार से अन्य वस्तु के वाचक शब्द (नाम) का प्रयोग किया गया है उस वस्तु के किस वास्तविक धर्म को उस शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के द्वारा द्योतित किया गया है ? इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय का अवलम्बन कर उपदेश देने के प्रयोजन क्या हैं ?

अननुभूत अतीन्द्रिय तत्त्व का द्योतन

जो मनुष्य किसी अतीन्द्रिय वस्तु के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ है, उसे उसका स्वरूप केवल वर्णन करके नहीं समझाया जा सकता। उसका कोई दृष्टि में आनेवाला स्थूल रूप होता है तो उसके द्वारा समझाना सरल होता है, क्योंकि उसमें प्रस्तुत वस्तु के धर्म झलकते हैं। जैसे जीव एक अतीन्द्रिय तत्त्व है। उसके स्वरूप का प्रतिपादन केवल वर्णन के द्वारा सम्भव नहीं है। किन्तु शरीर के संयोग से उसकी जो मनुष्यादि स्थूल पर्याएँ होती हैं, वे सबके अनुभव में आती हैं। उनमें जीव के धर्म झलकते हैं। अतः उन पर्यायों को जीव का नाम देकर 'मनुष्य जीव है', 'पशु-पक्षी जीव हैं' ऐसा बतलाने से जीव के धर्मों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है और यह समझ में आता है कि जीव एक ऐसा तत्त्व है जो जानता-समझता है, सुख-दुःख अनुभव करता है और अपने आप विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ करता है, वह लकड़ी-पत्थर आदि पदार्थों से भिन्न है।[१] यद्यपि इस प्रकार जीव का स्पष्टरूप से बोध नहीं होता, उसकी पर्याय का ही बोध होता है, तथापि यह जीव के स्वरूप को हृदयंगम कराने का प्राथमिक उपाय है।[२] पर्याय का बोध कराने के बाद ही यह स्पष्ट किया

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/सातवाँ अधिकार/पृ० २५२

२. एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं वहुगेहिं ।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ।। पञ्चास्तिकाय/गाथा १२३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा सकता है कि इन मनुष्यादि पदार्थों में जो जानने-समझने, सुख-दुःखादि अनुभव करने तथा विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ करने की शक्ति है, वही जीव है, यह आँखों से दिखाई देने वाला शरीर जीव नहीं है।[१] इस प्रकार ज्ञानी उपदेष्टा जीव की देहसंयोगजन्य मनुष्यादि पर्यायों में 'जीव' शब्द का उपचार कर अज्ञ शिष्यों को उसके स्वरूप का आभास कराते हैं।

अभेदविशेष का द्योतन

जीव और शरीर सर्वथा भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु संसारावस्था में नीर-क्षीर के समान अत्यन्त मिश्रित हैं। उनके प्रदेश एक-दूसरे से इतने संश्लिष्ट हैं कि देह के परमाणुओं में चेतना का अनुभव होता है, जिससे देह के छेदन-भेदन से जीव को दुःख की अनुभूति होती है तथा देह के साथ विषयों का सम्पर्क होने से सुख का वेदन होता है। इस तरह सर्वथा भिन्न द्रव्य होते हुए भी जीव और देह में एक प्रकार का अभेद है। यह एक विलक्षण अभेद है जो एकद्रव्यरूप न होते हुए भी एक-द्रव्य-सदृश है। इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने जीव और शरीर में न सर्वथा भेद बतलाया है, न सर्वथा अभेद, अपितु कथंचित् भेदाभेद बतलाया है। इस अभेदविशेष की प्रतीति शरीर के लिए उपचार से 'जीव' संज्ञा का प्रयोग करने पर ही हो पाती है और इस रीति से अभेदविशेष की प्रतीति होने पर ही शरीरघात से जीवघातरूप हिंसा घटित होती है, अन्यथा नहीं। अत: इसी प्रयोजन से जिनेन्द्रदेव ने शरीर में 'जीव' शब्द का उपचार किया है।[२]

इसी प्रकार अपनी मोहरागद्वेषरूप अशुद्धपर्याय के साथ जीव के अभेद की अनुभूति कराने के लिए जीवसंयुक्त मोहरागद्वेष में जीव संज्ञा का उपचार किया गया है। ऐसा न करने पर रागादि के साथ जीव का अभेद सिद्ध नहीं होगा, जिससे कर्मबन्ध भी घटित नहीं होगा और कर्मबन्ध के अभाव में मोक्ष का उपदेश भी निरर्थक ठहरेगा।[३]

लौकिक सम्बन्ध का द्योतन

संसारावस्था में जीव के साथ शरीर, स्त्री-पुरुष, सन्तान, धन-सम्पत्ति आदि

---

१. णहि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति ।।
पञ्चास्तिकाय/गाथा १२१
जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो ।
कुव्वति हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ।। वही/गाथा १२२

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

३. वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन परद्रव्यों का संयोग होता है, उनके साथ लौकिक सम्बन्ध का द्योतन करने के लिए जीव और परद्रव्यों में स्व-स्वामिसम्बन्ध का उपचार किया गया है। ऐसा करने पर ही निजदेह-परदेह, निजधन-परधन, स्वस्त्री-परस्त्री आदि का भेद निर्धारित होता है और इस भेद पर ही पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व निर्भर है। जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार का भेद करके व्रत, दान, पाप, पुण्य आदि के लक्षण निर्धारित किये हैं।

यदि स्वकीय-परकीय का भेद न किया जाय तो अशुचित्व भावना का जो 'स्वदेह और परदेह से विरक्त होकर आत्मस्वरूप में लीन रहना' लक्षण बतलाया गया है, वह असत्य हो जायेगा,[१] 'स्वशरीरसंस्कारत्यागरूप ब्रह्मचर्यरक्षक भावना'[२] सत्य सिद्ध न होगी, परधनहरणरूप चोरी का पाप झूठा ठहरेगा, स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्तिरूप ब्रह्मचर्याणुव्रत[३] की सत्ता न रहेगी, तथा अपने और दूसरे के उपकार के लिए स्ववस्तुत्यागरूप दान[४] का लक्षण घटित न होगा। फलस्वरूप पाप-पुण्य और बन्ध-मोक्ष की सारी व्यवस्था ही धराशायी हो जायेगी और मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जायेगा। अत: तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त आत्मा और तत्संयुक्त परद्रव्यों में स्वस्वामिसम्बन्ध का उपचार अत्यन्त आवश्यक है।

बन्धमोक्ष में जीव-स्वातन्त्र्य का द्योतन

जीव के शुभाशुभ परिणाम पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप-परिणमन में प्रेरक हैं।[५] जब वह शुभाशुभ परिणाम करता है तभी पुद्गलपरमाणु कर्म बनकर जीव से संश्लिष्ट होते हैं, अपने आप नहीं। इस प्रकार अपने को कर्मबद्ध करने में जीव स्वतन्त्र है। वह चाहे तो शुभाशुभ परिणामों का निरोधकर स्वयं को कर्मबन्धन से बचा सकता है और मोक्ष पा सकता है। स्वातन्त्र्य का भाव 'कर्त्ता' शब्द में गर्भित है। कहा भी गया है — 'स्वतन्त्र: कर्त्ता।'[६] अत: बन्ध और मोक्ष के कार्य में जीव

१. जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्पसरूवसुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ८७

२. "स्त्रीरागकथाश्रवण .... स्वशरीरसंस्कारत्यागा: पञ्च।"
तत्त्वार्थसूत्र/सप्तम अध्याय/सूत्र ३८

३. "ब्रह्मचर्यं स्वदारसन्तोष: परदारनिवृत्ति:, कस्यचित् सर्वस्त्रीनिवृत्ति:।"
चारित्तपाहुड/श्रुतसागरटीका/गाथा २१

४. "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।" तत्त्वार्थसूत्र/सप्तम अध्याय/सूत्र ३८

५. (क) "क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणा: पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति।"
सर्वार्थसिद्धि/पञ्चम अध्याय/सूत्र १७

(ख) "जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामै: क्रियन्ते इति कर्माणि।"
आप्तपरीक्षा/कारिका ११५

६. अष्टाध्यायी १/२/४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के स्वातन्त्र्य का द्योतन करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने उसे उपचार से पुद्गल कर्मों के कर्त्ता की संज्ञा दी है,[१] जिससे जीव अपने बन्ध और मोक्ष में स्वयं को उत्तरदायी अनुभव कर कर्मबन्धन से बचने के लिए शुभाशुभपरिणामों से निवृत्त होने का पौरुष करे। पुद्गल द्रव्य के कर्मरूपपरिणमन में प्रयोजक होने की अपेक्षा जीव पुद्गलकर्मों का कर्त्ता है ही।[२] इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने जीव को परद्रव्य का निमित्तरूपेण कर्त्ता कहा है।[३]

विषयभोक्तृत्व का उपपादन

पौद्गलिक इन्द्रियविषयों के साथ चेतन आत्मा का संसर्ग (तन्मयत्व) नहीं हो सकता, अतः आत्मा परमार्थतः इन्द्रियविषयों का भोक्ता नहीं है। शरीर या इन्द्रियों के साथ जो विषयों का संसर्ग होता है उसके निमित्त से होनेवाले सुख-दुःख का भी वह परमार्थतः अभोक्ता है, क्योंकि वे सुख-दुःख जीव की पुद्गलसंयुक्त अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं, फलस्वरूप उनका भोक्ता अशुद्ध (सोपाधिक) जीव होता है।

किन्तु जैसा कि पूर्व में निरूपित किया गया है जीव और शरीर में कथंचित् अभेद है, इसलिए जैसे शरीरघात से जीवघात घटित होता है वैसे ही शरीर के साथ विषयसम्पर्क होने से जीव के साथ विषयसम्पर्क घटित होता है। जैसे शरीर के छेदन-भेदन से आत्मा को पीड़ा के रूप में छेदन-भेदन का आस्वादन होता है वैसे ही इन्द्रियों के साथ विषयसंसर्ग होने पर जीव को सुख-दुःख के रूप में विषयों के रस का आस्वादन होता है। इसलिए भगवान् ने उपचार से जीव को विषयों के भोक्ता की संज्ञा दी है, और विषयों को भोग्य की। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित वक्तव्यों में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव चेतन-अचेतन द्रव्यों का भोक्ता कहा गया है —

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।।[४]

— सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन, अचेतन तथा अन्य द्रव्यों का जो उपभोग करता है वह सब उसके लिए निर्जरा का निमित्त बनता है।

---

१. "कत्ता, भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।" नियमसार/गाथा १८

२. "तत्प्रयोजको हेतुश्च" (कर्त्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात्)।
अष्टाध्यायी, १/४/५५

३. "अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा १००

४. वही/गाथा १९३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ।।[1]

—परद्रव्य का उपभोग करने से जीव को नियम से सुख-दुःख की अनुभूति होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सुख-दुःख में राग-द्वेष नहीं करता, अपितु उन्हें अरतिपूर्वक भोगता है, इसलिए वह निर्जरा का निमित्त बन जाता है।

यदि जीव को उपचार से विषयों का भोक्ता न कहा जाय तो परमार्थतः विषयों का भोक्ता न होने से विषयाश्रित सुख-दुःख का भोक्ता भी सिद्ध न होगा। जब किसी भी नय से ज़ीव के साथ विषयों का सम्पर्क घटित नहीं हो सकता तब विषयसम्पर्क के अभाव में जीव की सुखदुःखात्मक परिणति कैसे घटित हो सकती है ? हाँ, यदि वह उपचार से विषयों का भोक्ता सिद्ध हो तो (अशुद्ध) निश्चयनय से विषयाश्रित सुख-दुःख का भोक्ता सिद्ध हो सकता है। किसी भी नय से जीव का विषयभोक्तृत्व उपपन्न न होने पर शरीर ही विषयों का भोग करनेवाला ठहरेगा। इस स्थिति में प्रयत्नपूर्वक विषयसामग्री जुटाते हुए तथा उसका इन्द्रियों से संयोग कराते हुए और तन्निमित्तक सुख-दुःख भोगते हुए भी जीव विषयभोग करनेवाला सिद्ध नहीं होगा। इससे कर्मबन्ध भी घटित नहीं होगा, जिससे विषयभोग करते हुए भी मोक्ष होने का प्रसंग आयेगा।

उपचार से (जीव और शरीर में कथंचित् अभेद होने की अपेक्षा) भी जीव को विषयों का भोक्ता न मानने के कारण कुछ लोग प्रतिपादित करते हैं कि विषय-भोग तो जड़ शरीर की क्रिया है, आत्मा की नहीं और इस विपरीत श्रद्धान से वे स्वच्छन्द होकर विषय-भोग करते हैं और अपने को कर्मबन्ध का अभाव मानते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जिनेन्द्रदेव ने जीव और शरीर में सर्वथा भेद मानने को एकान्त मिथ्यात्व कहा है और कथंचित् अभेद के श्रद्धान का उपदेश दिया है। अतः कथंचित् अभेद का श्रद्धान होने पर विषयभोग जड़शरीर की क्रिया नहीं, अपितु सजीव शरीर अथवा सशरीर जीव की क्रिया सिद्ध होता है। वैसे भी निर्जीव शरीर विषयभोग करने में समर्थ नहीं है।

उपचार से जीव को विषयों का भोक्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान सर्वथा असत्य वचन नहीं है, अपितु यह कथन जीव और शरीर के कथंचित् अभेद की सत्यता पर आश्रित है, अतः सत्यवचन है। अन्तर केवल यह है कि यह पारमार्थिक सत्य नहीं है, अपितु व्यावहारिक सत्य है। इस सत्य की अनेकान्त-सिद्धान्त में कितनी मान्यता है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता

१. समयसार/गाथा १९४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि जीव को उपचारमूलक व्यवहारनय से विषयों का भोक्ता न मानने पर भयंकर अनर्थ हो सकता है। जिस प्रकार जीव को देह से सर्वथा भिन्न बतलाना अनर्थकारी है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों का सर्वथा अभोक्ता घोषित करना भी अत्यन्त घातक है। केवल निश्चयनय का उपदेश जीव को पाप-मार्ग में घसीटकर ले जा सकता है। कारण यह है कि निश्चयनय के अनुसार तो जीव परद्रव्य का भोग कर ही नहीं सकता, क्योंकि परद्रव्य के साथ तन्मय (परद्रव्यमय) नहीं होता। अब यदि इसी उपदेश को जीव ने सर्वथा सत्य मान लिया, तो विषयभोग में आकण्ठ मग्न रहते हुए भी अपने को भोगी या असंयमी नहीं मानेगा, जड़ शरीर को ही विषयभोग का कर्त्ता मानेगा। इस भ्रम में रहते हुए वह निरन्तर कर्मबन्ध करता रहेगा और कभी मुक्त न हो पायेगा।

जीव के द्वारा विषयों का भोग किया जाना यदि सर्वथा असत्य हो, तो संयम और तप की सिद्धि के लिए विषयों के त्याग का उपदेश भी मिथ्या हो जायेगा। जिनेन्द्रदेव ने निश्चयमोक्षमार्ग को साध्य बनाने के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग के रूप में विषयों से निवृत्तिरूप इन्द्रिय-संयम, स्वदार-परदारनिवृत्तिरूप ब्रह्मचर्य, आहार एवं रसपरित्यागादिरूप तप, भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिसीमनरूप भोगोपभोग-परिमाण अणुव्रत, बाह्यवस्तुपरित्यागरूप बाह्य अपरिग्रह इत्यादि के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। इन समस्त मोक्षोपायों में विषयों के परित्याग का उपदेश है। यदि जीव के द्वारा विषयभोग किया जाना सर्वथा असत्य हो तो इन समस्त व्यावहारिक मोक्षोपायों का उपदेश असत्य ठहरेगा। इनके असत्य ठहरने पर निश्चयमोक्षमार्ग एक असाध्य और काल्पनिक वस्तु सिद्ध होगा। किन्तु सर्वज्ञ भगवान् का उपदेश मिथ्या नहीं है, इससे स्पष्ट है कि जीव का कथंचित् विषयों का भोक्ता होना सत्य है। इस सत्य को दर्शाने के लिए ही भगवान् ने जीव को उपचार से 'विषयों का भोक्ता' एवं विषयों को 'भोग्य' संज्ञा दी है।

संयोग-वियोग-प्रयोजकत्व का द्योतन

जीव स्वपरिणाम में ही व्याप्त होता है और स्वपरिणाम से ही निवृत्त होता है, इसलिए स्वपरिणाम का ही मुख्यत: ग्राहक और त्याजक है।[१] परद्रव्य परिणाम में व्याप्त नहीं होता (परद्रव्यपरिणाममय नहीं होता), इसलिए उससे निवृत्त भी नहीं होता। अत: निश्चयनय से परद्रव्य का ग्राहक-त्याजक नहीं है।[२] तथापि संसारी

१. "तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्त-मपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयम्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा २९४

२. "सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/९४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव अपने साथ परद्रव्य के संयोग और वियोग की इच्छा (उपयोग) तथा तदनुकूल शारीरिक व्यापार को प्रेरित करनेवाली आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप चेष्टा (योग) करता है, जिससे उसके साथ परद्रव्य का संयोग-वियोग होता है। इस तरह जीव अपने साथ परद्रव्य के संयोग-वियोग का प्रयोजक है, अर्थात् परद्रव्य संयोग-वियोग जीव के अधीन है। प्रयोजकत्व का यह भाव ग्राहक-त्याजक शब्दों के अर्थ में गर्भित है। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने इस भाव की प्रतीति कराने के लिए जीव में परद्रव्यग्राहक एवं परद्रव्यत्याजक संज्ञाओं का उपचार किया है। इस तरह के उपचार द्वारा सर्वज्ञ ने जो उपदेश दिया है उसे आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शब्दों में निबद्ध किया है —

"नग्न मुद्रा के धारक मुनि तिलतुषमात्र भी परिग्रह हाथों में ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा-बहुत ग्रहण करते हैं तो निगोद में जाते हैं।"[१]

"मुनि को केवल वही अल्पपरिग्रह ग्रहण करना चाहिए जो हिंसादि का कारण न हो, मूर्च्छा का जनक न हो तथा जिसकी असंयमी मनुष्य आकांक्षा न करते हों।"[२]

"भावों को शुद्ध करने के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है, किन्तु जो रागादिरूप आभ्यन्तर परिग्रह से युक्त है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।"[३]

श्री उमास्वामी ने भी 'अदत्तादानं स्तेयम्'[४] तथा 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'[५] सूत्रों में इसी प्रकार के उपचारात्मक उपदेशों को निबद्ध किया है।

इन प्रयोजकत्व-द्योतक ग्राहक-त्याजक संज्ञाओं का उपचार इसलिए आवश्यक है कि जीव निश्चयनय के उपदेश को एकान्ततः ग्रहणकर अपने को परद्रव्य का सर्वथा अग्राहक और अत्याजक न समझ ले, क्योंकि ऐसा होने पर बाह्य परिग्रह रखते हुए भी अपने को परिग्रही नहीं मानेगा। तब परिग्रहपरिमाण अणुव्रत और बाह्यग्रन्थत्यागरूप अपरिग्रह महाव्रत भी असत्य हो जायेंगे। वस्त्रधारण करने पर भी वीतराग मुनि कहला सकेगा। आदान-निक्षेपण समिति भी सम्भव न होगी। अदत्तादानरूप चोरी एवं चतुर्विधदानरूप धर्म भी असम्भव होंगे। इस प्रकार बन्ध

---

१. जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ।। सुत्तपाहुड/गाथा १८

२. अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ।। प्रवचनसार/गाथा ३/२३

३. भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।। भावपाहुड/गाथा ३

४. तत्त्वार्थसूत्र/सप्तम अध्याय/सूत्र १५

५. वही/सप्तम अध्याय/सूत्र ३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और मोक्ष की सारी व्यवस्था बेबुनियाद सिद्ध होगी। अतः इसे साधार और युक्तिमत् सिद्ध करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने जीव को उपचार से परद्रव्य का ग्राहक और त्याजक कहा है, जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि भले ही जीव परमार्थतः परद्रव्य का ग्राहक-त्याजक नहीं है, किन्तु उसके साथ परद्रव्य का संयोग-वियोग स्वयं के ही योग और उपयोग तथा स्वयं के द्वारा अर्जित कर्मों के उदय से होता है। इसलिए परद्रव्य-संयोग-वियोग के अच्छे-बुरे परिणाम का भागी जीव स्वयं होता है।

साधर्म्यविशेष का द्योतन

जिस वस्तु में कोई धर्म स्वभावतः प्रसिद्ध होता है, वह उस धर्म की अपेक्षा मुख्य वस्तु है तथा जिसमें वह धर्म होता है पर स्वभावतः प्रसिद्ध नहीं होता, उसे जब मुख्य वस्तु का नाम देकर प्रसिद्ध किया जाता है, तब वह वस्तु उस धर्म की अपेक्षा अमुख्य वस्तु कहलाती है। लोक में अमुख्य के लिए मुख्य वस्तु के नाम का प्रयोग कर उसके मुख्यवस्तुसदृश धर्म को द्योतित किया जाता है। जैसे लोक में सिंह क्रौर्यशौर्यादि धर्मों की प्रबलता के लिए स्वभावतः प्रसिद्ध है। अब यदि किसी बालक में भी क्रौर्यशौर्यादि का आधिक्य है, तो उन्हें द्योतित करने के लिए बालक को सिंह शब्द से अभिहित किया जाता है, जिससे साधर्म्य सम्बन्ध के आधार पर बालक के क्रौर्यशौर्यादि धर्मों का आधिक्य अनायास बुद्धिगम्य हो जाता है। यह कथन की व्यंजनात्मक शैली है, जो विवक्षित अर्थ को स्वशब्द से वर्णित न कर परशब्द से व्यंजित करती है। प्रभावोत्पादकता एवं संक्षिप्तता इस शैली की विशेषता है। उपचार का यह लोकप्रसिद्ध प्रयोजन है। आगम में भी इस प्रयोजन से उपचार का प्रयोग किया गया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

शुद्धोपयोग मुख्यतः मोक्षमार्ग है। वह मोक्ष का हेतु है, अतएव उपादेय है। सम्यक्त्वपूर्वक अथवा सम्यक्त्वोन्मुख शुभोपयोग उसका साधक है, इसलिए वह भी परम्परया मोक्ष का हेतु है, इस कारण आरम्भिक अवस्था में उपादेय भी है। इस प्रकार मोक्षमार्ग एवं उक्त शुभोपयोग में उपादेयतारूप साधर्म्य है। किन्तु यह उपादेयतारूप समान धर्म मोक्षमार्ग में तो स्वभावतः प्रसिद्ध है, परन्तु सम्यक्त्वपूर्वक या सम्यक्त्वोन्मुख शुभोपयोग में स्वभावतः प्रसिद्ध नहीं है। इसलिए शुभोपयोग में उपादेयतारूप धर्म द्योतित करने के लिए शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग नाम दिया गया है।[1] परिणामस्वरूप शुभोपयोग के साथ मोक्षमार्ग शब्द सुनकर सम्यक्त्व-पूर्वक या सम्यक्त्वोन्मुख शुभोपयोग का उपादेयतारूप धर्म साधर्म्यसम्बन्ध के द्वारा अनायास बुद्धि में उतर जाता है।

---

१. "उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्।" स्याद्वादमञ्जरी ५/२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मश्रद्धान मुख्यतः सम्यग्दर्शन है। वह विपरीतश्रद्धान का निवारक है, अतः मोक्ष के लिए उपादेय है। जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान उसका साधक है, इसलिए वह भी परम्परया विपरीत श्रद्धान का निवारक अतएव मोक्ष के लिए उपादेय है। जीवादिश्रद्धान का यह उपादेयतारूप धर्म सम्यग्दर्शन के उपादेयतारूप धर्म से समानता रखता है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन में ही प्रसिद्ध है, जीवादिश्रद्धान में नहीं। अतः जीवादिश्रद्धान में उपादेयतारूपधर्म प्रद्योतित करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने जीवादिश्रद्धान को उपचार से सम्यग्दर्शन कहा है। इसी प्रकार आत्मज्ञान मुख्यतः सम्यग्ज्ञान है। वह मिथ्याज्ञान का विनाशक है, इस कारण मोक्ष के लिए उपादेय है। जीवादि तत्त्वों का ज्ञान उसका साधक है। वह मिथ्याज्ञान का परम्परया विनाशक अतएव मोक्ष के लिए उपादेय है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान और जीवादि तत्त्वों के ज्ञान में उपादेयतारूप साधर्म्य है। किन्तु यह समानधर्म सम्यग्ज्ञान में ही प्रसिद्ध है जीवादि तत्त्वों के ज्ञान में नहीं। इसलिए जीवादितत्त्वज्ञान में उपादेयतारूपधर्म दर्शाने हेतु उसमें सम्यग्ज्ञान का उपचार किया गया है। तथा निजशुद्धात्मस्वरूप में स्थित होना मुख्यतः सम्यक्चारित्र है। वह मिथ्याचारित्र का निरोधक है, अतएव मोक्ष के लिए उपादेय है। शुभप्रवृत्ति उसकी साधक है। इसलिए वह भी मिथ्याचारित्र की परम्परया निरोधक होने से प्राथमिक भूमिका में मोक्ष के लिए उपादेय है। इस तरह शुभप्रवृत्ति का सम्यक्चारित्र से उपादेयतारूप साधर्म्य है। किन्तु चूँकि यह समानधर्म सम्यक्चारित्र में ही प्रसिद्ध है, शुभप्रवृत्ति में नहीं; इसलिए इसे शुभप्रवृत्ति में परिलक्षित करने के लिए अरहन्तदेव ने शुभप्रवृत्ति को उपचार से सम्यक्चारित्र संज्ञा दी है।

रागद्वेषमोह मुख्यतः आस्रव-बन्ध हैं। वे संसार और दुःख के कारण हैं, इसलिए हेय हैं। उनके निमित्त से कर्मपुद्गलों का आत्मा में आगमन और संश्लेष होता है। वह भी संसार और दुःख का हेतु है, अतः हेय है। इस तरह इनमें भी साधर्म्य है। किन्तु ये दुःखहेतुत्व एवं हेयत्व धर्म आस्रवबन्ध में ही प्रसिद्ध हैं, कर्मपुद्गलों के आगमन और संश्लेष में नहीं। इसलिए कर्मपुद्गलों के आगमन और संश्लेष में इन धर्मों की प्रतीति करने के लिए कर्मपुद्गलों के आगमन और संश्लेष को उपचार से आस्रव-बन्ध नाम दिये गये हैं।

रागद्वेषमोह का अभाव मुख्यतः संवर है। उसमें जीव को मोक्ष प्राप्त कराने का धर्म है, इसलिए उपादेय होने का भी धर्म है। रागद्वेषमोहाभाव के निमित्त से नवीन कर्मों के आगमन का निरोध होता है। अतः उसमें भी इन धर्मों का अस्तित्व है। किन्तु ये मोक्षहेतुत्व एवं उपादेयत्व धर्म संवर में ही प्रसिद्ध हैं, नवीन कर्मों के निरोध में नहीं। इसलिए नवीन कर्मों के निरोध में इन धर्मों का अस्तित्व द्योतित करने के लिए नवीन कर्मों के निरोध को उपचार से संवर कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धोपयोग मुख्यतः निर्जरा है। उसके निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश-क्षय होता है। ये दोनों मोक्ष के हेतु हैं और इस कारण उपादेय हैं, अतः दोनों में इस दृष्टि से साधर्म्य है। किन्तु मोक्षहेतुता एवं उपादेयता धर्म निर्जरा में ही प्रसिद्ध हैं, एकदेश कर्मक्षय में नहीं, इसलिए एकदेशकर्मक्षय में इन धर्मों की प्रतीति कराने हेतु एकदेशकर्मक्षय के लिए उपचार से 'निर्जरा' शब्द का प्रयोग किया गया है।

क्षायिक-ज्ञानदर्शनसहित यथाख्यातचारित्ररूप आत्मपरिणाम मुख्यतः मोक्ष नामक पदार्थ है।[1] उसमें सम्पूर्ण कर्मों का नाशकर सिद्धत्व को आविर्भूत करने का और इस कारण उपादेय होने का धर्म है। इस मोक्ष-तत्त्व के निमित्त से जो सम्पूर्ण पुद्गलकर्मों का क्षय होता है उसमें भी ये धर्म हैं। किन्तु ये मोक्ष-पदार्थ में ही प्रसिद्ध हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षय में नहीं। इसलिए सम्पूर्ण कर्मक्षय में ये धर्म द्योतित करने के लिए सम्पूर्ण कर्मक्षय को उपचार से मोक्ष संज्ञा दी गई है।

रागादि का अभाव मुख्यतः अहिंसा है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी रागादि के अभाव के ही नाम हैं। ये अहिंसादि संसाराभाव के हेतु हैं अतएव उपादेय हैं। रागादि के अभाव से अर्थात् अहिंसादि के सद्भाव से जीवघात, असत्यवचन, अदत्तादान, रतिक्रीडा, परद्रव्यग्रहण आदि का अभाव होता है। ये शुभप्रवृत्तियाँ भी संसाराभाव की परम्परया हेतु हैं, इसलिए उपादेय हैं। निष्कर्षतः अहिंसादि के सद्भाव तथा जीवघातादि से निवृत्ति में उपर्युक्त साधर्म्य हैं। किन्तु संसाराभावहेतुत्व तथा उपादेयत्व धर्म अहिंसादि में ही प्रसिद्ध हैं, जीवघातादि-निवृत्ति में नहीं। फलस्वरूप जीवघातादि से निवृत्ति में भी इन धर्मों को प्रसिद्ध करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने जीवघातादि से निवृत्ति को उपचारतः अहिंसादि नामों से संकेतित किया है। अहिंसादि नामों से अभिहित होने पर साधर्म्य सम्बन्ध के द्वारा जीवघातादि-निवृत्ति में गर्भित उपर्युक्त धर्म अनायास बुद्धिगम्य हो जाते हैं।

सार यह कि औपचारिक शब्द-प्रयोग द्वारा अज्ञ शिष्यों को आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का आभास कराया जाता है, जीव और शरीर के अभेद-विशेष एवं परद्रव्य के साथ लौकिक सम्बन्धों की वास्तविकता दर्शाकर हिंसादि पापों, अहिंसादि धर्मों तथा बन्ध-मोक्ष की युक्तिमत्ता सिद्ध की जाती है, बन्ध और मोक्ष में जीव के स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन किया जाता है, जीव के विषयभोक्तृत्व को युक्तिमत् सिद्धकर इन्द्रिय-संयमादि के उपदेश का औचित्य प्रतिपादित किया जाता है, जीव

---

१. "निरवशेषकर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्षः। विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणाम्।"
भगवती आराधना/विजयोदयाटीका/गाथा ३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के द्वारा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग की युक्तिमत्ता प्रदर्शित कर अपरिग्रह, दत्तादान, स्वदार-परदारनिवृत्ति आदि व्रतों, आदान-निक्षेपण आदि समितियों, आहारादि चतुर्विध दानों तथा अनशन, रस-परित्याग आदि तपों के उपदेश की युक्ति-संगतता का अनुभव कराया जाता है। इसके अतिरिक्त औपचारिक शब्द से जो साधर्म्यसम्बन्ध अभिव्यक्त होता है, उसके द्वारा शुभोपयोग आदि के परम्परया मोक्षहेतुत्व एवं उपादेयत्व आदि धर्मों का तथा आस्रवादि के संसारहेतुत्व एवं हेयत्वादि धर्मों का द्योतन किया जाता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में उपचारमूलक असद्भूत व्यवहारनय महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थप्रतिपादक

यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि जिस शब्द का प्रयोग उपचार से किया जाता है, उसका अर्थ बदल जाता है। वह मुख्य (प्रसिद्ध) अर्थ का वाचक न होकर मुख्यार्थ के सहचारी उन अर्थों का व्यंजक हो जाता है, जिनकी सत्ता उपचरित वस्तु में होती है अर्थात् उस वस्तु में जिसके लिए उस शब्द का उपचारतः प्रयोग होता है। इसलिए उपचार परमार्थ (वस्तुधर्म) का ही प्रतिपादन करता है। वह केवल मुख्यार्थ की अपेक्षा अभूतार्थ होता है, मुख्यार्थ से द्योतित होनेवाले सहचारी अर्थ की अपेक्षा नहीं। यह नियम भी है कि उपचार से प्रयुक्त किये शब्द का मुख्यार्थ सदा गौण हो जाता है और उससे द्योतित होनेवाला अर्थ ही प्रधानता ग्रहण कर लेता है। किन्तु, चूँकि अज्ञानीजन इसके मुख्यार्थ को ग्रहणकर भ्रमित हो सकते हैं, इसलिए उनको भ्रम से बचाने के लिए उपदेश दिया गया है कि उपचार अभूतार्थ है, किन्तु अभूतार्थ का प्रतिपादक है, ऐसा नहीं कहा गया है, अपितु अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपादक है, ऐसा ही प्रज्ञापित किया गया है।[1]

वस्तुधर्म का प्रतिपादक

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है, इस आर्षवचन से सिद्ध है कि वह वस्तुधर्म का प्रतिपादक है। कुछ आधुनिक पण्डितों का मत है कि इस असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म नहीं है, अपितु उपचारमात्र है। वस्तुधर्म को व्यवहारनय का विषय माननेवाले विद्वज्जनों पर आपेक्ष करते हुए यह वर्ग लिखता है —

---

१. "सर्व एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद् भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद् अपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अपर पक्ष समझता है कि व्यवहारनय का विषय भी वस्तु का धर्मविशेष है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। .... 'निश्चय' शुद्ध अखण्ड वस्तु है और 'व्यवहार' अखण्ड वस्तु में भेद उपजाकर उसका कथन करना मात्र है।[1] अब रहा असद्भूत-व्यवहारनय सो उसका विषय मात्र उपचार है।"[2]

यही बात यह पण्डितवर्ग निम्नलिखित शब्दों में दुहराता है – "सद्भूत-व्यवहारनय का विषय संज्ञा, प्रयोजन और लक्षण आदि को ध्यान में रखकर अखण्ड त्रिकालाबाधित वस्तु में भेद उपजाकर कथन करना मात्र है और असद्भूत-व्यवहारनय का विषय एक वस्तु में अन्य वस्तु के गुणधर्म का प्रयोजनादिवश आरोपकर कथन करना मात्र है।"[3]

विद्वद्वर्ग का यह कथन स्वविरोधी है, क्योंकि यह स्वयं सिद्ध करता है कि असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म है। वे स्वीकार करते हैं कि एक वस्तु में अन्य वस्तु के गुणधर्म का आरोप (उपचार) प्रयोजनवश किया जाता है। यह प्रयोजन क्या है ? वस्तुधर्म का प्रकाशन ही वह प्रयोजन है। पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि उपचार के द्वारा अनेक वस्तुधर्म प्रकाशित किये जाते हैं, जैसे जीव और शरीर का विलक्षण अभेद, स्वशरीर-परशरीर, स्वधन-परधन, स्वदार-परदार आदि के रूप में रहनेवाले लौकिक सम्बन्ध, बन्ध और मोक्ष में जीव का स्वातन्त्र्य आदि। इन्हीं वस्तुधर्मों पर परद्रव्याश्रित, बाह्य हिंसा-अहिंसा, व्रत-अव्रत, संयम-असंयम, तप-अतप, परिग्रह-अपरिग्रह आदि की वास्तविकता अवलम्बित है। उपचार के द्वारा परद्रव्याश्रित व्रत, संयम, तप आदि के मोक्षहेतुत्व एवं उपादेयत्व का भी प्रतिपादन किया जाता है, ये भी वस्तुधर्म हैं। इन वस्तुधर्मों की प्रतीति कराना ही वह प्रयोजन है, जिसके लिये एक वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म का आरोप करके कथन किया जाता है। इसलिये उपचार की प्रयोजनाधीनता स्वीकार कर उक्त विद्वान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म है।

व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र में भी साधर्म्यादि सम्बन्ध के द्वारा वस्तुधर्म की प्रतीति कराना ही उपचार का प्रयोजन है। लोक में भी 'यह बालक सिंह है' इत्यादि औपचारिक प्रयोगों के द्वारा साधर्म्यादि सम्बन्ध के आधार पर बालक के सिंहसदृश क्रौर्यशौर्यादि धर्मों के अतिशय को ही व्यंजित किया जाता है। उपचार केवल उपचार के लिए नहीं होता। वस्तुधर्म को द्योतित करने के लिए ही उपचार का प्रयोग किया जाता है। कोई भी आदमी किसी मनुष्य को केवल 'बैल' कहने

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृष्ठ ८३२
२. वही, २/४३६
३. वही २/८३२-८३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लिए बैल नहीं कहता, अपितु बैलसदृश जाड्यमान्द्यादि धर्मों के अतिशय की प्रतीति कराने के प्रयोजन से 'बैल' शब्द का उपचार करता है।[1] इस प्रकार वस्तुधर्म का प्रतिपादक होने से ही जिनेन्द्रदेव ने उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपादक बतलाया है। स्याद्वादमञ्जरीकार ने भी कहा है —

"लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्। न चायमौपचारिकत्वाद् अप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्।"[2]

— लोक में भी घटाकाश, पटाकाश ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है, इसलिए आकाश नित्यानित्य है। औपचारिक होने के कारण यह अप्रमाण है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपचार भी किंचित् साधर्म्य के द्वारा मुख्यार्थ (मुख्यार्थ के सहचारी अर्थ) का ही स्पर्श करता है (व्यंजित करता है)।

ये आर्षवचन सिद्ध करते हैं कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय का विषय भी वस्तुधर्म ही है।

उपचार और अज्ञानियों के व्यवहार में अन्तर

पूर्वोक्त पण्डितवर्ग उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियों के अनादिरूढ़ व्यवहार का पर्यायवाची मानता है। इसलिए उसने असद्भूतव्यवहारनय को सर्वथा अभूतार्थ घोषित किया है। अपनी मान्यता पण्डितवर्ग ने निम्नलिखित कथन में व्यक्त की है —

"अब रहा असद्भूत व्यवहारनय, सो उसका विषय मात्र उपचार है। समयसार, गाथा ८४ में पहले आत्मा को व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता और भोक्ता बतलाया गया है, किन्तु यह व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि अज्ञानियों का अनादि संसार से ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है, इसलिए गाथा ८५ में दूषण देते हुए निश्चयनय का अवलम्बन लेकर उसका निषेध किया गया है।"[3]

कथित विद्वद्वर्ग की यह मान्यता अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) अज्ञानियों का व्यवहार अज्ञान का विकल्प है, उपचारमूलक

---

१. 'गौर्वाहीकः' अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्।" काव्यप्रकाश, २/१२

२. स्याद्वादमञ्जरी, ५/२६

३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २, पृष्ठ ४३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असद्भूतव्यवहारनय श्रुतज्ञान का। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में 'जीव कर्मों से बद्ध है', ऐसा निर्णय करनेवाले उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को श्रुतज्ञान का अवयव बतलाया है।[1] अज्ञानियों का व्यवहार अज्ञान पर आश्रित होता है, उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय ज्ञान पर। जीव को उपादानरूप से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता मानना अज्ञानाश्रित होने से अज्ञानमय व्यवहार है, किन्तु निमित्तरूप से कर्त्ता कहना ज्ञानाश्रित होने से उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय है। आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र सूरि ने प्रथम को ही (जीव को उपादानरूप से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता मानने को ही) अज्ञानमय व्यवहार या व्यवहारियों के व्यामोह की संज्ञा दी है।[2] द्वितीय को तो वे श्रुतज्ञान का विकल्प मानते हैं, अत: उन्होंने स्वयं जीव को निमित्तरूप से परद्रव्यों का कर्त्ता कहा है।[3] तथा नियमसार में श्रुतकेवली के कथन को अपने शब्दों में उतारते हुए कुन्दकुन्द ने स्पष्टत: जीव को व्यवहारनय (उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय) से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता बतलाया है — "कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्महस होदि ववहारो।"[4]

ये सब जिनेन्द्रदेव के उपदेश के अंग हैं। उन्होंने संसार की सत्यता और मोक्ष के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय से बहुश: उपदेश दिया है।[5] जीव और शरीर के कथंचिद् अभेद की प्रतीति कराने के लिए शरीर में 'जीव' संज्ञा का उपचार किया है।[6] रागद्वेषमोहरूप अशुद्धपर्याय से अभिन्नता दर्शाने के लिए रागद्वेषमोह को जीव शब्द से उपचरित किया है। शरीरादि प्राणों के घात को हिंसा शब्द से संकेतित किया है। अदत्तादानादि के लिए उपचार से स्तेयादि संज्ञाएँ दी हैं। जीव को उपचार से चेतन-अचेतन द्रव्यों का भोक्ता कहा है। सम्यक्त्वसाधक एवं शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग शब्द से अभिहित किया है। जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान में सम्यग्दर्शन शब्द का उपचार किया है। क्या यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ का यह असद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश

---

१. "श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो:।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा १४३
२. "जीव: पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद् व्यवहार:।" वही/आत्मख्याति/गाथा ८४
३. (क) "अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ।" वही/गाथा १००
(ख) "इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १००
४. नियमसार/गाथा १८
५. "उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १५९
६. "देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।" समयसार/गाथा ६७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञानियों का अनादिरूढ़ व्यवहार है ? यदि नहीं, तो सिद्ध है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय अज्ञानियों के व्यवहार का पर्यायवाची नहीं है। दोनों में अन्धकार और प्रकाश के समान अन्तर है।

(२) उपचार का लक्षण ऐसा है कि उसका प्रयोग ज्ञानी ही कर सकते हैं, क्योंकि जब व्यक्ति को संश्लेषादि सम्बन्धों से जुड़े पदार्थों की स्वभावगत भिन्नता का ज्ञान हो और वह प्रयोजनविशेष से एक के नाम का दूसरे के लिए प्रयोग करे तब वह उपचार कहलाता है।[1] उदाहरणार्थ, जब मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि जीव और शरीर स्वभाव से भिन्न हैं, किन्तु संसारावस्था में उनमें संश्लेष सम्बन्ध है तब उनके कथंचित् अभेद की प्रतीति कराने के लिए शरीर को 'जीव' शब्द से अभिहित करता है, तभी इसकी उपचार संज्ञा होती है। किन्तु, अज्ञानमय व्यवहार तो इसके विपरीत है। वह संश्लेषादि सम्बन्धों से जुड़े पदार्थों की भिन्नता के अज्ञान से उत्पन्न होता है। इसलिए वह ज्ञानियों का उपचारात्मक प्रयोग न होकर अज्ञानियों का अनादिरूढ़ व्यवहार होता है।

(३) उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय निश्चय-सापेक्ष होता है, अज्ञानियों का व्यवहार निश्चय-निरपेक्ष। जब उपचार को उपचाररूप से ग्रहण किया जाता है तब वह असद्भूतव्यवहारनय होता है, जब उसे परमार्थ मान लिया जाता है तब अज्ञानमय व्यवहार होता है।[2] अज्ञानमय व्यवहार अज्ञानियों की दृष्टि से परमार्थ होता है, ज्ञानियों की दृष्टि से उपचार।[3]

(४) आचार्य कुन्दकुन्द ने उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को परमार्थ का प्रतिपादक बतलाया है[4] और आचार्य अमृतचन्द्र ने शिष्यों के दुस्तर अज्ञान का

---

१. (क) "तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि .... ।
समयसार/आत्मख्याति/गाथा ५८-६०
(ख) "सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।" वही/गाथा ६०

२. "ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते।"
वही/आत्मख्याति/गाथा ४१४

३. तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।। वही/गाथा ५९-६०

४. "व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद् अपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव।" वही/आत्मख्याति/गाथा ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवारक।[1] किन्तु अज्ञानियों का अनादिरूढ़ व्यवहार क्या परमार्थ का प्रतिपादक और अज्ञान का निवारक हो सकता है। नहीं, तब दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

(५) शरीर में 'जीव' संज्ञा के उपचार से शरीरघात होने पर जीवघातरूप हिंसा घटित होती है, उससे कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से मोक्ष का औचित्य सिद्ध होता है। इसलिए उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय पर आश्रित उपदेश को आचार्यों ने उचित बतलाया है[2], किन्तु अज्ञानमय व्यवहार का सर्वत्र निषेध ही किया गया है।

(६) यदि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय अज्ञानमय व्यवहार हो तो संसार को सत्य मानना भी अज्ञान होगा, प्राणघातादि को हिंसा मानना भी अज्ञान होगा, मोक्ष को आवश्यक मानना भी अज्ञान होगा, क्योंकि इन सबकी सत्यता उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय से ही घटित होती है। श्री माइल्लधवल अत्यन्त सरल भाषा में व्यवहारनय (उपचारमूलक) की श्रुतज्ञानात्मकता एवं कथंचित् भूतार्थता का निरूपण करते हुए कहते हैं —

"जिनेन्द्रदेव ने सर्वत्र पर्यायरूप से व्यवहार को सत् कहा है। जो व्यवहार को सत् नहीं मानता उसके मत में संसार और मोक्ष कैसे सिद्ध होंगे ? यह चतुर्गत्यात्मक संसार है। उसके हेतु शुभ और अशुभ कर्म हैं। यदि ये मिथ्या हैं तो सांख्यमत के समान उसके मत में संसारावस्था कैसे उपपन्न होगी ? जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर को जीव कहा है। यदि उनकी हिंसा में पाप है, तो सर्वत्र व्यवहार को सत्य क्यों नहीं मानते ?"[3]

इन युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय अज्ञानियों के अनादिरूढ़ व्यवहार से सर्वथा भिन्न है।

---

१. मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका, ४

२. "तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, ४६

३. सव्वत्थ पज्जयादो संतो भणिओ जिणेहि ववहारो ।
जस्स ण हवेइ संतो हेऊ दोण्हंपि तस्स कुदो ।।
चउगइ इह संसारो तस्स य हेऊ सुहासुहं कम्मं ।
जइ ता मिच्छा किह सो संसारो संखमिव तस्स मए ।।
एइंदियादि देहा जीवा ववहारदो य जिणदिट्ठा ।
हिंसादिसु जदि पापं सव्वत्थवि किण्ण ववहारो ।।
द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा २३४-२३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेय होने का अभिप्राय

आगम में व्यवहारनय को हेय, प्रतिषिद्ध अथवा अननुसरणीय कहा गया है। यहाँ उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय की हेयता का अभिप्राय विचारणीय है। उपचार में एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु के नाम का प्रयोग किया जाता है, जिससे उसका मुख्यार्थ (प्रचलित अर्थ) असत्य हो जाता है, जैसे किसी बालक को सिंह कहने से 'सिंह' शब्द का सिंहरूप मुख्यार्थ बालक पर चरितार्थ न होने से असत्य होता है। इसी प्रकार शरीर को जीव कहने से जीव शब्द का चेतनतत्त्वरूप मुख्यार्थ शरीर पर चरितार्थ न होने से असत्य होता है। इसलिए जहाँ शरीर को जीव कहा गया है वहाँ जीव शब्द से जीव अर्थ ग्रहण करने योग्य नहीं है, अपितु शरीर के लिए जीव शब्द का प्रयोग करने से दोनों में जो एक विलक्षण अभेद की प्रतीति होती है, वही अर्थ ग्राह्य है। तथा जहाँ जीव को पुद्गलकर्मों का कर्त्ता कहा गया है, वहाँ कर्त्ता शब्द से उपादानरूप अर्थ ग्राह्य नहीं है, बल्कि 'उपादान का प्रेरक' अर्थ ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार जहाँ सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग शब्द से अभिहित किया गया है, वहाँ उक्त शब्द से मोक्षमार्ग अर्थ ग्राह्य नहीं है, अपितु मोक्षमार्गसाधक होने से "मोक्षसाधन में उपादेयरूप" अर्थ ग्राह्य है। ये अर्थ प्रस्तुत सन्दर्भों में जीव-शब्द, कर्त्ता-शब्द और मोक्षमार्ग-शब्द के औपचारिक (लाक्षणिक) बन जाने से शब्द की व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंजित होते हैं, क्योंकि उनका मुख्यार्थ अनुपपन्न होने से बाधित हो जाता है। इस प्रकार उपचारतः प्रयुक्त शब्द के मुख्यार्थ का अग्राह्य होना उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के हेय होने का तात्पर्य है। अननुसरणीय एवं प्रतिषिद्ध होने का भी यही अभिप्राय है।

प्रतिषिद्ध होने का एक दूसरा अभिप्राय भी है जिसकी ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने संकेत किया है और अमृतचन्द्र सूरि ने जिसे स्पष्ट किया है। वह यह कि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि, ममत्वबुद्धि एवं कर्तृत्वबुद्धि का नाम अध्यवसान है। यह बन्ध का हेतु है। परद्रव्यविषयक होने से पराश्रित है। निश्चयनय द्वारा प्राप्त ज्ञान से यह गलत सिद्ध हो जाता है। इसी को निश्चयनय द्वारा इसका निषिद्ध होना कहा गया है। उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय भी परद्रव्यविषयक होने से पराश्रित है। चूँकि अध्यवसान पराश्रित होने से निश्चयनय द्वारा निषिद्ध है, इससे निष्कर्ष निकलता है कि पराश्रित होने की समानता के कारण (पराश्रितत्वाविशेषात्)[१] व्यवहारनय का भी निश्चयनय द्वारा निषेध हो जाता है। इसका पराश्रित होना निषेध का कारण इसलिए है कि यह जिसे मोक्षमार्ग कहता है वह पराश्रित होने से एकान्ततः मोक्ष का हेतु नहीं है, क्योंकि अभव्य जीव एकमात्र उसे ही अपनाता है, किन्तु

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह कभी मुक्त नहीं होता।[१] व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग जब निश्चयमोक्षमार्ग का साधक एवं सहचारी होता है तभी मोक्ष का हेतु बनता है।[२] निश्चय के द्वारा व्यवहार के प्रतिषिद्ध होने का एक अभिप्राय यह भी है कि निश्चयमोक्षमार्ग में स्थित होने की क्षमता आ जाने पर व्यवहारमोक्षमार्ग का अवलम्बन त्याज्य होता है।[३]

हेय होने का अभिप्राय यह नहीं है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के कथन को शशश्रृंग के कथन् के समान सर्वथा असत्य मान लिया जाय। सर्वथा असत्य मान लेने से इसके द्वारा जो संसार की सत्यता का प्रतिपादन होता है, वह भी असत्य हो जायेगा। संसार की सत्यता सिद्ध न होने पर मोक्ष-प्राप्ति का औचित्य भी सिद्ध न होगा जिससे सर्वज्ञ के सम्पूर्ण उपदेश के अयुक्तिसंगत होने का प्रसंग आयेगा। निष्कर्ष यह कि औपचारिक शब्द से जो अर्थ प्रथमतः उपस्थित होता है उसे परमार्थ न माना जाय, अपितु उससे जो अन्य प्रासंगिक अर्थ व्यंजित होता है उसे परमार्थ माना जाय। औपचारिक शब्द से प्रथमतः उपस्थित अर्थ को परमार्थ मानने पर जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो पाता, केवल अनौपचारिक (जिसका वाचक है उसी के लिए प्रयुक्त होने वाले) शब्द से प्रथमतः उपस्थित अर्थ को परमार्थ मानने- वाला जीव सम्यग्दृष्टि हो पाता है। हाँ, औपचारिक शब्द से प्रथमतः उपस्थित अर्थ को गौणकर उस अर्थ से जो अन्य युक्तिसंगत अर्थ व्यंजित होता है उसे परमार्थ मानना सम्यग्दृष्टि बनने के लिए अनिवार्य है।

कुछ अज्ञानी इस व्यवहारनय को हेय कहे जाने का तात्पर्य यह लेते हैं कि इस नय से जिन व्रत-शील-संयमादि को मोक्षमार्ग कहा गया है, वे हेय हैं। पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में इस मान्यता के भ्रमपूर्ण होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है —

"यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ, हेय कहते हो, तो हम व्रत, शील, संयमादिक व्यवहार कार्य किसलिए करें ? सबको छोड़ देंगे।"

---

१. "आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्त-मध्यवसानं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायम्, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमान-त्वात् पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७२

२. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६-२७७

३. 'किं च निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः किं तु त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः। एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६-२७७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"उससे कहते हैं कि कुछ व्रत, शील, संयमादि का नाम व्यवहार नहीं है, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। ये तो परद्रव्याश्रित हैं। सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ हेय जानना। व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नहीं है। फिर हम पूछते हैं कि व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा ? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है, वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा करना तो निर्विचारीपना है तथा व्रतादिकरूप परिणति को मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है, वह निचली दशा मे हो नहीं सकता, इसलिए व्रतादिक साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है।"[1]

इससे स्पष्ट होता है कि व्रतशीलसंयमादि को परित्याज्य मानना व्यवहारनय के हेय होने का तात्पर्य नहीं है, बल्कि उन्हें उपचार से जो मोक्षमार्ग संज्ञा दी गयी है उसे सत्य और ग्राह्य न मानना हेय होने का तात्पर्य है। किन्तु उस संज्ञा से जो यह अर्थ द्योतित होता है कि व्रतशीलसंयमादि परम्परया मोक्ष के साधक हैं, इसलिए निम्न भूमिका में उपादेय हैं[2], इसे तो सत्य मानना चाहिए, क्योंकि व्रतशीलसंयमादि वास्तव में परम्परया मोक्ष के साधक हैं और यही द्योतित करने के लिए उन्हें 'मोक्ष-मार्ग' संज्ञा दी गयी है। इस अपेक्षा से व्यवहारनय अथवा औपचारिक शब्द-प्रयोग उपादेय है।

निष्कर्ष यह है कि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के द्वारा औपचारिक शब्द से वस्तु के वास्तविक धर्म का बोध कराता है। उस धर्म की स्वीकृति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के लिए आवश्यक है।

●

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/सप्तम अधिकार/पृष्ठ २५३-२५४
२. "व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेयः।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१-१६३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चम अध्याय

सद्भूतव्यवहारनय

(बाह्यभेदावलम्बिनी दृष्टि)

ज्ञाता की बाह्यभेदावलम्बिनी दृष्टि का नाम सद्भूतव्यवहारनय है। वस्तु और उसके धर्मों में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा जो भिन्नता है उसका अवलम्बन कर जब यह दृष्टि देखती है तब उनमें बाह्य भेद पाती है। सद्भूत का अर्थ है वस्तु में स्वभावतः विद्यमान (सत्) धर्म और व्यवहार का अर्थ है संज्ञादिभेद की अपेक्षा उसे वस्तु से भिन्न मानना और धर्म के द्वारा धर्मी (वस्तु) का बोध कराने के लिए उनमें (धर्म-धर्मी में) भिन्न वस्तुओं के समान स्व-स्वामित्वादिसम्बन्ध का व्यवहार करना।[१] इसीलिए आलापपद्धतिकार ने कहा है : "व्यवहारो भेद-विषयः"[२] अर्थात् एक वस्तु में रहनेवाला भेद सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। उन्होंने अन्य सूत्र में भी कहा है —

"गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारककारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः।"[३]

— गुण और गुणी, पर्याय और पर्यायी (द्रव्य), स्वभाव और स्वभावी तथा कारक और कारकी (कारकवान्) में जो (संज्ञादिगत) भेद होता है वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है (अर्थात् उस भेद को प्रकाशित करने वाली दृष्टि का नाम सद्भूतव्यवहारनय है)।

संज्ञादिभेद के सोदाहरण लक्षण मौलिक-अभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि के प्रकरण में दर्शाये गये हैं।

संज्ञादिगत भेद : अतद्भाव

संज्ञादिगत भेद को अतद्भाव (अतद्रूपता) कहते हैं। इसकी यथार्थता

---

१. "यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ७

२. आलापपद्धति/सूत्र २१६

३. वही/सूत्र २०९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का निरूपण आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा में किया है —

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ।।[१]

—जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है, यह स्वरूपभेद ही अतद्भाव है। इनमें से किसी का अभाव अतद्भाव नहीं है।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"एकस्मिन् द्रव्ये यद् द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः एतावतैवान्यत्व-व्यवहारसिद्धेः।"[२]

— एक द्रव्य में जो द्रव्य है वह गुण नहीं होता, जो गुण है वह द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य का गुणरूप और गुण का द्रव्यरूप न होना अतद्भाव कहलाता है। मात्र इतने से उनमें परस्पर अन्यत्व का व्यवहार होता है।

आचार्य जयसेन ने इसे निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है —

"किंचातद्भावः ? संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः। तद्यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं वा मुक्ताफलं वा। हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति। एवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावोऽतद्भावो भण्यते।"[३]

— अतद्भाव किसे कहते हैं ? संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद को अतद्भाव कहते हैं। जैसे मोतियों के हार में जो शुक्ल गुण है उसके वाचक 'शुक्ल' शब्द से न तो हार वाच्य होता है, न सूत्र, न मोती। इसी प्रकार हार, सूत्र और मोती के वाचक शब्दों से शुक्ल गुण वाच्य नहीं होता। इस प्रकार परस्पर प्रदेशाभेद होने पर भी जो संज्ञादिभेद है, वह अतद्भाव कहलाता है।

स्व-स्वामित्वादिभेद का हेतु

अतद्भाव ही द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक अन्यत्व का हेतु है।[४] संज्ञादिभेदरूप अतद्भाव के कारण ही वस्तु और उसके गुण-पर्यायों के विषय में 'यह इसमें है' ऐसी प्रतीति होती है। आचार्य कुन्दकुन्द के वचन की व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र सूरि बतलाते हैं —

१. प्रवचनसार, २/१६
२. वही/तत्त्वदीपिका २/१६
३. वही/तात्पर्यवृत्ति २/१५
४. "स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः।" वही/तत्त्वदीपिका २/१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सत्तागुण द्रव्य से युतसिद्धत्व (संयोगसिद्ध होने) की अपेक्षा भिन्न नहीं है, क्योंकि उन दोनों में दण्ड और दण्डी के समान युतसिद्धत्व दिखाई नहीं देता। अयुतसिद्धत्व की अपेक्षा भी उनका भिन्न पदार्थ होना घटित नहीं होता।[1] यदि कहा जाय कि 'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति होने के कारण घटित होता है तो प्रश्न उठता है कि 'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति किस कारण से उत्पन्न होती है ? कहा जाय कि भेद होने के कारण उत्पन्न होती है तो प्रश्न है कि भेद किस प्रकार का है ? प्रादेशिक अथवा अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो हो नहीं सकता, क्योंकि युतसिद्धत्व का तो पूर्व में ही निषेध किया जा चुका है। यदि अताद्भाविक है तो उचित है, क्योंकि जो द्रव्य है वह गुण नहीं है ऐसा आगम में कहा गया है। किन्तु अताद्भाविक भेद एकान्तरूप से 'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति का हेतु नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कभी प्रकट होता है, कभी लुप्त। उदाहरणार्थ, जब पर्याय की दृष्टि से द्रव्य का परामर्श किया जाता है तभी 'यह उत्तरीय शुभ्र है और यह उसका शुभ्रगुण है' इसके समान 'यह द्रव्य गुणवद् है और यह उसका गुण है' ऐसी प्रतीति होती है और उसके द्वारा अताद्भाविक भेद प्रकाशित होता है।"[2]

"किन्तु जब द्रव्य का द्रव्य की अपेक्षा विचार करते हैं तब गुणत्व का भेद दृष्टि से ओझल हो जाता है और शुभ्रत्व में ही उत्तरीय की अनुभूति के समान गुण ही द्रव्यरूप से अनुभव में आता है।[3] इस अद्वैत अवस्था में अताद्भाविक भेद समूल लुप्त हो जाता है। भेद के लुप्त हो जाने पर तन्निमित्तक प्रतीति ('इसमें यह है' ऐसी प्रतीति) लुप्त हो जाती है। उसके लुप्त होने पर अयुतसिद्धत्व के निमित्त से सत्तागुण और द्रव्य में जो पदार्थभेद की प्रतीति होती है वह भी अदृश्य हो जाती है। तब समस्तरूप से अकेला द्रव्य ही प्रतीति में आता है।[4] किन्तु जब अताद्भाविक भेद प्रकाशित होता है तब उसके निमित्त से 'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति

---

१. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/६
२. "इहेदमितिप्रतीतेरुपपद्यत इति चेत् किन्निबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः। भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेदः ? प्रादेशिकः अताद्भाविको वा ? न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चेद् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि — यदेव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदेव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति।"
वही/तत्त्वदीपिका २/६
३. "तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्यं भवतीति।" वही/तात्पर्यवृत्ति २/८
४. वही/तत्त्वदीपिका २/६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आविर्भूत होती है। उसके आविर्भूत होने पर अयुतसिद्धत्व के निमित्त से जो पदार्थभेद की प्रतीति होती है वह भी होने लगती है।[1] किन्तु उस समय भी जैसे जलराशि से जल की तरंगें पृथक् नहीं होतीं वैसे ही द्रव्य की पर्याय होने से सत्तागुण द्रव्य से पृथक् नहीं होता। ऐसा होने के कारण सत्ता स्वयं द्रव्यरूप से प्रतीत होती है।"[2]

इस व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि वस्तु और उसके धर्मों में संज्ञादिभेद (अताद्भाविक भेद) होने के कारण ही पर्याय (संज्ञादिभेद) की दिशा से (व्यवहारनय से) अवलोकन करने पर 'यह इसका है', 'यह इसमें है', 'यह इसका धर्म है', 'यह इसका धर्मी है', 'यह इसका स्व है', 'यह इसका स्वामी है', इत्यादि प्रकार से धर्म और धर्मी में स्व-स्वामी, आधाराधेय आदि द्वैत (अताद्भाविक भेद) की प्रतीति होती है।

एक वस्तु में ये दो भाव अर्थात् स्वस्वामिभाव, आधाराधेयभाव आदि वास्तविक होते हैं, काल्पनिक नहीं, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के वचन की व्याख्या करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है — "ज्ञानी इस निश्चयदृष्टि का अवलम्बन करता है कि जो जिसका स्वभाव है वह उसका स्व है और उसी का वह स्वामी।"[3] तथा "स्वभाव के साथ ही वस्तु का आधाराधेय सम्बन्ध है।"[4] किन्तु इन दो भावों के कारण वस्तु में जो द्वैत (भेद) की प्रतीति होती है वह द्वैत मौलिक (प्रदेशगत या सत्तागत) न होकर संज्ञादि भेद पर आश्रित होता है, इसलिए वह बाह्यभेदावलम्बिनी सद्भूतव्यवहारदृष्टि से भूतार्थ सिद्ध होता है, मौलिकभेदावलम्बिनी निश्चयदृष्टि से नहीं।

कर्त्ता-कर्मत्वादि भेद का हेतु

वस्तु और उसके धर्मों में संज्ञादि का भेद होने से ही कर्त्ता-कर्म आदि का भेद घटित होता है। उदाहरणार्थ, आत्मा और दर्शनज्ञानादि धर्मों में संज्ञादि की दृष्टि से भिन्नता है इसीलिए आत्मा दर्शनज्ञानादि परिणामों का कर्त्ता और दर्शनज्ञानादि परिणाम उसके कर्म कहलाते हैं। अभेदआत्मा में कर्त्ता-कर्मादि का यह भेद यथार्थ है यह निम्नलिखित वचनों से सिद्ध होता है —

---

१. "यदा तु भेद उन्मज्जति तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति। तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/६

२. वही

३. "यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टम्भाद् आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा २०७

४. "ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसम्बन्धोऽवतिष्ठते।" वही/गाथा १८१-१८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।[१]

— आत्मा ज्ञान है, स्वयं ज्ञान है, अतः वह ज्ञान के अतिरिक्त किसका कर्त्ता हो सकता है ? उसे परभाव का कर्त्ता मानना व्यवहारियों (व्यवहार को परमार्थ समझने वालों) का अज्ञान है।

"एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।"[२]

— (पूर्वोक्त कारण से सिद्ध होता है कि) आत्मा अपने ही भाव का कर्त्ता है।

"जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।"[३]

— निश्चयनय से जीव का स्वपरिणामों के साथ ही कर्त्ता-कर्मभाव एवं भोक्ता-भोग्यभाव है।

"तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानम्।"[४]

— (उसीप्रकार) ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने के कारण कर्त्ता-अंश की अपेक्षा आत्मासंज्ञा तथा करण-अंश की अपेक्षा ज्ञानसंज्ञा धारण कर कारणभूत जीवादि पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों (आत्मा में संक्रमित पदार्थप्रतिबिम्बों) को अभिव्याप्त करता है (जानता है)।

"ज्ञानी ज्ञानाद्यर्थान्तरभूतस्तदा स्वकरणांशमन्तरेण परशुरहितदेवदत्तवत् करणव्यापारासमर्थत्वाद् अचेतयमानोऽचेतन एव स्यात्। ज्ञानञ्च यदि ज्ञानिनोऽर्थान्तरभूतं तदा तत्कर्त्रंशमन्तरेण देवदत्तरहितपरशुवत् कर्तृत्वव्यापारासमर्थत्वाद् अचेतयमानमचेतनमेव स्यात्। न च ज्ञानज्ञानिनोर्युतसिद्धयोस्संयोगेन चेतनत्वं द्रव्यस्य निर्विशेषस्य गुणानां निराश्रयाणां शून्यत्वादिति।"[५]

— ज्ञानी यदि ज्ञान से भिन्न पदार्थ हो तो अपने करण-अंश के बिना परशुरहित देवदत्त के समान करण-व्यापार में असमर्थ होगा। फलस्वरूप ज्ञानरूप करण (साधकतम) के अभाव में स्व-पर के बोध में समर्थ न हो पाने से अचेतन ही ठहरेगा। इसी प्रकार यदि ज्ञान ज्ञानी से भिन्न हो तो अपने कर्त्ता-अंश के बिना

---

१. समयसार/कलश, ६२
२. वही/गाथा ८२
३. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ८३
४. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका १/३०
५. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ४८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान-व्यापार में असमर्थ होगा, क्योंकि जैसे देवदत्तरूप कर्त्ता के अभाव में परशुरूप करण अपने व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो सकता, वैसे ही ज्ञानीरूप कर्त्ता के बिना ज्ञानरूप करण अपने पदार्थबोध के व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस तरह उसके द्वारा पदार्थ-परिच्छित्ति का कार्य न हो पाने से अचेतन ही सिद्ध होगा। ऐसा भी नहीं है कि ज्ञान और ज्ञानी युतसिद्ध (सांयोगिक) हों, जिससे ज्ञानी में संयोग से चेतनत्व माना जाय, क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी के पृथक् होने पर विशेष के अभाव में द्रव्य का अभाव हो जायेगा और निराश्रय होने पर गुणों की सत्ता न रह पावेगी।

आत्मा अपनी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक पर्याय की अपेक्षा साधकतम होने से करण है, मुक्त पर्याय की अपेक्षा साध्य होने से कर्म है और दोनों पर्यायों में स्वतन्त्ररूप से परिणमित होने की अपेक्षा कर्त्ता है। यह बात आचार्य कुन्दकुन्द के वचन का भाष्य करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने निम्नलिखित शब्दों में कही है —

"येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात् तेनैव नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वन्तराभावात्।"[१]

— जिस भाव से आत्मा साध्य और साधन है, उसी भाव से वह नित्य उपासना के योग्य है, इस बात को मन में रखकर दूसरों को व्यवहारनय से उपदेश दिया गया है कि साधु के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र नित्य उपासनीय हैं। वस्तुतः वे तीनों आत्मा से भिन्न वस्तु न होने के कारण आत्मा ही हैं।

यही बात सूरि जी अधोलिखित पंक्तियों में कहते हैं —

"आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव, तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः।"[२]

— यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है, तो भी उसमें उपायभाव (साधकभाव) और उपेयभाव (साध्यभाव) दोनों विद्यमान हैं, क्योंकि वह एक होते हुए भी साधक और सिद्ध उभयरूप परिणमित होती है। इनमें जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय।

इस तरह अद्वैत आत्मा में कर्त्ताकर्मादिभाव नियतस्वलक्षण की अपेक्षा निश्चयनय से सत्य है, क्योंकि परमार्थतः एक ही वस्तु में कर्त्ताकर्मादि के लक्षण

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १६
२. वही/स्याद्वादाधिकार, पृष्ठ ५३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घटित होते हैं, भिन्न वस्तुओं में नहीं।[1] किन्तु अद्वैत आत्मा में कर्त्ताकर्मादिरूप द्वैत वस्तुभेद पर आश्रित न होकर संज्ञादिभेद पर आश्रित है, इस अपेक्षा से निश्चयनय से सत्य नहीं है, अपितु संज्ञादिभेदावलम्बी सद्भूतव्यवहारनय से सत्य है।

अभेद में भी स्वस्वामित्वादिव्यपदेश की उपपत्ति

नैयायिकों का मत है कि यदि द्रव्य और गुणों में एकान्ततः (वस्तुरूप से) भेद न हो, तो उनमें 'यह इस द्रव्य का गुण है' ऐसा षष्ठीव्यपदेश (स्व-स्वामिभावकथन) अथवा 'मिट्टी अपने घटपरिणाम को उत्पन्न करती है' ऐसा कर्त्ता-कर्मादि-कारकव्यपदेश घटित नहीं हो सकता। अतः द्रव्य और गुण संज्ञादिरूप से नहीं, अपितु वस्तुरूप से भिन्न हैं। किन्तु जिनेन्द्रदेव का कथन है कि संज्ञादि का भेद होने पर भी व्यपदेशादि घटित होते हैं।[2] जैसे 'देवदत्त की गाय' इस वाक्यांश में भिन्न वस्तुओं में स्वस्वामिभाव का कथन है वैसे ही 'वृक्ष की शाखाएँ', 'द्रव्य के गुण' इन उक्तियों में एक ही वस्तु में संज्ञादि भेद के आधार पर स्वस्वामिभाव का निर्देश किया गया है। जैसे 'देवदत्त, धनदत्त के लिए बगीचे में अंकुश के द्वारा वृक्ष से फल तोड़ता हैं' यहाँ भिन्न वस्तुओं में षट्कारक-प्रयोग हुआ है, वैसे ही 'मिट्टी स्वयं, स्वयं के द्वारा, स्वयं के लिए, स्वयं में से, स्वयं में घटपर्याय उत्पन्न करती है' यहाँ एक ही वस्तु में संज्ञादिभेद के आश्रय से षट्कारक प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार 'आत्मा आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से आत्मा में जानता है', यहाँ भी एक ही वस्तु में षट्कारकों का व्यवहार हुआ है। जैसे 'एक देवदत्त की दस गायें' यहाँ भिन्न वस्तुओं में संख्या-भेद किया गया है, वैसे ही 'एक वृक्ष की दस शाखाएँ' अथवा 'एक द्रव्य में अनन्त गुण' यहाँ एक ही वस्तु में संख्यात्मक भेद दर्शाया गया है। जैसे 'गोशाला में गायें' यहाँ भिन्न पदार्थों में आधाराधेयभाव का कथन है वैसे ही 'वृक्ष में शाखाएँ' अथवा 'द्रव्य में गुण' यहाँ एक ही वस्तु में आधाराधेयसम्बन्ध बतलाया गया है। जैसे 'लम्बे देवदत्त की लम्बी गाय' इस वचन में भिन्न वस्तुओं में संस्थानभेद का वर्णन है वैसे ही 'ऊँचे वृक्ष की ऊँची शाखाएँ' अथवा 'मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण' यहाँ एक ही वस्तु में संस्थानभेद वर्णित है। अतः षष्ठी आदि व्यपदेश द्रव्य और गुणों में वस्तुरूप से भेद सिद्ध नहीं करते।[3]

---

१. "निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते।" समयसार/कलश २१०

२. "नैयायिकाः किल वदन्ति द्रव्यगुणानां यद्येकान्तेन भेदो नास्ति तर्हि व्यपदेशादयो न घटन्ते। तत्रोत्तरमाहुः —द्रव्यगुणानां कथञ्चिद्भेदे तथैवाभेदेऽपि व्यपदेशादयः सन्तीति।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ४६

३. वही/तत्त्वदीपिका/गाथा ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकत्व का हेतु

संज्ञादिभेद के कारण ही एक वस्तु में अनेकत्व (अनेकरूपता) दिखाई देता है। जैसे संज्ञादि की अपेक्षा गुण, गुणी (द्रव्य) से भिन्न है, इसलिए गुण-गुणीरूप से वस्तु में अनेकत्व है।[१] आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ।।[२]

— यद्यपि आत्मा वस्तुरूप से एक है तथापि दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन रूपों में परिणत होता है, इसलिए त्रिस्वभावात्मकता के कारण व्यवहारनय से अनेकरूप है।

समयसार की सातवीं गाथा का व्याख्यान करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं —

"जैसे अभेद की ओर से अवलोकन करनेवाले निश्चयनय से अग्नि एक-वस्तुरूप से अनुभव में आती है, किन्तु (संज्ञादिरूप) भेदपक्ष से देखनेवाले व्यवहारनय से जलाने की अपेक्षा दाहक, पकाने की अपेक्षा पाचक और प्रकाश करने की अपेक्षा प्रकाशक इन तीन रूपों में प्रतीत होती है, वैसे ही जीव भी अभेदावलम्बी निश्चयनय से शुद्धचैतन्यरूप एक वस्तु है, तो भी संज्ञादिभेद का अवलम्बन करने वाले व्यवहारनय से निरीक्षण करने पर जानने की अपेक्षा ज्ञान, देखने की अपेक्षा दर्शन और आचरण करने की अपेक्षा चारित्र, इन तीन रूपोंवाला दृष्टिगोचर होता है।"[३]

उन्होंने एक अन्य गाथा की टीका में लिखा है कि यद्यपि अभेदनय (मौलिक-अभेदावलम्बी निश्चयनय) से चेतना एकरूप है, तथापि सामान्य और विशेष के भेद से दर्शनज्ञानरूप (अनेकरूप) है —

---

१. "अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथञ्चिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद् विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात् ? अपि तु गुणगुणि-रूपेणानेकमेवेत्यर्थः।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/१४

२. समयसार/कलश १७

३. "यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद् भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः, पचतीति पाचकः, प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवति।"[१]

आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा में द्रव्य की विश्वरूपता (अनेकरूपता) पर प्रकाश डाला है —

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहि ।।[२]

— ज्ञानी ज्ञान से पृथक् नहीं है और ज्ञान अनेक हैं[३], इसलिए ज्ञानियों ने द्रव्य को विश्वरूप (अनेकरूप) कहा है।

अमृतचन्द्र सूरि ने इसका अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"द्रव्यं हि सहक्रमप्रवृत्तानन्तगुणपर्यायाधारतयाऽनन्तरूपत्वाद् एकमपि विश्वरूपमभिधीयत इति।"[४]

— द्रव्य सहप्रवृत्त तथा क्रमप्रवृत्त अनेक गुणपर्यायों का आधार है, इसलिए अनन्तरूप होने के कारण एक होते हुए भी विश्वरूप कहलाता है।

आत्मादि पदार्थों की यह अनेकरूपात्मकता धर्म-धर्मी के संज्ञादिभेद पर आश्रित है, इसलिए बाह्यभेदावलम्बी सद्भूतव्यवहारनय से अवलोकन करने पर दृष्टिगोचर होती है।

सविशेषत्व का हेतु

आत्मादि द्रव्यों से दर्शनज्ञानादि गुण संज्ञादि की अपेक्षा भिन्न होते हैं, इस भिन्नता के कारण वे 'विशेष' कहलाते हैं।[५] आत्मा का असाधारणस्वभावभूत चैतन्यभाव दर्शनज्ञानादि समस्त गुणों का आधार होने से 'सामान्य' है और दर्शनज्ञानादि गुण उसके विशिष्ट रूप हैं, इसलिए 'विशेष' शब्द से अभिहित होते हैं। समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा के सविशेषत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है —

---

१. समयसार/गाथा २९८-२९९
२. पञ्चास्तिकाय/गाथा ४३
३. "न चैवमुच्यमानेऽप्येकस्मिन्नात्मन्याभिनिबोधकादीन्यनेकानि ज्ञानानि विरुध्यन्ते द्रव्यस्य विश्वरूपत्वात्।" वही/तत्त्वदीपिका/गाथा ४३
४. वही
५. "एवं ज्ञानदर्शने अप्यात्मनि सम्बद्धे आत्मद्रव्याद् अविभक्तप्रदेशत्वेनाऽनन्येपि संज्ञादिव्यपदेशनिबन्धैर्विशेषैः पृथक्त्वमासादयतः।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ५१-५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यथा च काञ्चनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं काञ्चनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।"[१]

—जैसे स्वर्ण को चिकनेपन, पीलेपन और भारीपन की पर्यायों के द्वारा अनुभव करने पर उसका विशेषत्व भूतार्थ सिद्ध होता है, किन्तु जिसमें ये समस्त विशेष निमग्न होते हैं उस सामान्यभूत स्वभाव के द्वारा अनुभव करने पर अभूतार्थ ठहरता है, वैसे ही आत्मा को जब ज्ञानदर्शनादि पर्यायों के द्वारा अनुभव किया जाता है, तब उसका विशेषत्व भूतार्थ सिद्ध होता है, किन्तु जब इन समस्त विशेषों को अपने में समाये रखनेवाले चैतन्यरूप स्वभाव-सामान्य के द्वारा अनुभव किया जाता है, तब विशेषत्व असत्य हो जाता है।

निष्कर्ष यह कि वस्तु का विशिष्टरूप संज्ञादिभेद पर अवलम्बित होने से बाह्यभेदावलम्बिनी सद्भूतव्यवहारदृष्टि से देखने पर सत्य सिद्ध होता है।

वस्तु-अवबोधनार्थ षष्ठी आदि व्यपदेश

भिन्न वस्तुओं या एक वस्तु के भिन्न रूपों में 'यह इसका है' इस तरह स्व-स्वामिभाव का निर्देश करना षष्ठी-व्यपदेश कहलाता है तथा 'यह इस रूप से परिणमित होता है' अथवा 'यह इसका कर्त्ता है और यह इसका कर्म' इस प्रकार से कर्त्ताकर्मादिभाव का निर्देश करना कारक-व्यपदेश कहलाता है। इनके द्वारा वस्तु की पहचान कराई जाती है, उसे परिभाषित या विवेचित किया जाता है। जैसे 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं', इस वाक्य में आत्मा को स्वामी के रूप में तथा दर्शनादि को उसके स्व के रूप में वर्णित किया गया है, अतः षष्ठी-व्यपदेश है। इस षष्ठी-विभक्तियुक्त वाक्य से यह बोध होता है कि दर्शनज्ञानादिशक्तियोंवाला पदार्थ आत्मा कहलाता है। आत्मा और दर्शनज्ञानादि गुणों का इस प्रकार भेदपूर्वक (भिन्न पदार्थों की तरह) कथन संज्ञादिभेद पर आश्रित होता है, इसलिए संज्ञादिभेदावलम्बी सद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे निम्नलिखित गाथा में स्पष्ट किया है —

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥[२]

—भावार्थ यह है कि 'ज्ञानी (आत्मा) के दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं',

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १४
२. वही/गाथा ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार षष्ठीव्यपदेशपूर्वक (स्वस्वामिभावनिर्देशपूर्वक) ज्ञानी और दर्शनज्ञानादि गुणों को एक-दूसरे से पृथक् करके वर्णित किया जाता है। ऐसा वर्णन व्यवहारनय से संगत होता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय से न तो ज्ञान ज्ञानी से पृथक् है, न दर्शन, न चारित्र। ये सब उससे अभिन्न हैं, इसलिए वह शुद्ध (भिन्नद्रव्य-संयोगरहित एकवस्तुरूप) ज्ञायक है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त गाथा के भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"जो शिष्य अनन्तधर्मात्मक अखण्डवस्तु से अपरिचित होते हैं, उन्हें गुरु उसके कुछ धर्मों के द्वारा उसका बोध कराते हैं। तब वे 'दर्शन, ज्ञान और चारित्र जिसके धर्म हैं, उसे आत्मा कहते हैं', ऐसे षष्ठीव्यपदेशात्मक वाक्य का प्रयोग करते हैं, जिसमें आत्मा और उसके दर्शन-ज्ञानादि धर्म भिन्न वस्तुओं के रूप में वर्णित होते हैं। इस प्रकार केवल वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिये ही अभिन्न धर्म-धर्मी को भिन्न पदार्थों के रूप में वर्णित किया जाता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे वास्तव में भिन्न हैं। चूँकि एकवस्तुभूत धर्म-धर्मी में यह षष्ठीव्यपदेश संज्ञादिभेद पर आश्रित है, इसलिए संज्ञादिभेद के आधार पर यह भेदपूर्वक कथन सद्भूतव्यवहारनय से संगत होता है।"[१]

इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द का अर्थ प्रतिपादित करने के लिए एकवस्तुभूत आत्मा और दर्शनज्ञानचारित्र को संज्ञादिभेद के आधार पर भिन्नतया ग्रहण कर कर्त्ता-कर्मरूप कारकव्यपदेश द्वारा 'दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मा'[२] (जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप परिणमन करता है वह आत्मा है), इस प्रकार वर्णित किया जाता है। यह भेदात्मक वर्णन भी संज्ञादिभेदहेतुक होने से सद्भूतव्यवहारनय से संगत है।

कहीं गुण और गुणी को संज्ञादि भेद के आधार पर विशेषण-विशेष्य के रूप में वर्णित कर गुणी के स्वरूप का बोध कराया जाता है। उदाहरणार्थ

"आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभावः।"[३]

— आत्मा ज्ञान, दर्शन और सुखस्वभाववाला है।

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदरूवी।"[४]

---

१. "यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः।"

समयसार/आत्मख्याति/गाथा ७

२. वही/गाथा ८

३. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा २९

४. समयसार/गाथा ३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—मैं निश्चयनय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ और सदा रूपरहित हूँ।

'पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ।'[1]

'पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयओ।'[2]

—प्रज्ञा के द्वारा ऐसा अनुभव करना चाहिए कि जो द्रष्टा है, वही निश्चयनय से मैं हूँ, जो ज्ञाता है वही निश्चयनय से मैं हूँ।

इन निरूपणों में 'ज्ञानदर्शनसुखस्वभाव', 'दर्शनज्ञानमय' तथा 'ज्ञाता' और 'द्रष्टा' विशेषणों के द्वारा विशेष्यभूत आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया हैं। इनसे आत्मा के अनेकत्व एवं सविशेषत्व का भी प्रतिपादन होता है।

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।'[3]

— द्रव्य गुणपर्यायवाला है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'[4]

— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समूह मोक्ष का मार्ग है।

इन परिभाषाओं में धर्म और धर्मी को विशेषण-विशेष्य के रूप में वर्णित कर द्रव्य तथा मोक्षमार्ग के लक्षण एवं अनेकत्व और सविशेषत्व प्रतिपादित किये गये हैं। ये समस्त निरूपण एवं परिभाषाएँ सद्भूतव्यवहारनय से उपपन्न होती हैं।

जहाँ धर्म के द्वारा धर्मी की पहचान कराना आवश्यक नहीं है वहाँ उनका षष्ठी आदि विभक्तियों के प्रयोग द्वारा भेदपूर्वक कथन नहीं किया जाता। वहाँ धर्म-धर्मी की अभिन्नता के द्योतक जो द्रव्यवाचक 'आत्मा' अथवा 'चैतन्य' आदि शब्द हैं, उनके द्वारा ही आत्मादि पदार्थों का निर्देश किया जाता है। आचार्यों ने कहा भी है —

"जैसे कोई ब्राह्मण आदि पुरुष म्लेच्छ को समझाने के समय ही म्लेच्छ-भाषा बोलता है, शेष समय में नहीं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अज्ञानी को प्रतिबोधित करते समय ही व्यवहारनय का आश्रय लेता है (व्यवहारनयात्मक भाषा का प्रयोग करता है) अन्य समय में नहीं।"[5]

---

१. समयसार/गाथा २९८-२९९
२. वही/गाथा २९८-२९९
३. तत्त्वार्थसूत्र/पञ्चम अध्याय/सूत्र ३८
४. "तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात् पर्याय-प्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/४२
५. "अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानीपुरुषोऽप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभेद की अपेक्षा गुणगुण्यादिलक्षण की उपपत्ति

यहाँ यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि संज्ञादिभेद की अपेक्षा एक वस्तु में गुण-गुणी आदिरूप भेद (द्वैत) उपपन्न होता है और प्रादेशिक अभेद की अपेक्षा गुण-गुणी आदि के लक्षण एवं अस्तित्व की उपपत्ति होती है। क्योंकि यदि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न पदार्थ हों तो गुणी में गुण की नित्य सत्ता न होने पर एक विशिष्ट लक्षणवाले द्रव्य के रूप में उसका अस्तित्व घटित नहीं हो सकता और गुणी से पृथक् रहने पर आश्रय के अभाव में गुण का अस्तित्व सम्भव नहीं है।[1] जैसे ज्ञान गुण से ज्ञानी (आत्मा) के पृथक् रहने पर ज्ञानलक्षणात्मक विशिष्ट द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती तथा आत्मा से पृथक् रहने पर आश्रय के अभाव में ज्ञानगुण का सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए वस्तुरूप से अभिन्न होने पर ही उनमें गुण-गुणीरूप लक्षण घटित होते हैं और उनका अस्तित्व सिद्ध होता है।[2] इसलिए गुण-गुणी, स्व-स्वामी, कर्त्ता-कर्म आदि के प्रादेशिक (मौलिक) अभेदरूप लक्षण पर दृष्टि डालने से गुण-गुणी आदि की एकवस्तुता भूतार्थ सिद्ध होती है और भिन्न वस्तुओं की गुणगुण्यादिरूपता अभूतार्थ। अतः गुणगुण्यादि का एकवस्तुत्वरूप स्वभाव अभेदाश्रित निश्चयनय से दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए कहा गया है — "निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते।"[3] अर्थात् यदि निश्चयनय से वस्तु का चिन्तन किया जाय तो कर्त्ता और कर्म सदा एक वस्तुरूप प्रतीत होते हैं।

इसलिए 'जीव दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप है' इस कथन का जब संज्ञादि-भेदाश्रित सद्भूतव्यवहारदृष्टि से परामर्श किया जायेगा तब एकवस्तुभूत जीव में गुणगुणीरूप भेद (द्वैत) के दर्शन होंगे और जब गुणगुणी के प्रादेशिक अभेद पर आश्रित निश्चयदृष्टि से अवलोकन करेंगे तब दोनों के एकवस्तुत्व की प्रतीति होगी। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित गाथा द्रष्टव्य है —

दंसणणाणचरित्तणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।[4]

— साधु को सदा दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उपासना करनी चाहिए और

---

१. जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ।। पञ्चास्तिकाय, गाथा ४४

२. (क) "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।" तत्त्वार्थसूत्र/पञ्चम अध्याय/सूत्र ३८
(ख) "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।" वही/पञ्चम अध्याय/सूत्र ४१

३. समयसार/कलश, २१०

४. वही/गाथा १६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह भी समझना चाहिए के ये तीनों परमार्थतः आत्मा ही हैं।

इस गाथा में आचार्यश्री ने सद्भूतव्यवहारनयरूप भेददृष्टि का आश्रय लेकर जीव को दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप कहा है, अर्थात् उसमें गुण-गुणीरूप द्वैत दर्शाया है। तत्पश्चात् निश्चयनयरूप अभेददृष्टि का अवलम्बन कर दर्शनज्ञानादि गुणों को आत्मद्रव्यरूप एकवस्तु ही बतलाया है। इस प्रकार एक ही प्रकार की शब्दावली या कथन दृष्टिभेद से सद्भूतव्यवहारनयात्मक एवं निश्चनयात्मक दोनों हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि प्रत्येक सद्भूतव्यवहारनयात्मक कथन गुण-गुणी या कर्त्ता-कर्मादि के कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद पर आश्रित होता है[1] और भेद के द्वारा उनके एकवस्तुत्व रूप अभेद को दर्शाया जाता है जिससे लक्ष्यभूत वस्तु के स्वरूप का अधिगम होता है। अभेद की प्रतीति हुए बिना लक्ष्य वस्तु के स्वरूप की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक सद्भूतव्यवहारनयात्मक कथन अभेद की ओर दृष्टि ले जाने की अपेक्षा निश्चयनयात्मक भी होता है। निश्चयनय के प्रकरण में मौलिक अभेद की अपेक्षा स्वगुणपर्यायों के साथ ही जीव के स्वस्वामित्वादि सम्बन्ध प्रतिपादित किये गये हैं, अतः वे प्रतिपादन निश्चयनयात्मक हैं, किन्तु अद्वैत जीव में स्वस्वामित्वादि द्वैत के दर्शाये जाने से उक्त निरूपण सद्भूतव्यवहारनयात्मक भी हैं।

सद्भूतव्यवहारनयात्मक उपदेश के प्रयोजन

एक वस्तुभूत धर्म और धर्मी को सद्भूतव्यवहारनय (संज्ञादिभेदावलम्बिनी-दृष्टि) का आश्रय लेकर जो भिन्न पदार्थों के रूप में निरूपित किया जाता है उसका प्रयोजन है अज्ञ शिष्यों को वस्तु का स्वरूप समझाना। यह वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की अनिवार्य पद्धति है। उदाहरणार्थ, आत्मा किसी को दिखाई नहीं देता, किन्तु उसकी जानने-देखने की शक्तियाँ अर्थात् गुण सबके अनुभव में आते हैं, अतः गुणों का अलग से नाम लेकर आत्मा के स्वरूप और अस्तित्व का बोध कराना सम्भव होता है। वस्तुस्वरूप को हृदयंगम कराने का इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। इसलिए यद्यपि एकवस्तुभूत धर्म और धर्मी को भिन्न पदार्थों की तरह वर्णित करना अयथार्थ है, तथापि यथार्थ की प्रतीति कराने का साधन है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने सद्भूतव्यवहारनय को म्लेच्छ भाषा की उपमा दी है। वे कहते हैं —

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।।[2]

---

१. "द्रव्यगुणानां कथञ्चिद्भेदे तथैवाभेदेऽपि व्यपदेशादयः सन्तीति।"
पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ४६

२. समयसार/गाथा ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना कोई बात समझाना अशक्य है वैसे ही व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश असम्भव है।

इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"जैसे किसी म्लेच्छ से 'स्वस्ति' कहा जाय तो इसका अर्थ न समझ पाने के कारण वह मेढ़े के समान आँखें फाड़कर देखता रहता है, किन्तु, जब कोई म्लेच्छभाषा जाननेवाला उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ है 'तुम्हारा कल्याण हो' तब आनन्द के आँसुओं से उसकी आँखें छलछला उठती हैं, वैसे ही अशिक्षित लोगों के सामने भी जब 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसके अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण वे कुछ भी नहीं समझ पाते और मेढ़े के समान आँखें फाड़कर देखते रहते हैं। किन्तु, जब व्यवहारपद्धति का आश्रय लेकर समझाया जाता है कि "जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप परिणमन करता है उसे आत्मा कहते हैं" तब वे तुरन्त समझ जाते हैं। इस प्रकार अशिक्षित लोग म्लेच्छ के समान हैं और व्यवहारनय म्लेच्छभाषा के समान। अतः जैसे म्लेच्छभाषा के द्वारा यथार्थ बात ही समझायी जाती है, वैसे ही व्यवहारनय के द्वारा भी यथार्थ का ही प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय से उपदेश देना चाहिए। किन्तु, जैसे ब्राह्मण के साथ म्लेच्छभाषा का प्रयोग करना आवश्यक नहीं होता वैसे ही ज्ञानियों के साथ भी व्यवहारनयात्मक भाषा का व्यवहार अनावश्यक है।"[१]

यद्यपि जिस दृष्टि से निश्चयनय परमार्थ (भूतार्थ) है, उस अपेक्षा से व्यवहारनय परमार्थ नहीं है, तथापि उससे परमार्थ का ही प्रतिपादन होता है, अर्थात् व्यवहार-नयात्मक कथन से निश्चयनय का ही विषय लक्षणाशक्ति से लक्षित होता है। इस तथ्य की ओर संकेत आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में किया है जिसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है", यह वाक्यरचना परमार्थ (निश्चयनय से उपपन्न) है तथा "जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है" यह व्यवहार है (यह वाक्यरचना सद्भूतव्यवहारनय से उपपन्न है)। इस व्यवहारनयात्मक कथन में आत्मा को द्रव्यवाचक 'आत्मा' शब्द से वर्णित न कर गुणवाचक 'श्रुतज्ञान' शब्द से वर्णित किया गया है। यहाँ विचारणीय है कि निरूपित किया जानेवाला सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? अनात्मा नहीं है, क्योंकि जो अनात्मा हैं उन पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का,

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान के साथ तादात्म्य उपपन्न नहीं होता। अतः अन्यथा अनुपपन्न होने से श्रुतज्ञान आत्मा ही है यह निश्चित होता है। यह निश्चय होने पर उक्त व्यवहारनयात्मक वाक्य से यही अर्थ निकलता है कि "जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है' और यह अर्थ, परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी को भिन्न पदार्थों की तरह वर्णित करनेवाले व्यवहारनय से परमार्थमात्र का ही प्रतिपादन होता हैं, अन्य अर्थ का नहीं।"[१]

इसके अतिरिक्त वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उदाहरणार्थ, आत्मा में दर्शन-ज्ञानादि गुणरूप अनेक धर्म हैं। इन गुणों के मतिज्ञानादि एवं आत्मद्रव्य के मनुष्यत्वादि पर्यायरूप अनेक धर्म हैं तथा कर्त्ताकर्मत्वादि कारकरूप एवं अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि स्वभावरूप अनेकधर्म हैं। शिष्यों को इन अनन्तधर्मों का बोध इनका नाम लेकर बतलाने से ही होता है। और नाम लेने का अर्थ है संज्ञादिभेद के द्वारा आत्मा से इनकी भिन्नता दर्शाना जो सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है। इस तरह वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का बोध कराना भी सद्भूतव्यवहारनय द्वारा ही सम्भव है।

धर्मों के बोध से ही धर्मी का बोध होता है जिससे धर्मी के अस्तित्व की प्रतीति होती है तथा एक वस्तु से दूसरी वस्तु की भिन्नता का ज्ञान होता है एवं वस्तु समस्त संकरदोषों से रहित अनुभव में आती है।[२] इन समस्त परमार्थों का प्रतिपादन सद्भूतव्यवहारनय से ही हो सकता है। निश्चयनय तो धर्मरूप भेदों से दृष्टि हटाकर धर्मी पर ही दृष्टि डालता है जिससे न तो धर्म का बोध होता है, न धर्म के द्वारा धर्मी के स्वरूप का, न अनन्तधर्मात्मकता का। अतः सिद्ध है कि सद्भूत-व्यवहारनय के बिना परमार्थ का प्रतिपादन असम्भव है।

●

---

१. "यः श्रुतेन केवलं शुद्धात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत् परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः। ततो गत्यन्तराभावात्, ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति य आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनौ भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किञ्चिदप्य-तिरिक्तम्।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा ९-१०

२. पञ्चाध्यायी/प्रथम अध्याय/श्लोक ५२४, ५२७-५२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षष्ठ अध्याय

व्यवहारनय के भेद

(क) असद्भूतव्यवहारनय के भेद

पूर्व में असद्भूतव्यवहारनय के तीन भेदों का वर्णन किया गया है : उपाधिमूलक, बाह्यसम्बन्धमूलक और उपचारमूलक। इनमें उपाधिमूलक के भी दो भेद हो जाते हैं : द्रव्यपर्यायावलम्बी और भावपर्यायावलम्बी, क्योंकि कर्मों के उदयादि के निमित्त से जीव की द्विविध पर्यायें होती हैं, जिन्हें द्रव्यपर्याय और भावपर्याय कहते हैं। मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक, पर्यायें पुद्गलपरिणामभूत मनुष्यादि शरीरों के संश्लेष से उत्पन्न होती हैं, इसलिये द्रव्यपर्यायें हैं।[1] इनमें जीव के प्रदेश शरीरप्रमाण हो जाते हैं, किन्तु वह शरीर के रूप में परिणमित नहीं होता, इसलिये मनुष्यादि शरीर पौद्गलिक होने से जीव से अन्य हैं, जीव नहीं हैं।[2] तथा कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय के निमित्त से जीव मोहरागादिरूप, शुद्धोपयोगरूप, केवलज्ञानादिरूप एवं सिद्धत्वरूप परिणमित होता है। ये जीव के ही परिणाम अर्थात् चैतन्यपरिणाम होने से जीवरूप ही हैं, जीव से अन्य नहीं। इसलिए ये जीव की भावपर्यायें हैं। इस प्रकार भावपर्यायें जीवरूप हैं और द्रव्यपर्यायें, पुद्गलरूप। इस भेद को दर्शाने के लिए उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय के दो भेद करना आवश्यक है। जो भेद मनष्यादि द्रव्यपर्यायों का अवलम्बन कर जीव का मनुष्यादिरूप से निर्णय करता है, उसे द्रव्यपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय संज्ञा दी जा सकती है तथा जो मोहरागादि या शुद्धोपयोगादि भावपर्यायों की दिशा से अवलोकन कर जीव का मोहरागादिमयरूप में अथवा शुद्धापयोगादिमयरूप में निश्चय करता है उसे भावपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय नाम से अभिहित किया जा सकता है।

---

१. (क) "तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। ··· असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि।" प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/१

(ख) "जीवस्य भवान्तरगतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादिपर्यायोत्पत्तिः चेतनजीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलापकाद् असमानजातीयः द्रव्यपर्यायो भण्यते।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६

२. "निश्चयनयेन तेषु स्पर्शनादीन्द्रियाणि, पृथिव्यादयश्च कायाः जीवलक्षणभूतचैतन्यस्वभावाभावान्न जीवा भवन्ति।" वही/तत्त्वदीपिका/गाथा १२१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावपर्यायावलम्बी के अशुद्धनिश्चयादि भेद

यत: भावपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय औपाधिक चैतन्यपरिणाम का अवलम्बन कर जीव के स्वरूप का परामर्श करता है, इसलिए जीव के स्वकीय भाव का जीवरूप से निश्चायक होने के कारण उसे अशुद्धनिश्चयनयादि नाम दिये गए हैं।[1] निश्चय शब्द वस्तु के स्वकीय भाव में ही वस्तु के अस्तित्व का निश्चय किये जाने का सूचक है। भावपर्यायावलम्बी असद्भूतव्यवहारनय यही करता है, इसलिए उसकी अशुद्धनिश्चयादि संज्ञाएँ युक्तिसंगत हैं। ये संज्ञाएँ तीन हैं : अशुद्धनिश्चयनय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय तथा शुद्धनिश्चनयनय। ये जीव की त्रिविध औपाधिक अवस्थाओं पर आश्रित हैं जिन्हें क्रमश: अशुद्धोपादान, एकदेशशुद्धोपादान एवं शुद्धोपादान नाम दिये गए हैं।

केवलज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मों से आवृत होने के कारण जीव सामान्यत: अशुद्ध (संसारी या छद्मस्थ) होता है।[2] यह उसकी अशुद्धोपादान-अवस्था है। इसीलिए अशुद्धोपादानावलम्बी अशुद्धनिश्चयनय से मतिज्ञानादि को जीव कहना संगत होता है।[3] वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पूर्व दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से भी अशुद्ध होता है। इसलिए अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावों का जीवस्वभाव होना भी घटित होता है।[4] सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर

---

१. (क) "ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्र व्यवहारेणं क्षीरनीरवत् संश्लेषसम्बन्धो भवतु न चाभ्यन्तराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति। नैवं द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौऽसद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ५७

(ख) "मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपाणामास्रवबन्धपुण्यपापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति।"
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा २७

२. (क) "छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्था:।" धवला, १/१,१,१९

(ख) "संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषुगतिष्विति घातिकर्मकलाप: संसार:। तस्मिन् तिष्ठन्तीति संसारस्था: छद्मस्था:।" वही, १३/५,४,१७

(ग) "मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात् तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्तते। तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्ठानरूपयोगत्रयव्यापारस्तिष्ठति।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेव/गाथा ३४

३. "सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति।"
आलापपद्धति/सूत्र, २१९

४. "अशुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि स्वभावा भण्यन्ते।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमत्तसंयत गुणस्थानपर्यन्त ज्ञानावरणादिकर्मों के उदय के साथ चारित्रमोहनीय की शुद्धेपयोगरोधक कर्मप्रकृतियों के उदय से भी अशुद्ध होता है। इसलिए इन गुणस्थानों की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय से जीव प्रधानतया शुभभाव का तथा गौणतः अशुभभाव का कर्त्ता भी सिद्ध होता है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायगुणस्थान पर्यन्त, यद्यपि ज्ञानावरणादि के उदय से वह अशुद्ध होता है और केवलज्ञानपर्याय के समान शुद्ध नहीं होता, तथापि शुद्धोपयोगरोधक कषायों के उपशम या क्षयोपशम या क्षय से उसमें आंशिक शुद्धता आ जाती है।[1] यह जीव की एकदेशशुद्धोपादान-अवस्था है। अतः एकदेशशुद्धोपादानावलम्बी एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से विचार करने पर आत्मा संवर, निर्जरा और मोक्षरूप भावपर्यायों का कर्त्ता ठहरता है[2] अथवा उसका शुद्धोपयोगी होना घटित होता है। तथा केवल-ज्ञानपर्याय में स्थित जीव घातिकर्मचतुष्टय के क्षय से और सिद्धपर्यायस्थ जीव आठों कर्मों के क्षय से पूर्ण शुद्ध होता है, जो जीव की शुद्धोपादान-अवस्था है। इस शुद्धोपादान की दिशा से विचार करनेवाले शुद्धनिश्चयनय (क्षीणोपाधिमूलक निश्चयनय) से केवलज्ञानादि को जीव संज्ञा देना संगत होता है।[3]

जीव की ये अशुद्धोपादानादिरूप तीनों अवस्थाएँ भावपर्यायावलम्बी उपाधिमूलक असद्भूतव्यवहारनय का विषय हैं, अतः इस नय के अशुद्धनिश्चयनयादि तीनों उपनाम सार्थक हैं। अब प्रश्न है कि इस नय को अशुद्धनिश्चयादि संज्ञाएँ देने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? उत्तर यह है कि असद्भूतव्यवहारनय का मुख्य लक्षण भिन्नवस्तुसम्बन्ध का प्रकाशन करना है, जैसा कि कहा गया है — "भिन्नवस्तुसम्बन्ध-विषयोऽसद्भूतव्यवहारः।" इसलिए जैसे असद्भूतव्यवहारनय से जीव को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता कहने पर पुद्गलकर्मों का जीव से भिन्न होना सूचित होता है, वैसे ही असद्भूतव्यवहारनय से रागादिभावों का कर्त्ता कहने पर वे भी पुद्गलकर्मों के

---

१. "अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटत इति चेत् तत्रोत्तरं दीयते — शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूप-साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूत-मिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्याय-वत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूप-निश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३४

२. वही/गाथा २७

३. "शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।" आलापपद्धति/सूत्र २१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समान जीव से भिन्न ठहरेंगे। किन्तु, वे अशुद्ध जीव के परिणाम हैं, चिद्विवर्त[1] (अशुद्धचैतन्यपरिणाम) हैं, अत एव अशुद्धजीवरूप ही हैं, पुद्‌गलकर्म के समान पुद्‌गलरूप नहीं। इसी भेद की तुरन्त प्रतीति कराने के लिए भावपर्यायावलम्बी असद्‌भूतव्यवहारनय को अशुद्धनिश्चयनय आदि नाम दिये गए हैं और जीव को अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावों का कर्त्ता कहा गया है। किन्तु निरुपाधिक (मूल) पदार्थावलम्बी निश्चयनय से जीव में इन औपाधिक भावों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, वह मात्र शुद्धचैतन्यस्वरूप ठहरता है, अतः इस नय की अपेक्षा रागादिभाव परभाव अर्थात पुद्‌गल के भाव हैं।[2] इस कारण रागादिभावों को जीव का भाव प्रतिपादित करनेवाला अशुद्धनिश्चयनय निश्चयनय की दृष्टि से असद्भूतव्यवहारनय ही है। इस तथ्य की ओर आचार्य जयसेन ने समयसार की वृत्ति में बार-बार ध्यान आकृष्ट किया है।[3] अशुद्धनिश्चयनय के असद्भूतव्यवहारनय होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि जहाँ आचार्य देवसेन ने मतिज्ञानादि को अशुद्धनिश्चयनय से जीव संज्ञा दी है, वहीं नेमिचन्द्राचार्य ने उन्हें व्यवहारनय (असद्भूत) से जीव का लक्षण बतलाया है।[4]

अशुद्धनिश्चयनय के समान एकदेशशुद्धनिश्चयनय तथा शुद्धनिश्चयनय (कर्मक्षयोपाधिमूलक निश्चयनय) भी असद्भूतव्यवहारनय के ही नामान्तर हैं। श्री माइल्ल धवल ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये इन (एकदेश शुद्ध एवं शुद्धनिश्चय) नयों के विषयभूत औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक भावों को असद्भूत कहा है[5] जिनमें शुद्धोपयोग, केवलज्ञानादि तथा सिद्धत्व पर्यायें सम्मिलित हैं।

यहाँ इस तथ्य को हृदयंगम कर लेना चाहिये कि जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय

---

१. "भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नुः।" आप्तपरीक्षा/कारिका ११४
२. समयसार/गाथा ५०-५५
३. "यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणो-रेकत्वं प्राप्नोतीति। नैवं, रागादिभावकर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थम्। कथं तारतम्यमिति चेत्। द्रव्य-कर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि, तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणदशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अयमत्र भावार्थः —द्रव्य-कर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन। स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११३-११५
४. बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ६
५. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/गाथा २९२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(असद्भूत) को ही जीव और शरीर तथा जीव और रागादि के कथंचित् अभेद को दर्शानेवाला कहा है।[१] इसलिये यदि असद्भूतव्यवहारनय के उपर्युक्त (द्रव्य-पर्यायावलम्बी और भावपर्यायावलम्बी) भेदों को ध्यान में रखा जाय तो द्रव्यपर्याय और भावपर्याय में अथवा द्रव्यकर्म और भावकर्म में अभेदबुद्धि का प्रसंग नहीं आएगा।

अब इन तीन नयों के आश्रय से आचार्यों ने जो निरूपण किये हैं उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

अशुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव को कर्मोपाधिजनित मोहरागद्वेषादि भावों का निश्चयनय से कर्त्ता-भोक्ता कहा है — कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।[२] यहाँ 'निश्चय' शब्द से 'अशुद्धनिश्चय' इष्ट है, जैसा कि वृत्तिकार श्री पद्मप्रभमलधारि-देव की व्याख्या से ज्ञात होता है —

"आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्त्ता भोक्ता च।"[३]

बृहद्द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने आठवीं गाथा के 'णिच्छयदो चेदणकम्माणादा' अंश की व्याख्या करते हुए कहा है कि जीव का रागादि विकल्प-रूप चेतनकर्मों का कर्त्ता होना अशुद्धनिश्चयनय से घटित होता है। उन्होंने 'अशुद्धनिश्चय' शब्द का अर्थ भी स्पष्ट किया है। वे कहते हैं — 'अशुद्ध' शब्द रागादि के कर्मोपाधिजन्य होने का सूचक है तथा 'निश्चय' शब्द सोपाधिक अवस्था में आत्मा के तन्मय (रागादिमय) होने का। दोनों के मेल से 'अशुद्धनिश्चय' शब्द निष्पन्न हुआ है।[४]

भगवत्कुन्दकुन्ददेव ने 'रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्णपरिणामा'[५] इस गाथांश में भी अशुद्धनिश्चयनय से उपपन्न होने के कारण ही राग, द्वेष और मोह

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६
२. नियमसार/गाथा १८
३. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १८
४. "भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। अशुद्ध-निश्चयस्यार्थः कथ्यते कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वाद् अशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत् तन्मयत्वाच्च निश्चयः। इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते।"
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ८
५. समयसार/गाथा ३७१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को जीव का स्वकीय परिणाम बतलाया है और अशुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से ही उन्होंने यह कहा है कि आत्मा जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है उसका ही वह कर्त्ता होता है और उसी का भोक्ता[1], क्योंकि निश्चयनय से तो उन्होंने इसका निषेध किया है।

आचार्य जयसेन का कथन है कि यतः अशुद्ध (कर्मोपाधियुक्त) जीव रागादिरूप से परिणमित होता है, इसलिये अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भी जीव के स्वभाव कहलाते हैं —

"कर्मकर्तृत्वप्रस्तावाद् अशुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि स्वभावा भण्यन्ते।"[2]

चूँकि हर्षविषादरूप सुख-दुःख की उत्पत्ति अशुद्धावस्था में होती है, इसलिए जीव अशुद्धनिश्चयनय से ही उनका भोक्ता सिद्ध होता है —

"स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षविषादरूपं सुखदुःखं च भुङ्क्ते।"[3]

रागादि का सद्भाव अशुद्धावस्था में ही होता है, इसलिये जीव के द्वारा रागादि का परित्याग किया जाना अथवा भावकर्मों का दहन किया जाना भी अशुद्ध-निश्चयनय से ही घटित होता है। निम्नलिखित निरूपण इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं —

"यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति।"[4] "भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन।"[5]

भगवान् के केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का स्मरणरूप भावनमस्कार भी अशुद्धनिश्चयनय से ही वास्तविक सिद्ध होता है, क्योंकि अरहन्तादि के प्रति भक्ति-परिणाम-रूप प्रशस्तराग अशुद्ध जीव में ही उत्पन्न होता है, इसलिए श्री ब्रह्मदेव ने कहा है —

"केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयेनेति।"[6]

एकदेशशुद्धनिश्चयात्मक निरूपण

मोहनीय कर्म की जिन प्रकृतियों का उदय शुद्धोपयोग को रोकता है उनका

---

१. जं भाव सुहमसुहं करोदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ।। समयसार/गाथा १०२

२. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६१

३. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ९

४. वही/गाथा ४५

५. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका/दोहा १

६. वही/दोहा १

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर आत्मा एकदेश (अंशतः) शुद्ध हो जाता है। इस अवस्था में उसमें शुद्धपयोग की उत्पत्ति होती है, जिसे भावसंवर, भावनिर्जरा और भावमोक्ष भी कहते हैं। अतः एकदेशशुद्धनिश्चयनय से देखने पर जीव शुद्धोपयोग अथवा भावसंवर आदि का कर्त्ता सिद्ध होता है। इसका निरूपण श्रीब्रह्मदेव ने इन शब्दों में किया है —

"सम्यग्दृष्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवभावपर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेनेति।"[1]

—सम्यग्दृष्टि जीव का द्रव्यरूप (पुद्गलपरिणामरूप) संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्तृत्व अनुपचिरत (जीवसंश्लिष्ट-परद्रव्यसम्बन्धमूलक) असद्भूतव्यवहारनय से घटित होता है तथा भावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्तृत्व एकदेशशुद्धनिश्चयनय से।

अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त जीव में जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट मात्रा में शुद्धोपयोग पाया जाता है। इन पर्यायों में स्थित जीव एकदेशशुद्ध उपादान होता है, अतः जीव में शुद्धोपयोग का सद्भाव एकदेशशुद्धनिश्चयनय से उपपन्न होता है। निम्नलिखित व्याख्यान में यह तथ्य प्रकाशित किया गया है —

"तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।"[2]

शुद्धनिश्चयनयात्मक निरूपण

मूलपदार्थावलम्बी अथवा द्रव्याश्रित निश्चयनय से भिन्नता दर्शाने के लिये इसे क्षीणोपाधिमूलक शुद्धनिश्चयनय नाम देना उचित होगा, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'शुद्ध' विशेषण घाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न शुद्धता का वाचक है। केवलज्ञानादिभाव इसी शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वभाव घटित होते हैं, जैसा कि आचार्य जयसेन ने कहा है — "शुद्धनिश्चयेन केवलज्ञानादिशुद्धभावाः स्वभावा भण्यन्ते।"[3] द्रव्यार्थिक निश्चयनय तो निरुपाधिक आत्मा का अवलम्बन कर निर्णय करता है, अतः उसकी अपेक्षा इन औपाधिक भावों का अस्तित्व ही घटित नहीं होता।

आलापपद्धतिकार ने 'केवलज्ञानादि जीव हैं', इस प्रकार निरुपाधिक गुण-

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा २७
२. वही/गाथा ३४
३. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणी के अभेद का अवलम्बन करनेवाले नय को शुद्धनिश्चयनय कहा है।[१] यहाँ 'निरुपाधि' शब्द से 'क्षीणोपाधि' अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि कर्मोपाधि का क्षय होने पर ही जीव के केवलज्ञानादि स्वभाव प्रकट होते हैं तथा मुक्तावस्था में जीव का अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि शुद्धभावों का कर्तृत्व भी इसी क्षीणोपाधिमूलक शुद्धनिश्चयनय से ही उपपन्न होता है।[२]

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के भेद

उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय को आलापपद्धतिकार ने दो भेदों में विभाजित किया है — अनुपचरित एवं उपचरित।[३] संसारी जीव के साथ शरीर और पुद्गल-कर्म संश्लिष्ट होते हैं। अत: जिनेन्द्रदेव ने इनमें और जीव में परस्पर स्व-स्वामित्वादि सम्बन्धों का उपचार किया है। इस उपचार का अवलम्बन कर जीव के विषय में परामर्श करनेवाली दृष्टि को आलापपद्धतिकार ने अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय संज्ञा दी है। उदाहरणार्थ —

"संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति।"[४]

— जिस शरीरादि परद्रव्य का जीव से संश्लेष है उसके साथ जीव के (स्वस्वामित्वादि) सम्बन्ध का उपचार करनेवाली (तथा किये गए उपचार के निमित्त एवं प्रयोजन को देखनेवाली) दृष्टि का नाम अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे 'यह जीव का शरीर है' इस कथन में जीवसंश्लिष्ट शरीर और जीव में स्वस्वामि-सम्बन्ध का उपचार किया गया है, अत: यह अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से किये गए परामर्श का उदाहरण है।

यद्यपि यह दृष्टि उपचारमूलक है, तथापि उपचार का विषय जीव से संश्लिष्ट पदार्थ है, न कि असंश्लिष्ट, इसलिये इसे अनुपचरित कहा गया है तथा परिवारजन एवं धनसम्पत्ति जीव से असंश्लिष्ट होते हैं इसलिये इनमें और जीव में स्वस्वामित्वादि सम्बन्धों का उपचार करनेवाली तथा किये गए उपचार के निमित्त

---

१. "तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक: शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।' आलापपद्धति/सूत्र, २१८

२. "शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञान-सुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ८

३. "असद्भूतव्यवहारो द्विविध: उपचरितानुपचरितभेदात्।" आलापपद्धति/सूत्र २२६

४. वही/सूत्र २२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं प्रयोजन को हृदयंगम करनेवाली दृष्टि उपचरित असद्भूतव्यवहारनय शब्द से अभिहित की गयी है। आचार्य देवसेन के निम्नलिखित वचन से यह बात स्पष्ट होती है —

"संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति।"[१]

— 'यह देवदत्त का धन है', इस प्रकार जीव से असंश्लिष्ट वस्तु के साथ जीव के स्वस्वामित्वादिसम्बन्ध का उपचार करने वाली दृष्टि उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय है।

यहाँ संश्लेषरहित पदार्थ के साथ पहले संश्लेषसम्बन्ध का उपचार किया जाता है, तत्पश्चात् स्व-स्वामित्वादि सम्बन्ध का। इसलिए उपचार में उपचार करने के कारण इस दृष्टि को उपचरित असद्भूतव्यवहारनय नाम दिया गया है।

(ख) सद्भूतव्यवहारनय के भेद

आलापपद्धतिकार आचार्य देवसेन ने इसके भी दो भेद दिखलाये हैं : उपचरित और अनुपचरित।[२] इन्हें क्रमशः अशुद्ध और शुद्ध भी कहा गया है।

सोपाधि-गुणी (द्रव्य) और सोपाधि-गुण में जो संज्ञादि का भेद होता है उसका अवलम्बन कर उन्हें भिन्न पदार्थों की तरह व्यवहृत करनेवाली दृष्टि उपचरित या अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय कहलाती है। जैसे जीव के 'मतिज्ञानादिगुण' इस कथन में कर्मोपाधियुक्त अशुद्ध जीव तथा उसके मतिज्ञानादि अशुद्ध गुणों में रहनेवाले संज्ञादि भेद को लेकर उन्हें स्वस्वामिरूप से भिन्न पदार्थों की तरह व्यवहृत किया गया है, अतः यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से किये गए परामर्श का उदाहरण है।[३] अशुद्धपर्याय और अशुद्धपर्यायी (द्रव्य) का संज्ञादिभेद भी इस नय का विषय है।[४]

तथा जो दृष्टि निरुपाधिक गुणी और निरुपाधिक गुण के संज्ञादिगत भेद का अवलम्बन कर उन्हें भिन्न पदार्थों की तरह व्यवहृत करती है उसे अनुपचरित (शुद्ध) सद्भूतव्यवहारनय नाम दिया गया है। जैसे 'जीव के केवलज्ञानादि गुण'

---

१. आलापपद्धति/सूत्र २२७
२. "तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् ।" वही/सूत्र २२३
३. "तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः।" वही/सूत्र २२४
४. "अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाऽशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेद-कथनम्।" वही/सूत्र ८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस कथन में कर्मोपाधिमुक्त शुद्ध जीव तथा उसके केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के संज्ञादिरूप भेद का अवलम्बन कर उन्हें स्वस्वामिरूप से भिन्न पदार्थों की तरह व्यवहृत किया गया है, अतः यह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय से किये गए परामर्श का उदाहरण है।[1] शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी का संज्ञादिभेद भी इस नय का विषय है।[2]

१. "निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः।" वही/सूत्र २२५

२. "शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्।" वही/सूत्र २८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्तम अध्याय

निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता

परस्पर पूरक

वस्तु अनेकान्त है अर्थात् परस्परविरुद्धधर्मद्वयात्मक है। निश्चय और व्यवहार नय उनमें से एक-एक धर्म का प्रकाशन करते हैं, इसलिये दोनों मिलकर ही वस्तु का पूर्ण स्वरूप दर्शाने में समर्थ होते हैं, अतः वे परस्पर पूरक हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा भी है —

"एकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम्।"[१]

—एक आँख से देखने पर वस्तु का एक पक्ष दिखाई देता है, दोनों आँखों से देखने पर सम्पूर्ण वस्तु के दर्शन होते हैं।

परस्पर अविनाभावी

निश्चय और व्यवहार, उत्तर और दक्षिण अथवा दाएँ और बाएँ के समान परस्पर अविनाभावी हैं। उत्तर के भेद के बिना दक्षिण का भेद सम्भव नहीं है और दक्षिण के भेद के बिना उत्तर का भेद असम्भव है। परस्पर विरुद्ध दिशाओं में से जब एक को उत्तर नाम दिया जाता है, तभी उससे विरुद्ध दिशा के लिये दक्षिण संज्ञा घटित होती है। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मों में से जब कोई धर्म व्यवहारनय से घटित होता है, तभी तद्विरुद्ध धर्म निश्चयनय से घटित होता है अथवा जब किसी धर्म की उपपत्ति निश्चयनय से होती है, तभी उससे विरुद्ध धर्म की उपपत्ति व्यवहार-नय से होती है। इसलिए जहाँ निश्चयनय अपने विषयभूत धर्म का मुख्यतः प्रकाशन करता है, वहीं प्रतिपक्षीरूप से सम्बद्ध व्यवहारनय के विषयभूत धर्म की सत्ता भी द्योतित करता है। इसी तरह व्यवहारनय अपने विषयभूत धर्म को मुख्यतः विज्ञापित करने के साथ-साथ प्रतिपक्षीरूप से सम्बद्ध निश्चयनय के विषयभूत धर्म का अस्तित्व भी मौनरूप से ज्ञापित करता है। इस प्रकार निश्चयनय में व्यवहारनय के विषय की स्वीकृति समायी होती है और व्यवहारनय में निश्चयनय के विषय की। यही निश्चय और व्यवहार की परस्पर सापेक्षता है।[२] इसलिए जब यह कहा जाता है कि 'आत्मा

१. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका, २/२२

२. (क) "निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा।"

आप्तमीमांसा-भाष्य/कारिका १०८

(ख) "सापेक्षाः परस्परसम्बद्धास्ते नयाः।" देवागमवृत्ति/कारिका १०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयनय से अबद्ध है' तब 'व्यवहारनय से बद्ध है' यह अर्थ अपने आप ध्वनित होता है, क्योंकि निश्चयनय केवल निरुपाधिक अवस्था की अपेक्षा से ही अबद्ध होने का निर्णय देता है, सोपाधिक अवस्था की अपेक्षा नहीं। सोपाधिक अवस्था व्यवहारनय का विषय है, इसलिये व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा का बद्ध होना निश्चयनय स्वीकार करता है।[1] आचार्य जयसेन इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —

"शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्त्ता, अभोक्ता तथा क्रोधादि भावों से भिन्न है, ऐसा कथन करने पर, दूसरे पक्ष में वह व्यवहार से कर्त्ता, भोक्ता तथा क्रोधादि भावों से अभिन्न है, यह आशय बिना कहे ही फलित होता है। जैसे 'यह देवदत्त दायीं आँख से देखता है' ऐसा कहने पर 'बायीं आँख से नहीं देखता है' यह बिना कहे ही सिद्ध होता है, क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं। किन्तु जो सांख्य या सदाशिव मत के अनुयायी इस प्रकार परस्परसापेक्ष नयविभाग नहीं मानते उनके मत में जैसे शुद्धनिश्चयनय से आत्मा अकर्ता तथा क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहारनय से भी सिद्ध होता है। इस स्थिति में आत्मा का क्रोधादिरूप से परिणमित होना घटित नहीं होता। इससे सिद्धों के समान कर्मबन्ध के अभाव का तथा कर्मबन्ध के अभाव में सर्वदा मुक्त रहने का प्रसंग उपस्थित होता है। किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि संसार प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है।[2]

इस व्याख्यान से निश्चय और व्यवहार की परस्परसापेक्षता का अभिप्राय भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

निरपेक्षा नया मिथ्याः[3]

यदि निश्चय और व्यवहार परस्पर निरपेक्ष हों, अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा

---

१. गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।। समयसार/गाथा ६०

२. "किञ्च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यत एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः, इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते साङ्ख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावः। कर्मबन्धाभावे संसाराभावः संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११३-११५

३. आप्तमीमांसा/कारिका, १०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से प्रतिपक्षी धर्म के अस्तित्व को स्वीकार न करें, तो दोनों मिथ्या सिद्ध होंगे, क्योंकि आत्मा नित्य-अनित्य, अभेद-सभेद, बद्ध-अबद्ध, शुद्ध-अशुद्ध आदि रूप से अनेकान्तात्मक है, अब यदि निश्चयनय स्वापेक्षया उसके नित्य, अभेद, अबद्ध, शुद्ध, आदि होने का निर्णय तो करे, किन्तु व्यवहारनय से उसका अनित्य, सभेद बद्ध, अशुद्ध आदि होना स्वीकार न करे तो आत्मा एकान्तात्मक सिद्ध होगा जो मिथ्या है। इस प्रकार मिथ्या-निर्णय का हेतु होने से निश्चयनय मिथ्या हो जायेगा। इसी प्रकार व्यवहारनय आत्मा को स्वापेक्षया अनित्य, सभेद, बद्ध, अशुद्ध आदि निर्णीत करे, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा उसका नित्य, अभेद, अबद्ध, शुद्ध आदि होना स्वीकार न करे, तो इस प्रकार भी आत्मा एकान्तात्मक सिद्ध होगा। इस निर्णय के भी मिथ्या होने से व्यवहारनय मिथ्या हो जायेगा। दूसरे, परस्परविरुद्ध धर्मों में से एक का निषेध होने पर दूसरे का भी निषेध हो जाता है, जिससे धर्म के अभाव में धर्मी (वस्तु) के ही लोप का प्रसंग आता है।[१] इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षी नय के विषय का अभाव होने पर उस नय का भी अभाव हो जाता है और एक नय के अभाव में दूसरे का भी अस्तित्व नहीं रहता। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

> य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
> त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ।।[२]

— जो नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मों का प्रतिपादन करनेवाले परस्पर प्रतिपक्षी नय हैं, वे एक-दूसरे से निरपेक्ष होने पर एक-दूसरे के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करते हैं, किन्तु परस्पर सापेक्ष होने पर अपने को भी सत्य सिद्ध करते हैं, और दूसरे को भी।

एक-दूसरे को स्वीकार करके वे सर्वथात्व के दोष से मुक्त हो जाते हैं और अपने को समीचीन बनाकर अपने अस्तित्व की रक्षा कर लेते हैं — "सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।"[३]

समयसार के सुप्रसिद्ध हिन्दी व्याख्याकार पंडित जयचन्द जी लिखते हैं कि शुद्धनय (निश्चयनय) को सत्यार्थ (भूतार्थ) कहा गया है, इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि अशुद्धनय (व्यवहारनय) सर्वथा असत्यार्थ है। ऐसा मानने

---

१. अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ।।
स्वयम्भूस्तोत्र/श्लोक २२

२. वही/श्लोक ६१

३. वही/श्लोक १०४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से वेदान्तमत की तरह संसार सर्वथा अवस्तु ठहरेगा, जिससे एकान्तपक्ष आ जाने से मिथ्यात्व का प्रसंग आएगा। इस स्थिति में शुद्धनय का अवलम्बन भी मिथ्या सिद्ध होगा। अतः सभी नयों की कथंचित् सत्यार्थता का श्रद्धान करने से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[१]

परस्परसापेक्ष नय ही अज्ञाननिवारक

परस्पर सापेक्ष होने पर ही निश्चय और व्यवहार नय प्रमाण के अवयव बनकर वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं और अज्ञान का निवारण करते हैं। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है —

"भागवतं शास्त्रमिदं ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रवेदिनः शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्ति।"[२]

—जो इस भगवत्प्रणीत शास्त्र का निश्चय और व्यवहार नयों के समन्वय से अनुशीलन करते हैं, वे महापुरुष ही समस्त अध्यात्मशास्त्र के मर्म को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं और शाश्वत सुख के भोक्ता बनते हैं।

परस्परसापेक्ष निश्चयव्यवहार नयों के द्वारा उपलब्ध ज्ञान से ही मिथ्यात्व का विनाश होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है —

"यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोध-मध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् ··· शुद्धात्मा स्यात्।"[३]

—जो केवल अपने विषय तक सीमित रहने वाले अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय का निषेध न करते हुए शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय से मोह का विनाश करता है ··· वही शुद्धात्मा बनता है।

भट्टारक देवसेन ने भी उपदेश दिया है — "मोहनिरासार्थं निश्चयव्यवहारा-भ्यामालिङ्गितं कृत्वा वस्तुस्वरूपं निर्णेयम्।"[४] अर्थात् मिथ्यात्व का विनाश करने के लिये निश्चय और व्यवहार दोनों के द्वारा वस्तुरूप का निर्णय करना चाहिये।

वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री विद्यासागर जी कहते हैं — "जैसे नदी के किनारे परस्पर प्रतिकूल होकर भी नदी के लिये अनुकूल हैं, दोनों में ही नदी का स्वरूप विद्यमान है, वैसे ही निश्चय और व्यवहार नय एक-दूसरे के प्रतिकूल

---

१. समयसार/भावार्थ/गाथा १४
२. नियमसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १८७
३. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका २/९९
४. श्रुतभवनदीपकनयचक्र ५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते हुए भी प्रमाण के लिये अनुकूल हैं। दोनों मिलकर ही वस्तु के पूर्णस्वरूप का संकेत करते हैं।''[१]

किसी एक नय के कथन को ग्रहण करने तथा दूसरे नय के कथन का निषेध करने से दृष्टि में मिथ्यात्व आता है। निश्चय को ही एकान्तरूप से ग्रहण करने वालों के विषय में पंडित टोडरमल जी कहते हैं —

''जिनवाणी में तो विभिन्न नयों की अपेक्षा वस्तुतत्त्व का भिन्न-भिन्न रूप में निरूपण किया गया है, किन्तु एकान्तनिश्चयावलम्बी एकमात्र निश्चयनयात्मक कथन को ग्रहण कर मिथ्यादृष्टि बनते हैं।[२]

वे आगे लिखते हैं — ''निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहार-रूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नय का श्रद्धान करने से एकान्त मिथ्यात्व होता है।''[३]

समयसार में कहा गया है कि ''व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ। भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है।''[४] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय का आश्रय लेने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय तो मिथ्या नय है, मिथ्या नय का आश्रय लेनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? अत: इसका तात्पर्य यह है कि परमार्थ को ही परमार्थबुद्धि से ग्रहण करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है, व्यवहार को परमार्थबुद्धि से ग्रहण करनेवाला नहीं।[५] किन्तु, चूँकि निश्चयनय व्यवहारनय-सापेक्ष है, अत: व्यवहारनय के विषयभूत धर्म को व्यवहारनय से सत्य स्वीकार किये बिना जीव परमार्थ को परमार्थबुद्धि से ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जो परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से ग्रहण करता है वह व्यवहार के विषय को व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य स्वीकार करता ही है — यह अभिप्राय उक्त तात्पर्य से स्वयमेव ध्वनित होता है।

---

१. 'सागर में विद्यासागर स्मारिका', पृ० ५१
२. मोक्षमार्गप्रकाशक/सप्तम अधिकार/पृ० १९८
३. वही/सप्तम अधिकार/पृ० २५०
४. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।। समयसार/गाथा ११
५. ''ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते।''
वही/आत्मख्याति/गाथा ४१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मिथ्याबुद्धियों के विनाश से होती है। मिथ्याबुद्धियों का विनाश न केवल निश्चयनय के अवलम्बन से होता है, न केवल व्यवहारनय के, अपितु परस्परसापेक्ष दोनों नयों के अवलम्बन से होता है।

निश्चयनय के द्वारा शरीरादि में आत्मादिबुद्धि का विनाश

निश्चयनय के अवलम्बन से परमार्थभूत (नियतस्वलक्षणसिद्ध) आत्मा तथा परमार्थ-मोक्षमार्ग का बोध होता है। इससे जीव की जो अनादिकाल से अपने को देहरूप या मोहरागादिरूप समझने तथा परद्रव्यों को सुख का हेतु एवं अपना मानने की मिथ्याबुद्धि है, वह नष्ट हो जाती है और वह स्वयं को अनन्तज्ञानादि शक्तियों से सम्पन्न शुद्धचैतन्यस्वरूप अनुभव करता है। उसे यह निश्चय हो जाता है कि मोहरागादि भाव उसके स्वाभाविक भाव नहीं हैं, अपितु कर्मोपाधिजन्य हैं तथा शरीर चेतनआत्मा से भिन्न जड़तत्त्व है। उसका संयोग कर्मवश हुआ है। सांसारिक वस्तुएँ न सुखमय हैं, न दुःखमय। एकमात्र स्वात्मा ही आनन्द का स्रोत है, क्योंकि आनन्द उसका स्वभाव है। वह अनुभव करता है कि मैं मोहकर्मजनित अज्ञानवश स्वात्मस्वरूप की उपलब्धि से वंचित होकर संसारभ्रमण कर रहा हूँ। इससे मुक्त होने पर ही निजस्वरूप एवं शाश्वत सुख की उपलब्धि हो सकती है। मुक्त होने की शक्ति मुझमें ही है। मेरा स्वभाव ही मोक्ष का मार्ग है, अतः वही उपादेय है। इस प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसी प्रकार जो केवल शुभप्रवृत्तियों को ही मोक्ष का मार्ग समझते हैं उनका भ्रम भी दूर हो जाता है। निश्चयनय द्वारा उन्हें मोक्ष का परमार्थ मार्ग ज्ञात हो जाने पर वे आत्म-स्वभाव को ही वास्तविक मोक्षमार्ग समझने लगते हैं। इस प्रकार निश्चयनय के अवलम्बन से व्यवहार को परमार्थ समझने की मिथ्याबुद्धि नष्ट हो जाती है और जीव परमार्थ को ही परमार्थ बुद्धि से ग्रहण करता है।

व्यवहारनय के द्वारा सर्वथा शुद्धत्व की मिथ्याबुद्धि का विनाश

व्यवहारनय के द्वारा जीव को स्वयं की संसारपर्याय का ज्ञान होता है। इससे जो एकान्तनिश्चय का अवलम्बन कर स्वयं को सर्वथा शुद्ध समझने लगते हैं उनकी मिथ्याबुद्धि विनष्ट हो जाती है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये अपनी संसारपर्याय का ज्ञान और उसमें विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना जीव अपने को बन्धन में बँधा हुआ अनुभव ही नहीं करेगा, तो मोक्ष के लिये प्रयत्न कैसे करेगा ? इसीलिये आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है – "राग-द्वेष-मोह से जीव का जो परमार्थतः भेद है, केवल उसे ही दर्शाया जाय और जीव केवल उसे ही सत्य माने तो मोक्ष-मार्ग अपनाने की आवश्यकता ही सिद्ध न होगी, जिससे जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कभी मुक्ति का प्रयत्न न करेगा।"[१] आचार्य जयसेन का कथन है — "जब जीव को यह ज्ञान होता है कि आत्मा रागादि का कर्त्ता है, रागादि भाव ही बन्ध के कारण हैं, तब वह रागद्वेषादि विकल्पजाल त्यागकर उनके विनाश हेतु निज शुद्धात्मा का ध्यान करता है। इससे रागादि का विनाश होता है और आत्मा शुद्ध हो जाता है।"[२]

आत्मा का देह के साथ जो विलक्षण संश्लेषरूप अभेद है तथा धन-सम्पत्ति, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्र्यादि के साथ लौकिक स्व-स्वामिसम्बन्ध है इनका ज्ञान भी व्यवहारनय के द्वारा होता है। यह ज्ञान भी मोक्ष के लिये अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा और शरीर के कथंचित् अभेद की अनुभूति न हो तो जीवों के शरीर का घात करने से हिंसा घटित नहीं होगी। उससे कर्मबन्ध के अभाव का प्रसंग आएगा और कर्मबन्ध के अभाव में मोक्ष की आवश्यकता सिद्ध न होगी। ऐसा होने पर जीव मोक्षमार्ग में प्रवृत्त न होगा, जिससे उसका मुक्त होना असम्भव हो जाएगा। इस तथ्य का निरूपण आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की ४६वीं गाथा की टीका में किया है, जिसका विवरण पूर्व में दिया जा चुका है।

इसी प्रकार धन-सम्पत्ति एवं कुटुम्बीजनों के साथ जीव का जो लौकिक स्व-स्वामिसम्बन्ध है, उसे मान्यता न दी जाय, तो अदत्तादानरूप चोरी, परस्त्री-पर-पुरुष-गमनरूप अब्रह्म तथा बाह्यवस्तुसंग्रहरूप परिग्रह के पाप घटित नहीं होंगे। तब भी उपर्युक्त प्रकार से मोक्ष असम्भव हो जाएगा। सार यह है कि व्यवहारनय संसारपर्याय को दृष्टि में लाकर जीव की स्वयं को सर्वथा शुद्ध समझने की मिथ्याबुद्धि नष्ट करता है और पर्याय की अपेक्षा अशुद्ध होने की प्रतीति कराता है, जिससे वह मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। सम्यग्दर्शन के लिए संसारपर्याय के ज्ञान की आवश्यकता बतलाते हुए पंडित टोडरमल जी लिखते हैं —

"पर्याय की अपेक्षा स्वयं को शुद्ध मानने से महाविपरीतता होती है। इसलिये अपने को द्रव्यपर्यायरूप अवलोकन करना चाहिये, पर्याय की दृष्टि से अवस्था-विशेषरूप समझना चाहिये। इसी रूप में चिन्तन करने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है?"[३]

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

२. "रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्म, रागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति २/९७

३. मोक्षमार्गप्रकाशक/सप्तम अधिकार/पृ० २००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके अतिरिक्त व्यवहारनय के द्वारा निश्चयमोक्षमार्ग के साधक व्यवहार-मोक्षमार्ग का भी ज्ञान होता है, जिससे प्रत्येक भूमिका में निश्चयमोक्षमार्ग को ही आश्रयणीय मानने की मिथ्याबुद्धि दूर होती है और प्राथमिक भूमिका में व्यवहार-मोक्षमार्ग का अवलम्बन कर जीव अपने को निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बनयोग्य बनाता है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों नय आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध रूपों का बोध कराकर मिथ्याबुद्धियों का विनाश करते हैं। अतः सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति दोनों पर आश्रित है। इसीलिये एक प्राचीन गाथा में कहा गया है —

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।[१]

—यदि जिनमत का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय में से किसी को भी मत छोड़ो, क्योंकि निश्चय के बिना परमार्थभूत आत्मा का बोध न हो सकेगा और व्यवहार के बिना तीर्थ-प्रवृत्ति सम्भव न होगी।

इस प्रकार परस्परसापेक्ष निश्चय और व्यवहार नयों के अवलम्बन से ही मिथ्यात्व का विनाश और मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति सम्भव होती है। निश्चयनय के अवलम्बन से व्यवहार-विमूढ़ता का विनाश होता है और व्यवहारनय के अवलम्बन से निश्चयविमूढ़ता का।

साध्यसाधकरूप से भी परस्परसापेक्ष

निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित शुभोपयोगरूप मोक्षमार्ग के अवलम्बन से आती है। अतः दोनों में साध्यसाधक भाव है। इस दृष्टि से भी निश्चय और व्यवहार परस्पर सापेक्ष हैं। निश्चय-मोक्षमार्ग स्वयं की सिद्धि के लिये साधकरूप से व्यवहार-मोक्षमार्ग की अपेक्षा रखता है और व्यवहार-मोक्षमार्ग अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिये साध्यरूप से निश्चय-मोक्षमार्ग की आकांक्षा रखता है। इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं —

"इस प्रकार वीतरागत्व को ही इस प्राभृतशास्त्र का तात्पर्य समझना चाहिए। वह वीतरागत्व मोक्षसिद्धि में तभी समर्थ होता है, जब निश्चय और व्यवहार नयों का साध्यसाधकरूप में परस्परसापेक्षभाव से अवलम्बन किया जाता है, परस्पर-निरपेक्षभाव से अवलम्बन करने पर नहीं। उदाहरणार्थ, जो लोग विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग को

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १२ में उद्धृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकार नहीं करते, केवल शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग को ही मानते हैं, वे स्वर्गादि के क्लेशों को भोगते हुए संसार में ही भटकते रहते हैं। किन्तु, यदि शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग को स्वीकार करते हैं, पर उसके अनुष्ठान की शक्ति न होने पर उसका साधक मानते हुए शुभ का अनुष्ठान करते हैं, तो सरागसम्यग्दृष्टि होकर परम्परया मोक्ष पाते हैं। तथा जो केवल निश्चयमोक्षमार्ग को मानते हैं, किन्तु रागादिविकल्परहित परमसमाधि- रूप शुद्धात्मा को प्राप्त न कर पाने पर भी मुनियों के योग्य षड् आवश्यकादि को तथा श्रावकों के योग्य दानपूजादि के अनुष्ठान को हेय समझते हैं, वे उभयभ्रष्ट होकर केवल पाप का बन्ध करते हैं। किन्तु यदि शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग को तथा उसके साधकरूप से व्यवहारमोक्षमार्ग को मानते हैं, तो चारित्रमोह के उदय से शक्ति का अभाव होने पर शुभाशुभ प्रवृत्ति करते हुए भी सरागसम्यग्दृष्टिरूप व्यवहारसम्यग्दृष्टि होते हैं और परम्परया मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि परस्पर साध्य-साधकभाव से निश्चय और व्यवहार दोनों का अवलम्बन करने पर जो रागादिविकल्परहित परमसमाधि सम्भव होती है, उसी से मोक्ष प्राप्त होता है।"[१]

इन समस्त आर्षवचनों एवं युक्तियों से निश्चय और व्यवहार नयों की परस्पर सापेक्षता प्रमाणित होती है।

सापेक्षताविरोधी मत का निराकरण

किन्तु आधुनिक विद्वानों का एक वर्ग निश्चय और व्यवहार नयों में परस्पर सापेक्षता स्वीकार नहीं करता। उसका मत है कि निश्चयनय सद्भूतव्यवहारनय के विषय को तो स्वीकार करता है[२], किन्तु असद्भूतव्यवहारनय के विषय का निषेध करता है, क्योंकि उसका विषय वस्तुधर्म न होकर उपचारकथन मात्र है। उक्त विद्वद्वर्ग लिखता है —

"अब रहा असद्भूतव्यवहारनय सो उसका विषय मात्र उपचार है जो पर को अवलम्बन कर होता है, इसलिये उसकी अपेक्षा उक्त दोनों नयों में सापेक्षता किसी भी अवस्था में नहीं बन सकती। .... समयसार, गाथा ८४ में पहले आत्मा को व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता बतलाया गया है, किन्तु यह

१. "अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेणास्य प्राभृतस्य शास्त्रस्य वीतरागत्वमेव तात्पर्यं ज्ञातव्यं, तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम्। .... ततः स्थितमेतन्निश्चयव्यवहारपरस्परसाध्यसाधकभावेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनैव मोक्षं लभते।"

पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७२

२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ४३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि अज्ञानियों का अनादि संसार से ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है। इसलिये गाथा ८५ में दूषण देते हुए निश्चयनय का अवलम्बन लेकर उसका निषेध किया गया है।[1]

तात्पर्य यह कि कथित विद्वद्वर्ग असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियों के अनादिरूढ़ व्यवहार का पर्यायवाची मानता है, जो वस्तु के वास्तविक धर्म का प्रतिपादन नहीं करता, अपितु अन्य वस्तु के धर्म को अन्य वस्तु का कहता है। जिस नय का अपना कोई वास्तविक विषय नहीं है, उसके साथ निश्चयनय की सापेक्षता कैसे हो सकती है ?

विद्वद्वर्ग का यह मत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) असद्भूतव्यवहारनय को अज्ञानियों के व्यवहार का पर्यायवाची मानने से उसका नयत्व समाप्त हो जाता है, जिससे जिनेन्द्रदेव का उसे नय संज्ञा देकर श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का अवयव बतलाने का वचन मिथ्या सिद्ध होता है। तथा असद्भूत व्यवहारनय के मिथ्या सिद्ध होने से बन्ध और मोक्ष के भी असत्य होने का प्रसंग आता है। इस स्थिति में नयान्तरसापेक्ष न रहने से निश्चयनय आत्मा को सर्वथा शुद्ध प्रतिपादित करने वाला मिथ्यानय ठहरता है।

(२) 'उपचार' असद्भूतव्यवहारनय का विषय नहीं है, स्वयं असद्भूत-व्यवहारनय है। वह वस्तुधर्म के प्रतिपादन की लक्षणात्मक एवं व्यंजनात्मक शैली है। अन्य वस्तु के धर्म द्वारा वह प्रस्तुत वस्तु के ही धर्म को प्रतिपादित करता है, यह व्यवहारनय के प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है।

(३) असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तु का स्वधर्म ही है, जैसे भावपर्याय मूलक असद्भूतव्यवहारनय के विषय आत्मा के कर्मोपाधिनिमित्तक शुद्ध-अशुद्ध भाव हैं। संश्लेषादि बाह्य सम्बन्ध बाह्यसम्बन्धमूलक असद्भूतव्यवहारनय के विषय हैं तथा शरीर और जीव का विलक्षण अभेद, स्वयं को पुद्गलकर्मों से आबद्ध करने में जीव का स्वातन्त्र्य अथवा पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप से परिणमित होने में जीव का प्रेरकत्व आदि उपचारमूलक असद्भूतव्यवहारनय के विषय हैं। इन समस्त विषयों का निरूपण व्यवहारनय के प्रकरण में किया जा चुका है। इस प्रकार चूँकि असद्भूत-व्यवहारनय का विषय वस्तु का स्वधर्म ही है, इसलिये निश्चयनय की उससे सापेक्षता है।

(४) निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय के निषिद्ध होने का अभिप्राय सर्वथा

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, २/४३६-४३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निषिद्ध होना नहीं है, अपितु व्यवहारनय के विषय का निश्चयनय के विषयरूप में निषिद्ध होना है, व्यवहारनय के विषयरूप में तो निश्चयनय उसे स्वीकार करता ही है। सर्वथा निषिद्ध होने पर निश्चयैकान्त का प्रसंग आएगा, जिससे निश्चयनय भी मिथ्या हो जाएगा। व्यवहारनय का निषेध भी अज्ञानियों का अनादिरूढ़ व्यवहार होने के कारण नहीं, बल्कि उसके समान पराश्रित होने के कारण किया गया है।[१]

इन कारणों से सिद्ध है कि निश्चयनय असद्भूतव्यवहारनय-सापेक्ष है।

उक्त विद्वान, स्वयं अन्यत्र लिखते हैं — "प्रत्येक नय सापेक्ष होता है इसका तो हमने कहीं निषेध किया ही नहीं।"[२] और वे यह भी मानते हैं कि सापेक्षत्व का अर्थ 'उपेक्षा' (स्वीकार करते हुए भी प्रतिपादन न करना) है।[३]

अब उक्त विद्वानों के कथन में कितना विरोध है, यह देखने योग्य है। पूर्व में वे कहते हैं — निश्चयनय और असद्भूतव्यवहारनय में सापेक्षता किसी भी अवस्था में नहीं बन सकती। यहाँ कहते हैं — प्रत्येक नय सापेक्ष होता है, इसका तो हमने कहीं निषेध किया ही नहीं।

अस्तु। उपर्युक्त कथन से उक्त विद्वान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक नय नयान्तर सापेक्ष होता है, सापेक्षता से ही प्रत्येक नय सम्यक् होता है, निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्षता का अर्थ प्रतिपक्षी नय के विषय का निषेध न कर उसके प्रति उपेक्षाभाव (गौणभाव) रखना मात्र है। इस प्रकार उनके ही वचनों से सिद्ध हो जाता है कि निश्चयनय असद्भूतव्यवहारनय के विषय का निषेध नहीं करता, अपितु उसके प्रति उपेक्षा मात्र (न आदान, न निराकृति) रखता है, इसलिए वह असद्भूतव्यवहारनय-सापेक्ष है।

●

---

१. "···· व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७२

२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २, पृ० ८०२-८०३

३. वही २/८०२, "निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा।"
आप्तमीमांसाभाष्य/कारिका १०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अष्टम अध्याय

निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गों में साध्यसाधकभाव

पूर्व अध्याय में प्रसंगवश निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के साध्यसाधकभाव-सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में उसकी विस्तार से मीमांसा की जा रही है। आचार्य अमृतचन्द्र 'तत्त्वार्थसार' में लिखते हैं —

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ।।[१]

— मोक्षमार्ग के दो पक्ष हैं : निश्चय और व्यवहार। इनमें निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहारमोक्षमार्ग उसका साधक।

इस कारिका में आचार्यश्री ने निश्चयमोक्षमार्ग को साध्य बतलाया है। साध्य का अर्थ है 'साधयितुं योग्यः' — जो सिद्ध करने योग्य हो। अभिप्राय यह है कि समस्त शुभाशुभ परिणामों के अभाव में आत्मा की जो शुद्धोपयोगरूप अवस्था होती है वह निश्चयमोक्षमार्ग कहलाती है।[२] यह अवस्था सम्यक्त्वपूर्वक अहिंसादि महाव्रतों, अनशनादि तपों तथा उत्तमक्षमादि धर्मों में परिनिष्ठित होने पर अर्थात् षष्ठ गुणस्थान में पहुँचने के बाद ही प्राप्त हो पाती है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजम तव संजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।।[३]

— जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का सम्यग्ज्ञाता, संयम और तप से संयुत, विगतराग तथा सुख-दुःख में समरूप श्रमण शुद्धोपयोगी होता है।

'श्रमण' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि मुनि-अवस्था में पहुँचे हुए साधक को ही शुद्धोपयोग सम्भव है। श्री नेमिचन्द्राचार्य का भी कथन है —

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ।।[४]

---

१. तत्त्वार्थसार/उपसंहार/श्लोक २

२. "योऽसौ समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः।" परमात्मप्रकाश टीका २/६९

३. प्रवचनसार, १/१४

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—जो आत्मा तप, श्रुत और व्रत का धारक होता है वही ध्यानरूपी रथ (शुद्धोपयोग) की धुरा को धारण कर सकता है। इसलिए, हे भव्यो ! ध्यान की प्राप्ति के लिये तुम्हें निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर रहना चाहिये।

निम्नलिखित श्लोक में ध्यान अर्थात् शुद्धोपयोग के पाँच हेतु बतलाए गए हैं —

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता ।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः ।।[1]

—वैराग्य, तत्त्वज्ञान, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग, साम्यभाव तथा परीषहजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।

आचार्य जयसेन ने बतलाया है कि शुद्धोपयोग का आरम्भ अप्रमत्त (सप्तम) गुणस्थान से होता है और क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक क्रमशः बढ़ता जाता है — "तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः।"[2]

इसके नीचे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय इनमें से कुछ का या सभी का अस्तित्व रहने के कारण शुद्धोपयोग सम्भव नहीं होता।[3] इन सबको अशुभोपयोग कहा गया है।[4] इसलिये शुद्धोपयोग को सम्भव बनाने के लिये इन चारों प्रत्ययों का अभाव करना आवश्यक है, जो मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होता है। इसका उपाय है श्रावकधर्म और मुनिधर्म के रूप में सम्यग्दर्शनपूर्वक शुभपरिणाम का अभ्यास करना। किन्तु, सम्यग्दर्शन स्वयं एक दुर्लभ वस्तु है। केवल इसे पाने के लिये जन्म-जन्मान्तर तक साधना करनी पड़ सकती है। यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उपशमादि से प्रकट होता है। इसका उपाय है मोक्ष को लक्ष्य बनाकर तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हुए शुभ परिणाम में प्रवृत्त होना।[5]

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ५७/ब्रह्मदेवटीका में उद्धृत

२. प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९

३. "स्वशुद्धात्मसंवित्तिविनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु।"
बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३५

४. "मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभः।"
प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९

५. "प्रथमसम्यक्त्वं गृहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः ···· वर्धमानशुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थितिं ह्रासयन्।" तत्त्वार्थवार्तिक ९/१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन-योग्य अवस्था एक कठिन साधना से प्राप्त होती है, इसलिये निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और सम्यक्त्वपूर्वक अथवा सम्यक्त्वसाधक शुभोपयोगरूप व्यवहारमोक्षमार्ग उसका साधक।

व्यवहारमोक्षमार्ग की वैज्ञानिक भूमि

निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि में व्यवहारमोक्षमार्ग का प्रबल वैज्ञानिक आधार है, जिस पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है।

प्राथमिक भूमिका में केवल पाप से निवृत्ति सम्भव

पाप और पुण्य दोनों से निवृत्ति का नाम मोक्षमार्ग है।[१] आरम्भ में पाप और पुण्य दोनों से निवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि इसके लिये मनवचनकाय की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध आवश्यक है और जब तक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय तथा संज्वलन कषाय का तीव्रोदय रहता है तब तक चित्त में इतनी चंचलता रहती है कि मनवचनकाय की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। केवल अनन्तानुबन्धी आदि का मन्दोदय होने पर चित्तवृत्ति को पुण्यप्रवृत्ति में लगाकर पापप्रवृत्ति का किसी सीमा तक निरोध हो सकता है। इसीलिए असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व अशुभोपयोग ज्यादा और शुभोपयोग कम होता है। असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत (षष्ठ) गुणस्थान तक अशुभोपयोग क्रमशः अल्प तथा शुभोपयोग अधिक होता है। उससे ऊपर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक केवल शुद्धोपयोग उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में होता है।[२] इस प्रकार छठवें गुणस्थान तक केवल पाप क्रिया की ही निवृत्ति सम्भव है, पुण्य क्रिया की नहीं। इसके बाद जब संज्वलन का मन्दोदय होता है तब पाप और पुण्य दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का निरोध सम्भव होता है।

पुण्यनिवृत्तियोग्य अवस्था की प्राप्ति

इस प्रकार आरम्भ में केवल पाप से ही निवृत्ति सम्भव है, किन्तु इस एकदेशनिवृत्ति (मन्दक़षायरूप विशुद्धपरिणाम) में इतनी शक्ति होती है कि उससे मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों का उपशम या क्षयोपशम हो जाता है जिससे आत्मा षष्ठ गुणस्थान नामक उस अवस्था

---

१. "तच्चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं।" मोक्खपाहुड/गाथा ३७

२. "मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्-दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादि-क्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुण-स्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में पहुँच जाता है, जहाँ संज्वलन का मन्दोदय होने पर मनवचनकाय की पुण्यप्रवृत्ति का भी निरोध सम्भव होता है।

एकदेशनिवृत्ति विशुद्धपरिणामपूर्वक

आत्मा के तीन परिणाम होते हैं — संक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध। तीव्रकषायपरिणाम संक्लेश, मन्दकषायपरिणाम विशुद्ध तथा कषायरहित परिणाम शुद्ध कहलाते हैं।[१] इन परिणामों में पुद्गल कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, संक्रमण आदि की शक्ति होती है।

संक्लेश परिणामों से अनेक अनर्थ होते हैं। नवीन अशुभ कर्मों में उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध होता है, पूर्वबद्ध शुभाशुभ (देव-मनुष्य-तिर्यञ्चायु को छोड़कर) कर्मों की स्थिति बढ़ जाती है, अशुभ कर्मों के अनुभाग में वृद्धि हो जाती है और शुभकर्मों का अनुभाग घट जाता है। पूर्वबद्ध शुभकर्म अशुभकर्म में बदल जाते हैं।

विशुद्ध परिणामों से अनेक हितकर घटनाएँ घटती हैं। अघाती (आत्मस्वभाव को तिरोहित एवं विकृत न करने वाले) अशुभ कर्मों का संवर होता है तथा घाती (आत्मस्वभाव को तिरोहित एवं विकृत करने वाले) एवं अघाती अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। पूर्वबद्ध घाती और अघाती अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग हीन हो जाते हैं, पूर्वबद्ध शुभ कर्म के अनुभाग में वृद्धि हो जाती है तथा अशुभ कर्म शुभ कर्म में संक्रमित हो जाते हैं। नये शुभ कर्मों का अल्पस्थिति और तीव्र अनुभागसहित बन्ध होता है। घाती कर्मों का बन्ध अल्पस्थिति और अल्प अनुभागसहित होता है।[२] इस प्रकार विशुद्ध परिणामों से संसारस्थिति क्षीण होती है तथा आगे के लिए विशुद्ध परिणामों की स्थिति निर्मित होती है।

शुद्ध परिणामों से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संवर और निर्जरा होती है, किन्तु जब तक समस्त कषायों का उपशम या क्षय नहीं हो जाता, तब तक शुद्धोपयोग की अवस्था में भी अबुद्धिपूर्वक रागादिभावों का उदय रहने

१. (क) 'अइतिव्वकसायाभावो मंदकसाओ विसुद्धदा त्ति घेतव्वा।' धवला, ११/४,२,६
(ख) 'असादाबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम।'
का विसोही ? सादाबंधजोग्गपरिणामो।' धवला ६/१,९-७,२
(ग) 'को संकिलसो णाम ? कोहमाणमायालोहपरिणामविसेसो।'
कसायपाहुड/जयधवला/पुस्तक ४/भाग ३-२२/प्रकरण ३०/पृ० १५
(घ) क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम्।
तेषामेव मन्दोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम्। पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३८

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/३ तथा गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, गाथा १३४, १६३-१६४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से कुछ कर्मों का अल्पस्थिति एवं अल्पानुभागसहित बन्ध होता है।

पापक्रिया से विरत होना एकदेशनिवृत्ति है, वह मन्द कषाय की अवस्था में ही होती है, अतः उसमें विशुद्धपरिणाम अन्तर्निहित होता है। व्रत, पूजा, भक्ति, बाह्यतप, स्वाध्याय आदि व्यवहारचारित्र पुण्यक्रिया है। यह (व्यवहारचारित्र) शुभोपयोग कहलाता है। यह भी मन्दकषाय की अवस्था में ही होता है। अतः यह भी विशुद्ध परिणामरूप है, जैसा कि पंडित टोडरमल जी ने कहा है — "अरहन्तादि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते हैं, वे कषायों की मन्दतासहित ही होते हैं, इसलिए वे विशुद्ध परिणाम हैं।"[१] शुभोपयोग के समय अशुभोपयोग (पापप्रवृत्ति) का अभाव होता है, अतः उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के अंश रहते हैं। ब्रह्मदेव सूरि ने प्रवृत्त्यंश की अपेक्षा महाव्रतों को एकदेशव्रत कहा है, क्योंकि उनमें कर्मबन्ध की हेतुभूत मनवचनकाय की क्रिया पूर्णरूप से निवृत्त नहीं होती। वे कहते हैं —

"जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि।"[२]

व्रतादि शुभोपयोगरूप व्यवहारचारित्र में जो पापक्रियानिवृत्तिरूप निवृत्त्यंश है वह एकदेशकषायाभावरूप होने से एकदेशशुद्धभाव है। विशुद्धपरिणाम भी मन्दकषायात्मक होने से एकदेशकषायाभाव की अपेक्षा एकदेशशुद्धभाव है। अतः शुभोपयोग के अन्तर्गत जो एकदेशनिवृत्ति के रूप में अथवा विशुद्धपरिणाम के रूप में एकदेशशुद्धभाव है उससे पापकर्मों का संवर और निर्जरा होती है तथा जो एकदेश प्रवृत्ति के रूप में शुभराग है उससे पुण्यकर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने अहिंसादि व्रतों को एकदेशप्रवृत्ति की अपेक्षा आस्रव के कारणों में तथा एकदेशनिवृत्ति की दृष्टि से दशधर्मों के अन्तर्गत संयम और ब्रह्मचर्य के नाम से संवर के कारणों में वर्णित किया है।[३] उन्होंने अनशनादि बाह्यतपों को भी, जो शुभप्रवृत्तिरूप हैं, संवर और निर्जरा का हेतु बतलाया है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भी व्रतादि को संवर के हेतुओं में परिगणित किया है[४] और श्री ब्रह्मदेवसूरि ने व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभोपयोग को पापास्रव के संवर का हेतु तथा शुद्धोपयोगरूप

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/प्रथम अधिकार/पृ० ७
२. बृहद्द्रव्यसंग्रह/टीका/गाथा ५७, पृ० २०८-२०९
३. सर्वार्थसिद्धि ७/१
४. वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ।। बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयरत्नत्रय को पुण्यपाप दोनों के संवर का कारण कहा है।[1] मोक्खपाहुड के हिन्दी टीकाकार पंडित जयचन्द जी लिखते हैं —

"चारित्र निश्चय-व्यवहारकरि दो भेदरूप है। तहाँ महाव्रत, समिति, गुप्ति के भेद करि कह्या है सो तो व्यवहार है। तिनि में प्रवृत्तिरूप क्रिया है सो शुभबन्ध करै है और इन क्रियानि में जेता अंश निवृत्ति का है ताका फल बन्ध नाहीं है। ताका फल कर्म की एकदेश निर्जरा है और सब कर्म तैं रहित अपना आत्म-स्वरूप में लीन होना सो निश्चयचारित्र है, ताका फल कर्म का नाश ही है।"[2]

पंडित बनारसीदास जी का कथन है — "जीवद्रव्य में कषाय की मन्दता होती है, उससे निर्जरा होती है। उसी मन्दता के प्रमाण में शुद्धता जानना।"[3]

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और कषायों का क्षयोपशम होने पर आत्म-स्वभाव (वीतरागभाव) की अंशत: अभिव्यक्ति होती है, वही एकदेशशुद्धभाव है। अत: सम्यग्दृष्टि जीव के अशुभनिवृत्ति और शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग में एकदेशशुद्धभाव होता है, उससे वह यथासम्भव कर्मों का संवर और निर्जरा करता हुआ अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के क्षयोपशम द्वारा षष्ठ गुणस्थान तक पहुँच जाता है, जहाँ शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग को पकड़ना सम्भव होता है।

लक्ष्य की भिन्नता से शुभोपयोग के फल में भिन्नता

यद्यपि अनेक जीव ऐसे हैं जो महाव्रतादिरूप शुभोपयोग का अवलम्बन करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि होने के कारण मोक्षमार्ग में एक कदम भी नहीं रख पाते। इससे यह शंका हो सकती है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग तक ले जाने में समर्थ नहीं हैं। किन्तु यह दोष व्यवहारमोक्षमार्ग या शुभोपयोग का नहीं है, उसके पीछे जो लक्ष्य होता है उसका है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है —

"जैसे एक ही प्रकार के बीज भिन्न-भिन्न भूमियों में बोये जाने पर भिन्न-भिन्न रूप में फलित होते हैं वैसे ही एक ही शुभोपयोग अलग-अलग पात्रों के संसर्ग से अलग-अलग फल देता है।"[4]

इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं — "जब सम्यक्त्वपूर्वक

---

१. "तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहारत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरकारणनि ज्ञातव्यानि।"
— बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३५

२. मोक्खपाहुड/टीका/गाथा ४२ (जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश २/२९३)

३. उपादाननिमित्त की चिट्ठी। मोक्षमार्गप्रकाशक/परिशिष्ट, पृ० १९

४. रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।। प्रवचनसार ३/५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभोपयोग होता है तब प्रत्यक्षरूप से तो पुण्यबन्ध होता है और परम्परया मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि शुभोपयोग सम्यक्त्वपूर्वक नहीं होता तो मात्र पुण्यबन्ध ही होता है।"[१]

इससे यह तथ्य सामने आता है कि यदि कोई मिथ्यादृष्टि जीव सांसारिक सुखों की लालसा से शुभोपयोग में प्रवृत्त होता है, तो उसे केवल पुण्यबन्ध होता है, सम्यग्दर्शन तथा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु यदि कोई मोक्ष के लक्ष्य से शुभोपयोग का आश्रय लेता है तो उसे सम्यग्दर्शन और परम्परया मोक्ष दोनों की उपलब्धि होती है।

मोक्षोन्मुख शुभोपयोग से मिथ्यात्व का उपशम

शुभोपयोग विशुद्धपरिणाममय (मन्दकषायात्मक) होता है और जब वह सांसारिक सुखों की लालसा से प्रेरित न होकर मोक्ष की आकांक्षा से सम्पृक्त होता है, तब वैराग्यभाव के कारण उसकी विशुद्धता बढ़ जाती है, जिससे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है तथा सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार की विशुद्धता को करणपरिणाम कहते हैं और इसकी प्राप्ति को 'लब्धि'।[२] करणलब्धि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उपशमादि का प्रमुख एवं अव्यभिचारी कारण है। उसकी प्राप्ति शुभ परिणामों के प्रताप से होती है। इसमें भट्ट अकलंकदेव के निम्न वचन प्रमाण हैं —

"जो प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने की साधना आरम्भ करता है वह शुभ परिणामों के अभिमुख होता है, जिनसे उसकी विशुद्धि अन्तर्मुहूर्त में अनन्तगुनी बढ़ती जाती है। वह चार मनोयोगों में से किसी एक मनोयोग से, चार वचनयोगों में से किसी एक वचनयोग से तथा औदारिक और वैक्रियिक इन दो काययोगों में से किसी एक काययोग से युक्त होता है। उसके जिस कषाय का उदय होता है वह निरन्तर हीन होती जाती है। वह साकारोपयोग-वाला होता है तथा तीन वेदों में से किसी एक वेद से युक्त होने पर भी संक्लेशरहित होता है और बढ़ते हुए शुभ परिणामों के प्रताप से सभी (आयु को छोड़कर) कर्मप्रकृतियों की स्थिति का ह्रास करते हुए, अशुभकर्म-प्रकृतियों के अनुभागबन्ध को घटाते हुए तथा शुभकर्म-प्रकृतियों के अनुभाग को बढ़ाते हुए तीन करण करना प्रारम्भ करता है।"[३]

---

१. "यदा सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च। नोचेत् पुण्यबन्धमात्रमेव।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३/५५

२. "दर्शनमोहोपशनादिकरणविशुद्धपरिणामः करण इत्युच्यते। तल्लाभः करणलब्धिः।" कर्मप्रकृति/अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती/सूत्र २०४

३. "प्रथमसम्यक्त्वं गृहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्ध्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य पूज्यपादस्वामी ने कहा है कि दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों में से मिथ्यात्व प्रकृति की फलदान-शक्ति को जब शुभपरिणामों के द्वारा रोक दिया जाता है तब वही सम्यक्त्व प्रकृति कहलाने लगती है।[1]

इन आचार्यवचनों से सिद्ध है कि मोक्षोन्मुख शुभोपयोग में मिथ्यात्व का उपशम आदि करने की शक्ति है। सम्यक्त्व की प्राप्ति उसी के प्रताप से होती है। मिथ्यात्व की अवस्था में शुद्धपरिणाम (शुद्धोपयोग) तो सम्भव ही नहीं है।

सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से अप्रत्याख्यानावरणादि का क्षयोपशम

मोक्षोन्मुख शुभोपयोग से मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी का उपशम होता है और जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है। सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग में और अधिक विशुद्धता होती है। उससे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है और जीव अणुव्रतादि श्रावकधर्म धारण करने योग्य अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे पंचम गुणस्थान कहते हैं। सम्यक्त्वमय अणुव्रतादिरूप चारित्र तथा देवपूजादिरूप शुभोपयोग में विशुद्धता की मात्रा और अधिक हो जाती है जिसके बल पर जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम कर महाव्रतादिरूप मुनिधर्म ग्रहण करने योग्य भूमिका प्राप्त कर लेता है, जो षष्ठ गुणस्थान कहलाती है। इस भूमिका में आने के बाद जब संज्वलन कषाय का उदय मन्द होता है तब जघन्य (न्यूनतम) शुद्धोपयोग सम्भव होता है, जो निश्चयतः मोक्षमार्ग है। इस तथ्य की पुष्टि आचार्य जयसेन के निम्न वचनों से होती है —

"भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग को प्राप्त साधक जब गुणस्थानों के सोपानक्रम से (क्रमशः उच्चतर गुणस्थान में पहुँचता हुआ) आत्माश्रित निश्चय-दर्शनज्ञानचारित्र में परिणत होता है तब भिन्न साध्यसाधन का अभाव होने से निश्चयनय से स्वयं ही मोक्षमार्ग होता है।"[2]

इन वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से अप्रत्या-

---

वर्धमानविशुद्धिः, चतुर्षु मनोयोगेषु अन्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्षु वाग्योगेषु अन्यतमेन वाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन वा समाविष्टः हीयमाना-न्यतमकषायः सकारोपयोगः, त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेन संक्लेशविरहितः वर्धमानशुभ-परिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थितिं ह्रासयन् अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीनां रसमुद्वर्तयन् त्रीणि करणानि कर्तुमुपक्रमते।" तत्त्वार्थवार्तिक ९/१

१. "तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि तद्वेद्यमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते।" सर्वार्थसिद्धि ८/९

२. "भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गमनुप्रपन्नो गुणस्थानसोपानक्रमेण ... ... स्वशुद्धात्मा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ख्यानावरण एवं देशचारित्रसहित शुभोपयोग से प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होता है जिससे जीव षष्ठ गुणस्थान नामक उस स्तर पर पहुँचता है जहाँ शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग ग्रहण करना सम्भव होता है।[1]

उपादान नहीं, निमित्तमात्र

इस प्रकार यद्यपि शुभोपयोग-परिणत आत्मा शुद्धोपयोग का उपादान नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग परिणत आत्मा से शुद्धोपयोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जब आत्मा शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग का प्रयत्न करता है तब शुद्धोपयोग का उपादान होता है, तथापि शुभोपयोग शुद्धोपयोग की क्षमता का जनक है। क्योंकि सम्यक्त्वसाधक तथा सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग में जो आंशिक शुद्धता है उसके ही निमित्त से अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का उपशम-क्षयोपशम होने पर जीव शुद्धोपयोग के योग्य गुणस्थान में पहुँचता है तथा वही शुद्धता क्रमशः विकसित होती हुई यथाख्यातचारित्ररूप पूर्ण शुद्धता में परिणत होती है, जैसा कि पंडित बनारसीदास जी ने कहा है —

"विशुद्धता में शुद्धता है, वही यथाख्यातरूप होती है।"[2]

तथा पंडित टोडरमल जी का कथन है —

"अरहन्तादि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते हैं, वे कषायों की मन्दता-सहित ही होते हैं, इसलिए वे विशुद्ध परिणाम हैं। पुनश्च समस्त कषाय मिटाने के साधन हैं, इसलिए शुद्धपरिणाम के कारण हैं। सो ऐसे परिणामों से अपने घातक घातिकर्म की हीनता होने से सहज ही वीतरागविशेष ज्ञान प्रकट होता है।"[3]

प्राप्तभूमिका को निर्दोष रखने में सहायक

सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग जीव को षष्ठ गुणस्थान तक पहुँचा देता है। वह अशुभोपयोग का निरोधकर प्राप्त भूमिका को दूषित होने से भी बचाता है। शुद्धोपयोग में समर्थ हो जाने पर भी साधक विशिष्ट संहनन आदि शक्ति के अभाव में शुद्धोपयोग में निरन्तर स्थित नहीं रह सकता। कुछ समय बाद उससे च्युत हो जाता है। इस दशा में उसका राग विषयकषायरूप अशुभ विषयों में जा सकता है। अतः अप्रशस्त विषयों में जाने से रोकने के लिए उसे पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति तथा

श्रितनिश्चयदर्शनज्ञानचारित्रैरभेदेन परिणतो यदा भवति तदा निश्चयनयेन भिन्नसाध्य-साधनस्याभावादयमात्मैव मोक्षमार्ग इति।।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१

१. "ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३४

२. उपादान-निमित्त की चिट्ठी/मोक्षमार्गप्रकाशक/परिशिष्ट, पृ० १९

३. मोक्षमार्गप्रकाशक/पहला अधिकार/पृ० ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारचारित्र आदि प्रशस्त विषयों में लगाता है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं —

"जब विशिष्ट संहनन आदि शक्ति के अभाव में जीव निज शुद्धात्मस्वरूप में निरन्तर स्थित नहीं रह पाता तब वह क्या करता है ? कभी शुद्धात्मभावना की सिद्धि में सहायक जीवादि पदार्थों के प्रतिपादक आगम में रुचि लेता है। कभी जैसे कोई राम आदि पुरुष दूरदेशस्थित अपनी सीता आदि पत्नी के समीप से आये पुरुषों का पत्नी से प्रेम होने के कारण सन्मान आदि करता है, वैसे ही वह मोक्षलक्ष्मी को वश में करने के लिए तीर्थङ्कर परमदेव तथा गणधरदेव, भरत, सगर, राम, पांडव आदि महापुरुषों के चरितपुराणादि को अशुभराग से बचने हेतु तथा शुभधर्म में अनुराग होने के कारण सुनता है।"[1]

यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्न शब्दों में कही है —

"अर्हत्, सिद्ध और साधु की भक्ति, व्यवहारचारित्र तथा गुरुओं की उपासना ये प्रशस्त विषय हैं। इनमें होनेवाला राग प्रशस्तराग कहलाता है। यह प्रायः स्थूल लक्ष्य रखने वाले केवलभक्तिप्रधान अज्ञानी को होता है। कभी-कभी वीतरागदशा-वाले उच्च गुणस्थान में न पहुँच पाने के कारण अथवा वहाँ से च्युत होने पर अप्रशस्त विषयों में राग का निषेध करने हेतु ज्ञानी को भी होता है।"[2]

इस प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग निर्विकल्प समाधि के अभाव में जीव को अशुभोपयोग से बचाकर प्राप्त भूमिका को दूषित होने से रोकता है तथा पापकर्मों के बन्ध को टालता है।

विशुद्धता के विकास में शुभोपयोग की मनोवैज्ञानिकता

कर्मों का उदय और उदीरणा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से होती है।[3] जैसे स्वर्णादि द्रव्य या सांसारिक सुख की वस्तुएँ दिखने पर मोही

---

१. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७०

२. "अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधानचेष्टा, गुरूणामाचार्यादीनां रसिकत्वेनानुगमनम्। एषः प्रशस्तो रागः प्रशस्तविषयत्वात्। अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३६

३. (क) "द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः।"

सर्वार्थसिद्धि ८/२१

(ख) "क्षेत्र, काल, भाव और पुद्गल के निमित्त से उदय और उदीरणारूप फलविपाक होता है। यहाँ 'क्षेत्र' पद से नरकादि क्षेत्र का, 'भव' पद से जीवों के एकेन्द्रियादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव के लोभ का उदय हो जाता है। स्त्री के सान्निध्य से पुरुष के मन में, पुरुष के सम्पर्क से स्त्री के मन में कामवासना (वेदकषाय) की उत्पत्ति होती है। शत्रु का सामना होने पर क्रोध उदित हो जाता है। सुन्दर दृश्य, मधुर संगीत या मादक सुगन्ध की अनुभूति सातावेदनीय के उदय का कारण बन जाती है। ये द्रव्य के निमित्त से क्रोधादि कर्मों के उदय के उदाहरण हैं।

कुछ कर्मप्रकृतियों का उदय नरक-स्वर्ग आदि विशिष्ट क्षेत्रों में ही होता है। हिमालय आदि अत्यन्त शीतल क्षेत्र में या किसी अत्यन्त उष्ण प्रदेश में जाने से शीत और उष्णता की पीड़ा अनुभव करानेवाले असातावेदनीय का उदय होता है। कभी-कभी निर्जन वन में भय की उत्पत्ति होती है। यह क्षेत्र निमित्तक कर्मोदय है।

उदयकाल आने पर जो कर्मोदय होता है वह कालनिमित्तक है। शीत, ग्रीष्म आदि देहप्रतिकूल ऋतुओं (काल) के निमित्त से भी असातावेदनीय का उदय होता है। वृद्धावस्था भी असातावेदनीय के उदय का निमित्त बन जाती है। यह कालनिमित्तक कर्मोदय है।

मनुष्यादि भवों (पर्यायों) के निमित्त से मनुष्यगति, मनुष्यायु आदि का उदय होता है। देव और नारक भव के निमित्त से वैक्रियिक शरीर का उदय होता है।

जीव के अपने भावों के निमित्त से भी कर्मों का उदय होता है। जैसे किसी वस्तु के प्रति लोभ का उदय हो और उसकी प्राप्ति सरल मार्ग से होती हुई दिखाई न दे, तो माया (छलकपट-भाव) का उदय हो जाता है। माया सफल न होने पर हिंसाभाव (क्रोध) जन्म लेता है। मिथ्यात्व के निमित्त से संसार के पदार्थों में रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। मानकषाय के निमित्त से अपना सम्मान करनेवालों के प्रति प्रीति (रति)[1] एवं उपेक्षा करनेवालों के प्रति द्वेष (अरति) का उदय होता है।

इस प्रकार कर्मों का विपाक (फल देने की अवस्था को प्राप्त होना), द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव का निमित्त होने पर ही होता है, उसके बिना

भवों का, 'काल' पद से शिशिर-वसन्त आदि काल का अथवा बाल, यौवन, वार्धक्य आदि कालजनित पर्यायों का और 'पुद्गलद्रव्य' पद से गन्ध, ताम्बूल, वस्त्राभरण आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए।"

कसायपाहुडसुत्त/गाथा ५९/विशेषार्थ/पृ० ४६५

१. "मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः।" नियमसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं। किन्तु काल की अपेक्षा अन्य निमित्त प्राय: बलवान होते हैं, क्योंकि भले ही किसी कर्म का उदयकाल हो, यदि किसी अन्य कर्म के उदययोग्य अन्य निमित्त उपस्थित हो गया है, तो उसका उदय हो जायेगा और जिसका उदयकाल है वह स्वमुख से उदित न होकर उसी अन्य कर्म के मुख से (उसी के रूप में परिणत होकर) उदित होगा।[1] जैसे साता और असाता दोनों का अबाधाकाल समाप्त हो जाने पर एक साथ दोनों ही प्रकृतियों के निषेक उदययोग्य होते हैं। किन्तु इनमें से जिसके उदय के अनुकूल अन्य निमित्त होंगे उसी का स्वमुख से उदय होगा, दूसरी का स्तिबुक-संक्रमण के द्वारा परमुख से उदय होगा।[2]

जिस समय क्रोध का उदय है उस समय उदय में आनेवाले मान, माया, लोभ (उस समय से) एक समय पूर्व ही स्तिबुकसंक्रमण द्वारा क्रोधरूप परिणत हो जाते हैं। अत: क्रोधोदय के समय उदय को प्राप्त मान, माया, लोभरूप कर्म स्वमुख से उदित न होकर क्रोधरूप में परमुख से उदित होते हैं।[3]

पंडित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं — "अध्रुवोदयरूप कर्मप्रकृतियों में हास्य और रति का उत्कृष्ट उदय-उदीरणा काल सामान्यत: छ: माह है। इसके बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोक की उदय-उदीरणा होने लगती है। किन्तु छह माह के भीतर यदि हास्य और रति के विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीच में ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है।"[4]

स्वर्ग में प्राय: साता की ही सामग्री उपस्थित रहती है और नरक में असाता की ही। अत: स्वर्ग में सातावेदनीय का ही उदय बना रहता है, असाता का उदयकाल आने पर साता के रूप में परिणमित होकर उदित होता है। इसी प्रकार नरक में असाता का ही उदय रहता है और सातावेदनीय असाता के रूप में परिवर्तित होकर फल देता है।[5]

इससे स्पष्ट होता है कि उदयकालरूप निमित्त की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, भव, भाव तथा शिशिर-वसन्त, रात्रि, वार्धक्य आदि काल-रूप निमित्त अधिक बलवान् होते हैं।

---

१. "स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभव:। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीनां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्।" सर्वार्थसिद्धि ८/२१
२. "पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व", भाग १, पृ० ४४६
३. वही, भाग १, पृ० ४५५
४. सर्वार्थसिद्धि ९/३६/विशेषार्थ
५. जैनदर्शन/महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य/पृ० १०२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्त–परिवर्तन से कर्मोदय में परिवर्तन

चूँकि कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से होता है, अतः निमित्तों में परिवर्तन कर कर्मोदय में परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, लोभ उत्पन्न करनेवाली सामग्री का सान्निध्य टालकर और निर्लोभ की प्रेरणा देनेवाले निमित्तों का आश्रय लेकर लोभ के उदय को रोका जा सकता है। कोई हमारा अपमान करता है और उसके निमित्त से क्रोध उत्पन्न हो सकता है तो हम क्षमाभाव द्वारा अपमानबोध को निष्प्रभावी कर क्रोध के उदय को रोक सकते हैं। इस प्रकार क्षमादिभाव, संयम-तप-अपरिग्रह, भक्ति, स्वाध्याय आदि वे निमित्त हैं जो क्रोधादि के उदय के निमित्तों को अशक्त कर देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप क्रोधादि का उदय नहीं हो पाता, अर्थात् उनका तीव्रोदय असम्भव हो जाता है। इससे संक्लेश या कालुष्य की उत्पत्ति नहीं होती और विशुद्धता का विकास होता है। उस विशुद्धता से कोई-कोई अशुभ कर्म शुभ में बदल जाते हैं, किन्हीं अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग का ह्रास हो जाता है तथा शुभकर्मों की स्थिति घट जाती है और अनुभाग बढ़ जाता है। इस रीति से विशुद्धता का निरन्तर विकास होता रहता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है।

संयम, तप, अपरिग्रह की मनोवैज्ञानिकता

संयम, तप और अपरिग्रह के द्वारा शरीर को परद्रव्यों की अधीनता से यथासम्भव मुक्त कर ऐसा स्वस्थ और संयत बनाया जाता है कि वह परद्रव्येच्छारूप तीव्रकषाय के उदय का निमित्त नहीं बन पाता, न ही परद्रव्य के अभाव में असातावेदनीय के उदय का हेतु बनने में समर्थ होता है।

संयम : इन्द्रियों में स्वभावतः विषयसेवन की रुचि होती है[1] और अनियन्त्रित विषयभोग द्वारा उनमें विषयसेवन का व्यसन भी उत्पन्न हो जाता है। इससे उन्हें जिस समय, जिस वस्तु के भोग की आदत पड़ जाती है, उस समय उस वस्तु के भोग के लिए उनमें अत्यन्त पीड़ाकारक उद्दीपन होता है, अर्थात् असातावेदनीय का उदय होता है। उससे संक्लेशपरिणाम की उत्पत्ति होती है। उसके निमित्त से विषयों को भोगने की आकांक्षा के रूप में तीव्र राग का उदय होता है। इस तथ्य पर आचार्य शुभचन्द्र ने निम्नलिखित शब्दों में प्रकाश डाला है —

इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा ।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ।।[2]

---

१. "दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेन"···"रुचितारुचितेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य नितरां क्षोभमुपैति।"
प्रवचनसार, तत्त्वदीपिकावृत्ति १/८३

२. ज्ञानार्णव २०/३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—इन्द्रियों का समूह जैसे-ज़ैसे मद की उत्कटता धारण करता है, वैसे-वैसे मनुष्य में कषायरूप अग्नि भड़कती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है —

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।[1]

—हे कुन्तिपुत्र ! मनुष्य कितना ही ज्ञानी हो, यदि उसकी इन्द्रियाँ असंयत हैं तो वे मन को बलात् विषयों की ओर खींच ले जाती हैं।

उद्दीप्त इन्द्रियों के निमित्त से असातावेदनीयजनित संक्लेश-परिणाम द्वारा विषयेच्छा उत्पन्न होने पर जीव विषय-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। उसमें कोई बाधक बनता है, तो उसके निमित्त से क्रोध और मान उदित हो जाते हैं, जिनके कारण जीव हिंसादि पाप भी कर डालता है। इच्छित वस्तु की उपलब्धि यदि ऋजुमार्ग से सम्भव नहीं होती, तो अनेक जीवों में माया कषाय का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों की भोगप्रवृत्ति तीव्रकषाय का निमित्त है।

विषयों में इष्टानिष्टबुद्धि के निमित्त से तो तीव्रकषाय का उदय केवल मिथ्यादृष्टियों में ही होता है, किन्तु इन्द्रियों के भोगव्यसन के निमित्त से असंयत तथा संयतासंयत सम्यग्दृष्टियों में भी होता है। आचार्य जयसेन का कथन है —

"जैसे कोई चोर मरना नहीं चाहता, तो भी कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर उसे विवश होकर मरना पड़ता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव, यद्यपि आत्मोत्पन्न सुख को उपादेय तथा विषयसुख को हेय समझता है, तो भी चारित्रमोहोदयरूप कोतवाल के वश में होकर विषयसुख का भोग करता है।"[2]

विषयसुख को हेय समझने पर भी उसे भोगने के लिए विवश करने वाला यह चारित्रमोह का उदय इन्द्रियों की भोगवासना के निमित्त से ही होता है, जैसे आहार को हेय समझने पर भी मुनि में आहार की इच्छा पैदा करनेवाला चारित्रमोहोदय शरीर की आहारवृत्ति के निमित्त से होता है।

इस प्रकार इन्द्रियों की भोगवासना संक्लेश का प्रबलतम कारण है। इन्द्रियसंयम से संक्लेशपरिणाम का यह महान् स्रोत अवरुद्ध हो जाता है। इन्द्रियों को अनावश्यक विषयसेवन से क्रमशः निवृत्त करने पर उनका भोगाभ्यास छूट जाता है और उनमें विषयभोग के लिए पीड़ाकारक उद्दीपन नहीं होता। फलस्वरूप वे असातावेदनीय एवं तीव्रकषाय (विषयाकांक्षा) के उदय का निमित्त नहीं बन पातीं।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता/द्वितीय अध्याय/श्लोक ६०
२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १९४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं — 'रसपरित्याग आदि तप के द्वारा इन्द्रियों के मद का निग्रह होता है।'[१] आचार्य जयसेन का कथन है — 'शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये इन्द्रियविषय रागादि भावों की उत्पत्ति के बहिरंग कारण हैं, अत: इनका त्याग करना चाहिए।'[२] उन्होंने बतलाया है कि इन्द्रियविषयों के त्याग से चित्त क्षोभरहित (संक्लेशरहित) हो जाता है।[३] कषायों के तीव्रोदय में ही चित्त क्षुब्ध होता है,[४] अत: स्पष्ट है कि संयम तीव्रकषायोदय के निरोध का निमित्त है।

पंडित टोडरमल जी का कथन है — "बाह्य पदार्थ का आश्रय लेकर रागादि परिणाम हो सकते हैं। इसलिए परिणाम मिटाने हेतु बाह्य वस्तु के निषेध का कथन समयसारादि में है। यह नियम है कि बाह्य संयम साधे बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते। अत: बाह्य साधन का विधान जानने के लिए चरणानुयोग का अभ्यास करना चाहिए।"[५]

तप : अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, कायक्लेश आदि बाह्य तपों के द्वारा भी शरीर को परद्रव्य की अधीनता से अधिकाधिक मुक्त करने का अभ्यास किया जाता है, जिससे शरीर परद्रव्यजन्य सुख का अभ्यस्त नहीं होता। फलस्वरूप परद्रव्य के अभाव में असातावेदनीय का उदय नहीं होता तथा असातावेदनीयजन्य पीड़ा के अभाव में परद्रव्येच्छारूप तीव्रकषाय का उदय नहीं होता। तप से शरीर स्वस्थ भी रहता है, प्रमादग्रस्त नहीं होता।[६] अत: रोग, आलस्य आदि से मुक्त रहने के कारण भी संक्लेशोत्पादक असातावेदनीय के उदय का निरोध होता है।

अपरिग्रह : बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से उनके संरक्षण, संवर्धन, परिष्करण आदि की चिन्ता उत्पन्न होती है। उनकी रक्षा के प्रयत्न में दूसरों के साथ संघर्ष होता है। हिंसा के प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। अत: परिग्रह असाता और क्रोधादि के उदय का निमित्त होता है। जितनी ज्यादा वस्तुओं से सम्पर्क छूटता है उनके

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९/१९
२. "शब्दादयो रागादीनां बहिरंगकारणास्त्याज्या:।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति ३६६-३७१
३. "बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसबलेन···· ····।" वही/उत्थानिका
४. "क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभ: कालुष्यम्।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३८
५. मोक्षमार्गप्रकाशक/पृ० २९२
६. "संयमे सावधानार्थं वातपित्तश्लेष्मादिदोषोपशमनार्थं ज्ञानध्यानादिसुखसिद्ध्यर्थं यत्स्तोकं भुज्यते तदवमौदर्यम्। हृषीकमदनिग्रहार्थं निद्राविजयार्थं स्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थं रसस्य घृतादे: परित्याग: रसपरित्याग:।" तत्त्वार्थवृत्ति ९/१९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संरक्षणादि की चिन्ता से हम उतने ही अधिक मुक्त हो जाते हैं। अतः अपरिग्रह के निमित्त से असातावेदनीय एवं तीव्रकषाय के उदय का निरोध होता है, जिससे विशुद्धता का विकास निर्बाध चलता रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने कहा है — "यद्यपि रागादिभावरूप हिंसा की उत्पत्ति में बाह्य वस्तु कारण नहीं है (चारित्रमोह का उदय कारण है), तथापि रागादिपरिणाम परिग्रहादि के निमित्त से ही होते हैं, इस कारण परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के निमित्तभूत परिग्रहादि का त्याग करना चाहिए।"[१]

वे आगे कहते हैं — "मूर्च्छा (ममत्वपरिणाम)[२] को आभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं, वह बाह्य परिग्रह के निमित्त से भी उत्पन्न होती है। अतः दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए।"[३]

सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं — "रागद्वेष दूर करने के लिए या कम करने के लिए बाह्य पदार्थों का भी त्याग किया जाता है। स्वभाव में लीन होने के लिए क्रम से बाह्य प्रवृत्ति को रोकना होता है और बाह्य प्रवृत्ति को रोकने के लिए प्रवृत्ति के विषयों को त्यागना होता है। अतः स्वभाव में लीन होने के लिए यह आवश्यक है कि हम अव्रत से व्रत की ओर आयें। ज्यों-ज्यों हम स्वभाव में लीन होते जायेंगे, प्रवृत्तिरूप व्रतनियमादि स्वतः छूटते जायेंगे।"[४]

संक्लेशपरिणामों का निरोध भक्ति एवं स्वाध्याय से भी होता है, किन्तु उनमें चित्त की एकाग्रता तब तक सम्भव नहीं है, जब तक इन्द्रियों की भोगवृत्ति नियन्त्रित नहीं हो जाती। इन्द्रियों के निरन्तर उद्दीपन से पीड़ित चित्त, विषयों की ओर ही बार-बार जाता है। ऐसे चित्त का भक्ति में एकाग्र होना दुष्कर है। इस अवस्था में स्वाध्याय तो और भी असम्भव है, क्योंकि भक्ति में तो कुछ सरसता भी होती है, किन्तु स्वाध्याय तो एकदम नीरस एवं क्लिष्ट कार्य है। इसीलिए आगम में इन्द्रियों का भोगव्यसन श्रुतज्ञानावरण का नोकर्म अर्थात् बाह्य निमित्त कहा गया है। जो विषयों में लीन रहता है उसकी रुचि तत्त्वचिन्तन की ओर उन्मुख नहीं होती। इसलिए

---

१. सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका ४९

२. "मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः।" वही/कारिका, १११

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका ११३, ११८

४. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/विशेषार्थ/गाथा ३४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुतज्ञान न होने देने में इन्द्रियों का भोगव्यसन प्रबल बाह्य निमित्त है।[१]

भक्ति की मनोवैज्ञानिकता

इन्द्रियसंयम द्वारा इन्द्रियों के भोगव्यसनरूप निमित्त को दूर कर देने पर भी इन्द्रियविषयों के दर्शन, चिन्तन, स्मरण आदि के निमित्त से तीव्ररागादि की उत्पत्ति सम्भव है। अतः इन निमित्तों को टालने के लिए पञ्चपरमेष्ठी के भजनपूजन, गुणकीर्तन, चरितश्रवण आदि शुभ निमित्तों का अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक होता है। मंगलमय आत्माओं के मंगलमय गुणों के चिन्तन-स्मरण के निमित्त से तीव्र कषायोदय के निमित्त टल जाते हैं और सत्ता में स्थित शुभाशुभ कर्मों की स्थिति और अशुभ कर्मों का अनुभाग हीन हो जाता है, जिससे आगे भी मन्दकषाय का ही उदय होता है। पंडित टोडरमल जी लिखते हैं —

"भक्ति करने से कषाय मन्द होती है।[२] अरहंतादि के आकार का अवलोकन करना, स्वरूप का विचार करना, वचन सुनना, निकटवर्ती होना या उनके अनुसार प्रवर्तन करना इत्यादि कार्य तत्काल निमित्त बनकर रागादि को हीन करते हैं।"[३]

जैसे इन्द्रियविषय एवं असत्पुरुषों का संसर्ग तीव्र कषाय के उदय का निमित्त बनता है, वैसे ही पंञ्चपरमेष्ठीरूप प्रशस्तविषयों के दर्शनादि मन्दकषायरूप विशुद्ध परिणामों के निमित्त बनते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बतलाया है कि जिनदेव, जिनमन्दिर, जिनागम, जिनागम के धारक, सम्यक् तप और सम्यक् तप के धारक, ये छह आयतन सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के निमित्त हैं और इनसे विपरीत अर्थात् कुदेवादि छह आयतन मिथ्यात्व प्रकृति के उदय के निमित्त हैं।[४] भक्ति की उपयोगिता बतलाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

"भक्तिरूप प्रशस्तराग का अवलम्बन पुण्यबन्ध का स्थूल लक्ष्य रखनेवाले भक्तिप्रधान अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) करते हैं। कभी-कभी अनुचित विषयों में रागप्रवृत्ति रोकने के लिए अथवा तीव्रकषायोदय का निरोध करने हेतु शुद्धोपयोग से च्युत ज्ञानी भी करते हैं।"[५]

भक्तिभाव से भरे मन में अशुभभावों के लिए अवकाश कहाँ से मिल सकता है? इस तथ्य का निरूपण कवि रहीम ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में किया है —

---

१. गोम्मटसारकर्मकाण्ड/गाथा ७०
२. मोक्षमार्गप्रकाशक/पृ० २९०
३. वही/पृ० ७
४. गोम्मटसारकर्मकाण्ड/गाथा ७४
५. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रीतम छबि नयनन बसै, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय ।।

— जिन आँखों में अपने आराध्य की छवि बसी होती है, उनमें किसी दूसरे की छवि कैसे समा सकती है ? सराय भरी देखकर पथिक अपने आप लौट जाता है।

इस प्रकार तीव्रकषायोदयरूप संक्लेशपरिणाम के निमित्तों को टालने के लिए भक्ति एक शक्तिशाली उपाय है।

स्वाध्याय की मनोवैज्ञानिकता

स्वाध्याय भी इसका एक उत्तम साधन है। इसके द्वारा मन तत्त्वों के गूढ़ चिन्तन में खो जाता है। फलस्वरूप वस्तुस्वभाव के चिन्तन-मनन से जो स्वपरतत्त्व, हिताहित एवं हेयोपादेय का विवेक होता है उसके बल से चारित्रमोह का तीव्रोदय नहीं हो पाता। चित्त खाली न रहने से उसमें विषय-वासनाओं का भी प्रवेश नहीं होता। भक्त कवि तुलसीदास जी ने यह तथ्य इस सूक्ति में अत्यन्त हृदयस्पर्शी शब्दों में प्रस्तुत किया है —

मन पंछी तब लगि उड़ै विषयवासना माँहि ।
ज्ञान बाज की झपट में जब लगि आया नाँहि ।।

पंडित टोडरमल जी का कथन है — "तत्त्वनिर्णय करते हुए परिणाम विशुद्ध होते हैं, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।"[1]

तत्त्वचिन्तनजन्य आनन्दानुभूति के निमित्त से असातावेदनीय का भी उदय नहीं हो पाता। यदि उसका उदयकाल आ जाता है, तो सातावेदनीय में संक्रमित होकर सातारूप फल ही देता है।

इस तरह स्वाध्याय भी तीव्रकषायोदय का निरोधकर विशुद्ध परिणामों के विकास का शक्तिशाली माध्यम है, कदाचित् भक्ति से भी अधिक।[2]

क्षमा-समता-अहिंसादि भावों की मनोवैज्ञानिकता

आत्मा के अपने क्षमा, समता, धैर्य, विवेक, अहिंसा (अनुकम्पा) आदि भाव भी तीव्रकषायोदय के निमित्तों को निष्प्रभावी बनाने के अमोघ साधन हैं।

'चारित्रसार' में कहा गया है — 'क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधानेऽपि

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/पृ० ११२
२. सज्झायं कुव्वंतो पंचिन्द्रियसंवुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ।। मूलाचार/गाथा ९७१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालुष्याभावः क्षमा'[१] अर्थात् क्रोध उत्पन्न करनेवाले निमित्तों के होने पर भी कालुष्य (क्षोभ) का अभाव होना क्षमा है। आचार्य शुभचन्द्र का कथन है —

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वोऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदः ।।[२]

— स्वस्थचित्तवाले तो प्रायः सभी सत्य, शौच, क्षमादि से युक्त होते हैं, किन्तु शत्रु द्वारा उपसर्ग किये जाने पर धैर्य रखना ही वास्तविक धैर्य है।

ये कथन इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि जिन निमित्तों से क्रोधादि-जनक कर्मों का उदय होता है, वे यदि उपस्थित हों, तो भी उनके प्रभाव को नष्ट किया जा सकता है और क्रोधादि के उदय को रोका जा सकता है। निमित्तों के प्रभाव को नष्ट करने की शक्ति आत्मा के क्षमा, समता, धैर्य, अनुकम्पा, आर्जव, मार्दव, विवेक, अहिंसा-निष्ठा, सत्य-निष्ठा, अस्तेय-निष्ठा, ब्रह्मचर्य-निष्ठा, अपरिग्रह-निष्ठा, आदि आदर्श भावों में है, जैसा कि ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है —

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यतां, नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः ।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं, निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये ।।[३]

— क्रोधाग्नि को क्षमारूपी जल से शान्त करना चाहिए, मान को मार्दव से दूर करना चाहिए, माया को आर्जव से तथा लोभ को निःस्पृहता से निरस्त करना चाहिए।

स्वामी कुमार का भी कथन है — "जो साधु समभाव और सन्तोषरूपी जल से तीव्रलोभरूपी मल को धोता है, उसी के शौच धर्म होता है।"[४]

क्षमा, मार्दव, आर्जव, समता, धैर्य आदि भाव ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। आत्महितकारी होने से ज्ञानी आत्मा का इनमें अत्यधिक आदरभाव होता है, इनमें उसकी दृढ़ निष्ठा होती है। इन आदरणीय भावों में स्थित रहने का ही विवेकी जीव सदा अभ्यास करता है। ये उसके जीवन के प्रिय लक्ष्य होते हैं। इसलिए जब भी क्रोधादि- कर्मों के उदय के निमित्त उपस्थित होते हैं, वह क्षमादि भावों में स्थिर रहने के लिए दृढ़ हो जाता है और क्रोधादि के निमित्तों को अपने ऊपर हावी नहीं

---

१. चारित्रसार/चामुण्डराय/५९/२
२. ज्ञानार्णव १९/३८
३. वही, १९/७२
४. समसंतोसजलेण जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं ।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्य सउच्चं हवे विमलं ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ३९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने देता। जैसे कोई उसे गाली देता है, तो वह गाली से उत्तेजित होने में अपनी हानि का ख्याल कर क्षमाभाव में स्थित हो जाता है और गाली से विचलित नहीं होता। इससे गाली निष्प्रभाव हो जाती है और क्रोधकर्म के उदय का निमित्त नहीं बनती। इसी प्रकार असातावेदनीय कर्म के उदय में कोई उसे पत्थर मारता है, तो पत्थर की पीड़ा को वह ज्ञान के बल से अनार्तभावपूर्वक सह लेता है। परिणामस्वरूप आर्तभाव के अभाव में तीव्रकषाय का उदय नहीं होता। इसी तरह निःस्पृहता लोभ के निमित्तों को, निर्भयता भय के निमित्तों को, मार्दव मान के निमित्तों को, आर्जव माया के निमित्तों को, दया या अहिंसानिष्ठा हिंसा के निमित्तों को, ब्रह्मचर्यनिष्ठा काम के निमित्तों को, सम्यक्त्व शोकादि के निमित्तों को प्रभावहीन बनाकर उक्त कषायों के उदय को असम्भव बनाते हैं।

कर्मोदय के निमित्तों को शक्तिहीन बना देने वाले साधक को ही योगी और शूर कहा गया है —

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः ।
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम् ।।[1]

—जिस मुनि का मन क्रोधादि के निमित्त मिलने पर भी क्रोधादि से विक्षिप्त नहीं होता, वही गुणाधिक्य के कारण योगी और गुणीजनों का गुरु है।

जो णवि जादि वियारं तरुणियण-कडक्खबाणविद्धो वि ।
सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवे सूरो ।।[2]

—जो युवतियों के कटाक्षरूपी बाणों से बेधा जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता, वही सच्चा शूर है, रणशूर शूर नहीं है।

कर्मोदय के निमित्तों को निष्प्रभावी बनाकर ही तीव्र क्रोधादि को रोका जा सकता है, कर्मोदय हो जाने पर नहीं, क्योंकि कर्म का उदय होने पर कषायादिरूप फल का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। फलानुभव कराने का नाम ही विपाक या उदय है, जैसा कि पूज्यपाद स्वामी ने कहा है — 'द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः।'[3]

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका (गाथा २६४) में कहा गया है — "स्वस्वभावाभिव्यक्तिरुदयः, स्वकार्यं कृत्वा स्वरूपपरित्यागो वा।"

---

१. ज्ञानार्णव १९/७५
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा ४०४
३. सर्वार्थसिद्धि २/१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् अपने फलदानरूप स्वभाव की अभिव्यक्ति उदय कहलाती है अथवा अपना फलदानरूप कार्य कर कर्मस्वरूप का परित्याग उदय है। इस प्रकार कर्म स्वरूप या पररूप से फल दिये बिना अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता।[1]

सार यह कि कर्मोदय होने पर जीव के परिणाम उस कर्म की प्रकृति के अनुसार अवश्य हो जाते हैं, अतः चारित्रमोह की क्रोधादि प्रकृतियों का तीव्रोदय हो जाने पर आत्मा में कालुष्य (क्षोभ, संक्लेश) उत्पन्न हो ही जायेगा, तब कालुष्याभावरूप क्षमा कैसे सम्भव होगी ? अतः निष्कर्ष यही है कि कर्मोदय के निमित्तों को टालकर[2] या निष्प्रभावी बनाकर ही कालुष्याभावरूप क्षमा, मानाभावरूप मार्दव, माया-अभावरूप आर्जव, कामाभावरूप ब्रह्मचर्य आदि फलित होते हैं।

असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न दुःख के समय यदि समताभाव धारण किया जाता है, तो आर्तभाव उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न हुए दुःख से द्वेष होना तथा सुख की आकांक्षा करना आर्तभाव कहलाता है। दुःख से घबराने, व्याकुल होने, विलाप आदि करने के रूप में यह द्वेष व्यक्त होता है। इससे नवीन असातावेदनीय का बन्ध होता है। किन्तु समताभाव धारण कर दुःख को धैर्यपूर्वक सहने से नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता और उदय में आया हुआ कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार समताभाव से संवरपूर्वक निर्जरा होती है, जो मोक्ष के लिए उपयोगी है। इस विषय में पं० सदासुखदास जी का निम्नलिखित विवेचन पठनीय है —

"बहुरि यो मनुष्यशरीर है सो वातपित्तकफादिक-त्रिदोषमय है। असातावेदनीय कर्म के उदयतैं, त्रिदोष की घटती-बधतीतैं ज्वर, कांस, स्वास, अतिसार, उदरशूल, शिरशूल, नेत्र का विकार, वातादि पीड़ा होते (होने पर) ज्ञानी ऐसा विचार करे हैं — जो ये रोग मेरे उत्पन्न भया है सो याकूं असातावेदनीय कर्म को उदय तो अन्तरंग कारण है, अर द्रव्यक्षेत्रकालादिक बहिरंग कारण हैं। सो कर्म के उदयकूं उपशम हुआ (कर्म के उदय का उपशम होने पर) रोग का नाश होयगा। असाता का प्रबल उदयकूं होते बाह्य औषधादिक हूँ रोग मेटने कूं समर्थ नाहीं हैं। अर असाताकर्म के हरने कूं कोऊ देव-दानव, मंत्र-तंत्र, औषधादिक समर्थ हैं नाहीं। यातैं अब संक्लेशकूं छांड़ि समता ग्रहण करना। अर बाह्य औषधादिक हैं ते असाता

१. "ण च कम्मं सगरूवेण परसरूवेण वा अदत्तफलमकम्मभावं गच्छदि, विरोहादो।"
कसायपाहुड/जयधवला/पुस्तक ३/भाग २२/प्रकरण ४३०/पृ० २४५

२. यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विषः ।
तत्तत्प्रागेव मोक्तव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये ।। ज्ञानार्णव १९/७३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के मन्द उदय होतैं सहकारी कारण हैं। असाता का प्रबल उदय होतैं औषधादिक बाह्य कारण रोग मेटने कूं समर्थ नाहीं है। ऐसा विचारि असाताकर्म के नाश का कारण परम समता धारण करि संक्लेशरहित होय सहना, कायर नाहीं होना सो ही साधुसमाधि है। बहुरि इष्ट का वियोग होतैं अर अनिष्ट का संयोग होतैं ज्ञान की दृढ़ता तैं जो भय को प्राप्त नाहीं होना सो साधुसमाधि है।''[१]

'भगवती आराधना' की टीका के निम्न शब्द भी पठनीय हैं — "बड़े-बड़े धन्वन्तरि-सदृश वैद्य, इलाज के करनेवाले, तो हू कर्म के उदयकरि आई रोगजनित वेदना, ताहि दूर करने कूँ समर्थ नाहीं। .... तातैं धैर्य धारण करि अपना बाँध्या कर्म का फल समभाव करि भोगो, तातैं तुमारे नवीन कर्म नाहीं होय, अर पूर्वे बाँध्या तिनकी निर्जरा होय। उदय में आया कर्म कूँ जिनेन्द्र, अहमिन्द्र, समस्त इन्द्र, देव टारिने कूँ समर्थ नाहीं हैं। तातैं अरोक (अटल) जानि असाता का उदय में दुःख मति करो, दुःख करोगे तो अधिक असाता कर्म और बँधेगा, अर उदय तो टरेगा नाहीं। असातावेदनीयादिक अशुभकर्म कूँ उदय आवता समय विषै जो विलाप करना, रोवना, संक्लेश करना, दीनता भाखना निरर्थक है, दुःख मेटने को समर्थ नाहीं। केवल वर्तमान काल में दुःख बधावै (बढ़ाता है), अर आगाने (भविष्य में) तिर्यञ्चगति तथा नरक-निगोद कूँ कारण, ऐसा तीव्रकर्म बाँधे, जो अनन्तकाल हूँ में न छूटे। .... तातैं कर्म के ऋण तैं छूट्या चाहो तो कर्म के उदय में आकुलता त्यागि परमधैर्य धारण करो।''[२]

इस प्रकार क्षमा, समता, अहिंसा आदि भाव तीव्रकषायोदय के निमित्तों को निष्प्रभावी बनाकर विशुद्धता का विकास करते हैं।

संक्षेप में, संयम और तप शरीर को परद्रव्यों की अधीनता से मुक्त कर उसे परद्रव्येच्छारूप तीव्रकषाय के उदय का निमित्त बनने से रोकते हैं, अपरिग्रह, मूर्च्छारूप तीव्रकषायोदय के निमित्त को निरस्त करता है, भक्ति और स्वाध्याय विषयों के चिन्तन-स्मरण आदि के निरोध द्वारा चारित्रमोह के तीव्रोदय पर रोक लगाते हैं तथा क्षमा, समता, धैर्य, अहिंसादि भाव कर्मोदय के निमित्तों को प्रभावहीन बनाकर संक्लेशपरिणाम का प्रतीकार करते हैं। इस प्रणाली से विशुद्धता का विकास किस तरह होता है यह बात श्री जिनेन्द्रवर्णी के निम्न वचनों से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है —

"व्यक्ति ज्यों-ज्यों हृदय में उतरता हुआ प्रेम (अहिंसाक्षमादिभावों) तथा

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार/षष्ठ-भावना अधिकार/पृ० २६५
२. भगवतीआराधना/गाथा १६१९-१६४१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समता के क्षेत्र में प्रवेश करता है, त्यों-त्यों सत्ता में पड़े अशुभकर्म शुभरूप में संक्रमण करने लगते हैं। आगे जाकर उदय में आनेवाले ये शुभकर्म भी अपकर्षण द्वारा नीचे खिंचकर समय से पहले उदय में आने लगते हैं। वर्तमान में उदय में आने योग्य अशुभ निषेक उत्कर्षण द्वारा पीछे चले जाते हैं, अर्थात् वर्तमान में उदय में नहीं आते। फलस्वरूप परिणाम कई गुने अधिक विशुद्ध हो जाते हैं। इन वृद्धिंगत विशुद्ध परिणामों के निमित्त से उपर्युक्त संक्रमण, अपकर्षण तथा उत्कर्षण और अधिक वेग तथा शक्ति के साथ होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि विशुद्धि में अनन्तगुनी वृद्धि होने लगती है।''[१]

इन युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध है कि व्यवहारमोक्षमार्ग विशुद्धता के विकास का शक्तिशाली उपकरण है। विशुद्धता को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए वह साधक को निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन-योग्य गुणस्थान में पहुँचा देता है। अतः वह निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है और निश्चयमोक्षमार्ग का उसका साध्य।

---

१. कर्मसिद्धान्त/पृ० १४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नवम अध्याय

साध्यसाधकभाव की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ

निश्चय और व्यवहार की परस्पर सापेक्षता को अमान्य करनेवाला पण्डित-वर्ग निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में पूर्वोक्त प्रकार से कार्य-कारणात्मक साध्यसाधकभाव भी स्वीकार नहीं करता। इसलिये वह मोक्षप्राप्ति के लिये एकमात्र निश्चयनय को ही उपादेय मानता है, व्यवहारनय को नहीं।[1] किन्तु, चूँकि आगम में साध्यसाधकभाव बतलाया गया है, इसलिए वह इसका सर्वथा अपलाप भी नहीं कर सकता, परिणामस्वरूप उक्त पण्डितजनों ने साध्यसाधकभाव की नई व्याख्याएँ की हैं जो अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण, अयुक्तिसंगत एवं हास्यास्पद हैं। वे कार्यकारणात्मक साध्यसाधकभाव को अमान्य करने के निम्नलिखित कारण बतलाते हैं —

(१) सविकल्पावस्था (शुभोपयोग) से निर्विकल्पावस्था (शुद्धोपयोग) में पहुँचाना परद्रव्याश्रित व्यवहारधर्म का कार्य नहीं है।[2]

(२) शुभोपयोग बन्ध का ही कारण है। वह आत्मशुद्धि में तनिक भी सहायक नहीं है।[3]

(३) निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं है।[4] निश्चयधर्म के आने पर व्यवहारधर्म अपने आप आता है। अतः व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का अविनाभावी है, हेतु नहीं।[5]

(४) पहले की गयी साधना से वर्तमान में निश्चयधर्म की प्राप्ति नहीं होती। निमित्तनैमित्तिक योग एक काल में होता है।[6] तात्पर्य यह है कि यदि शुभोपयोग से तुरन्त (प्रत्यक्षरूप से) शुद्धोपयोग हो तभी व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक कहला सकता है। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि दोनों की प्रकृति में महान् अन्तर

---

१. (क) जैन-तत्त्वमीमांसा/पृ० २५४-२५८
   (ख) मोक्षमार्ग प्रकट करने का उपाय : तत्त्वनिर्णय/पृ० २७-२८
२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग२/पृ० ८०१
३. वही/भाग २/पृ० ७८०-७८१
४. वही/भाग १/पृ० १५७
५. वही/भाग २/पृ० ५५१
६. वही/भाग १/पृ० १५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। भिन्न कारण से भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतः व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक नहीं कहा जा सकता।

तब आचार्यों ने उनमें साध्य-साधकभाव क्यों कहा है ? इसके समाधान में उक्त विद्वान कहते हैं कि आचार्यों ने ऐसा इसलिये कहा है कि व्यवहारधर्म —

(क) निश्चयधर्म का सहचर है।[1]

(ख) निश्चयधर्म में बाधक नहीं है।[2]

(ग) निश्चयधर्म का पूर्ववर्ती है।[3]

(घ) निश्चयधर्म का अनुमापक है।[4]

विद्वानों की उपर्युक्त मान्यताएँ समीचीन नहीं हैं, यह निम्नलिखित युक्तियों और प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है —

व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की सामर्थ्य का जनक

यह ठीक है कि व्यवहारधर्म सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था में नहीं ले जा सकता और वह बन्ध का हेतु है। किन्तु, यह भी सत्य है कि निर्विकल्पावस्था या शुद्धात्मा का अवलम्बन सहसा नहीं हो सकता। उसके लिये सामर्थ्य की आवश्यकता है। यह व्यवहारधर्म से आती है। कीचड़ में सने हुये शरीर का उसी अवस्था में शृंगार सम्भव नहीं है। उसे पहले जल से साफ कर शृंगारयोग्य बनाना होगा, तब कहीं कोई शृंगार सफल हो सकता है। जो मन अशुभ वासनाओं के पंक से लिप्त है, उसका एकदम वीतरागभाव में पहुँचना कैसे सम्भव है ? श्री ब्रह्मदेव सूरि ने स्पष्ट कहा है —

"गृहस्थों के लिये आहारदान आदि ही परम धर्म है। वे सम्यक्त्वसहित उसी धर्म से परम्परया मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि कोई कहे कि वह परमधर्म क्यों है ? तो इसका समाधान यह है कि गृहस्थ निरन्तर विषयकषायों के अधीन रहने के कारण आर्त-रौद्र ध्यान से ग्रस्त रहते हैं। अतः उनके लिये निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगरूप परमधर्म सम्भव नहीं है।"[5]

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १२९, पृ० १४५

२. वही/भाग २/पृष्ठ ७८०

३. फिर भी स्वभावसन्मुख होने के पूर्व अशुभ विकल्प न होकर नियम से शुभविकल्प होता ही है। इसलिए ही व्यवहारनय से व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक कहा है। वही/भाग २/पृष्ठ ५८९

४. वही/भाग २/पृष्ठ ७९५

५. "गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमधर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परम्परया मोक्षं लभन्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीपक को जलाने के लिये अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है। खुले स्थान में, जहाँ हवा के तेज झौंके आ रहे हों, वह जल नहीं सकता। निर्वात स्थल में ही जल पाता है। इसी प्रकार जिसका मन विषयकषायों की तेज आँधियों से क्षुब्ध है, उसमें वीतरागभाव का दीपक जलना सम्भव नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "जैसे गर्भगृह में रखा हुआ दीपक हवा की बाधा से रहित होने के कारण जलता है, वैसे ही रागरूपी पवन की बाधा से रहित होने पर ही ध्यानरूपी दीपक जलता है।[१]

पूज्यपाद स्वामी का भी यही मत है। वे कहते हैं — "जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादि की लहरों से चंचल नहीं है, उसी को आत्मतत्त्व के दर्शन होते हैं। जिसका चित्त रागद्वेषादि की तरंगों से क्षुब्ध है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं हो पाते।"[२]

इस कथन से स्पष्ट है कि निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयधर्म के लिये विषय-कषायों की आँधी से उत्पन्न होने वाली चित्त की अतिचंचलता का समाप्त होना और उसमें अपेक्षाकृत स्थैर्य आना आवश्यक है। यह व्रत, शील, संयमादि व्यवहार-धर्म से होता है। आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं —

"तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ही ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण कर सकता है। अत: ध्यान की प्राप्ति के लिये इन तीनों में निरत होना चाहिये।"[३]

पं० टोडरमल जी भी मानते हैं कि बाह्यतप शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिये किया जाता है।[४]

व्रतों से अशुभभावों के निरोध और शुभभावों के अभ्यास द्वारा आत्मा में स्थिरता का संस्कार उत्पन्न होता है। उससे निर्विकल्प समाधियोग्य अवस्था का निर्माण होता है, जिसे प्राप्त कर साधक शुद्धात्मध्यानरूप निश्चयधर्म के प्रयत्न में सफल होता है। अव्रतों के त्याग और व्रतों में परिनिष्ठित होने से ही परमात्मपद

कस्मात् स एव परम धर्म इति चेत् ? निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति।"

परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१११, ४

१. जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहा-विवज्जिओ जलइ ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलई ।। भावपाहुड/गाथा १२२

२. रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ।। समाधितन्त्र/श्लोक ३५

३. तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ।। बृहद्द्रव्यसंग्रह/गाथा ५७

४. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(निर्विकल्प समाधि) को प्राप्त करने की भूमिका निर्मित होती है, उसके बिना नहीं। अव्रतों में रहकर निर्विकल्प समाधि में नहीं पहुँचा जा सकता। यद्यपि व्रतों में स्थिर रहकर भी निर्विकल्प समाधि प्राप्त नहीं की जा सकती, तथापि यह विशेषता है कि व्रतसाधना में तो निर्विकल्प समाधि की भूमिका निर्मित होती है, किन्तु अव्रतों से कदापि नहीं।[1]

व्रत-तपश्चरणादि से शुद्धात्मभावना का सामर्थ्य आता है। यह आचार्य जयसेन के निम्नलिखित कथन से प्रमाणित है —

"यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरङ्गव्रततपश्चरणपूजादिकं करोति स परम्परया मोक्षं लभते।"[2]

शुद्धात्मभावना की साधना के लिये बहिरंग व्रततपश्चरणादि किये जाते हैं। व्रततपश्चरणादि से सीधे शुद्धात्मभावना की सिद्धि नहीं होती। अत: यही तात्पर्य फलित होता है कि व्रततपश्चरणादि शुद्धात्मभावना की साधना करने योग्य सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का भी मत है कि महाव्रतादि चारित्राचार तथा अनशनादि 'तप आचार' से शुद्धात्म-प्राप्ति सम्भव होती है।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि शुभयोग में स्थित होने से अशुभयोग छूटता है, फिर शुद्धोपयोग में स्थित होने पर शुभयोग का निरोध होता है।[4] निष्कर्ष यह कि शुभोपयोग में दृढ़ होने के बाद ही शुद्धोपयोग सम्भव होता है, अशुभोपयोग की दशा में नहीं। पं० टोडरमलजी का कथन है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा को शुभोपयोग होने पर शुद्धोपयोग शीघ्र सम्भव होता है।[5] इन कथनों से स्पष्ट है कि शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में पहुँचने की क्षमता का आविर्भाव होता है। जैसे बी० ए० उत्तीर्ण हो जाने पर व्यक्ति में एम० ए० की कक्षा में पहुँचने की योग्यता आ जाती है और यदि वह उसमें प्रवेश लेना चाहे तो, उसे प्रवेश शीघ्र मिल सकता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि में शुभोपयोग की स्थिति का निर्माण हो जाने पर शुद्धोपयोग की

---

१. अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठित: ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मन: ।। समाधितन्त्र/श्लोक ८४

२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १४६

३. "अहो ! मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धात्मानमुपलभे।
प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका ३/२

४. सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ।। बारसाणुवेक्खा/गाथा, ६३

५. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है और उस समय यदि वह शुद्धोपयोग का प्रयत्न करे, तो शीघ्र हो सकता है। शुभोपयोग शुद्धोपयोग की क्षमता का जनक इसलिए है कि वह शुद्धोपयोग के प्रबलतम बाधक अशुभोपयोग का निरोध करता है। अत: शुभोपयोग शुद्धोपयोग की क्षमता का जनक होने से उसका साधक है।

रोग की अल्पता से रोगनिवृत्ति सुकर

इसमें सन्देह नहीं कि शुभोपयोग आत्मा की शुद्धावस्था नहीं है, मन्दराग की अवस्था है। अत: जैसे अल्परोग नीरोगता का जनक नहीं है, वैसे ही मन्दराग वीतरागता का जनक नहीं है। किन्तु, जैसे रोग की अल्पता होने पर रोगनिवृत्ति सुसाध्य हो जाती है, वैसे ही राग की मन्दता होने पर वीतरागता सुसाध्य हो जाती है।[१]

यह प्रत्येक के अनुभव की बात है कि अधिक मैले वस्त्र की अपेक्षा कम मैले वस्त्र को शीघ्र साफ किया जा सकता है, अधिक अज्ञानी की अपेक्षा कम अज्ञानी को सरलता से समझाया जा सकता है और मोटी बेड़ी की अपेक्षा पतली बेड़ी को आसानी से तोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार मन्दराग की अवस्था से वीतरागता में पहुँचना भी सुकर हो जाता है। इस रीति से व्यवहारधर्म निश्चयधर्म के सामर्थ्य का जनक है, अत: दोनों में साध्य-साधकभाव है।

ग्रहण और त्याग दोनों आवश्यक

उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश में यह निर्विवाद है कि शुभोपयोग करते-करते ही शुद्धोपयोग नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो अशुभोपयोग करते-करते ही शुभोपयोग होने का प्रसंग उपस्थित होगा। दोनों की प्रकृति सर्वथा भिन्न-भिन्न है। भिन्न कारण से भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता। शुद्धोपयोग के उपादान से ही शुद्धोपयोग उत्पन्न हो सकता है। अत: शुद्धोपयोग के लिये शुभोपयोग छोड़ना आवश्यक है। किन्तु, छोड़ने के पहले ग्रहण करना भी आवश्यक है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोग का अवलम्बन करने की क्षमता आती है। जहाँ यह सत्य है कि निचली कक्षा को छोड़े बिना ऊँची कक्षा में प्रवेश नहीं किया जा सकता, वहाँ यह भी सत्य है कि निम्न कक्षा के पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण किये बिना उच्च कक्षा में प्रवेश की पात्रता नहीं आती। इसी प्रकार जहाँ यह सत्य है कि शुभोपयोग को छोड़े बिना शुद्धोपयोग का अवलम्बन सम्भव नहीं है, वहाँ यह भी सत्य है कि शुभोपयोग की अवस्था प्राप्त किये बिना शुद्धोपयोग के अवलम्बन की क्षमता आना सम्भव नहीं है।

ग्रहण करना और छोड़ना दोनों आवश्यक हैं। गन्तव्य तक पहुँचने के लिये

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जंक्शन पर हमें एक रेलगाड़ी को छोड़ना और दूसरी को पकड़ना आवश्यक होता है, किन्तु जिस गाड़ी को छोड़कर दूसरी गाड़ी पकड़ते हैं, उसे यदि पहले न पकड़ा जाय, तो दूसरी गाड़ी तक पहुँचना ही सम्भव न हो पाएगा। इसी प्रकार शुद्धोपयोग में आने के लिये शुभोपयोग को छोड़ना होता है, किन्तु उसके पहले यदि शुभोपयोग का अवलम्बन न किया जाय, तो शुद्धोपयोग में आने की क्षमता ही उत्पन्न न हो पायेगी। इस प्रकार शुभोपयोगरूप व्यवहारमोक्षमार्ग जीव को शुद्धोपयोगरूप निश्चय-मोक्षमार्ग के निकट पहुँचानेवाला साधन है, जिससे उनमें साध्य-साधकभाव सिद्ध होता है और साध्य-साधकभाव से परस्परसापेक्षता फलित होती है।

व्यवहारधर्म आंशिक शुद्धि का हेतु

पूर्वोक्त विद्वानों का यह कथन समीचीन नहीं है कि शुभ परिणाम आंशिक शुद्धि का भी कारण नहीं है।[१] शुभ-परिणाम के द्वारा व्यक्ति पाप से निवृत्त होता है और पुण्यबन्ध करता है। इससे पापरूपी अशुद्धता नष्ट हो जाने से आंशिक शुद्धता उत्पन्न होती है। यदि पाप अशुद्धता है तो उसके हटने से आंशिक शुद्धता कैसे उत्पन्न नहीं होगी ? विषयानुराग की निवृत्ति से आंशिक शुद्धता आती है। वस्त्र का आधा मैल धुल जाने पर क्या वह आधा स्वच्छ नहीं हो जाता ? आधा रोग कम हो जाने पर क्या आधी नीरोगता नहीं आती ? अशुभ और शुभ ये दो ही अशुद्धतायें तो आत्मा में हैं। क्या अशुद्धता का एक अंश कम होने से आंशिक शुद्धता का आविर्भाव नहीं होता ?

श्री ब्रह्मदेव सूरि का कथन है कि शुभोपयोग से पापास्रव का संवर होता है।[२] पं० टोडरमल जी का भी मत है कि शुभप्रवृत्ति से वैराग्यभाव की वृद्धि होती है, जिससे कामादि वासनाएँ क्षीण होती हैं और क्षुधा, पिपासा आदि में भी अल्प क्लेश होता है। इसलिये शुभोपयोग का अभ्यास करना चाहिये।[३] पंडित जी ने स्पष्ट कहा है कि तत्त्वचिन्तन (जो कि शुभोपयोग है) से परिणाम विशुद्ध होते हैं और सम्यक्त्वप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।[४]

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग२/पृ० ७८०

२. "निश्चयरत्नत्रयसाधक-व्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरकारणानि ज्ञातव्यानि।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३५

३ मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २०५

४ "(तत्त्व) निर्णय का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादिक हों, तब भ्रम दूर हो जाये, क्योंकि निर्णय करते हुये परिणामों की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।"

मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० ३१२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि जैसे रजक जल, शिलातल आदि भिन्न साधनों से वस्त्र को साफ करता है उसी प्रकार स्वात्मा से भिन्न जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान और व्रतादि-साधना से आत्मा का संस्कार होता है और क्रमशः विशुद्धि आती है।[१] वे अन्यत्र भी कहते हैं कि यद्यपि पञ्चाचार आत्मा के स्वभाव नहीं हैं तथापि उनके द्वारा परम्परया शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।[२] पं० आशाधर जी का भी मत है कि निश्चयधर्म में अनुराग के कारण जो क्रिया उत्पन्न होती है, वह अभ्युदय का हेतु होने से धर्म है। उससे नये पाप का निरोध और पुराने का विनाश होता है।[३]

यह तो निर्विवाद है कि सात तत्त्वों के चिन्तन, जिनबिम्बदर्शन, सत्संग, अनुकम्पा आदि से परिणामों में जो निर्मलता आती है वह मिथ्यात्वादि सप्त प्रकृतियों के उपशमादि और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में हेतु बनती है।

इन सब प्रमाणों और युक्तियों से स्पष्ट है कि शुभपरिणामों से आत्मा में आंशिक शुद्धि आती है और यतः शुभपरिणाम आत्मा की आंशिक शुद्धि के हेतु हैं, अतः सिद्ध होता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का परम्परया साधक है, फलस्वरूप उनमें परस्परसापेक्षता है।

सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग में धर्म का अंश

आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को परम्परया मोक्ष का साधक कहा है।[४] इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग और मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग में अन्तर है। अन्तर यह है कि प्रथम वैराग्यभावयुक्त (आसक्तिरहित) होता है और द्वितीय रागभावयुक्त (आसक्तिसहित)। अतः सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग में वैराग्यभावरूप शुद्धता या धर्म का अंश होता है। किन्तु, निश्चय-मोक्षमार्ग और व्यवहार-मोक्षमार्ग में साध्य-साधकभाव का निषेध करने के लिये पूर्वोक्त विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग में शुद्धता का अंश नहीं है। जो उसमें शुद्धता का अंश मानते हैं, उनकी मान्यता को भ्रान्त सिद्ध करते हुये वे कहते हैं —

"अपरपक्ष ने सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप (शुभरागरूप)

---

१. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिका/गाथा १७२
२. प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका ३/२
३. निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि ।
धर्मेऽनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोऽभ्युदयप्रदः ।। अनगारधर्मामृत १/२४
४. प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशुद्धभाव इन दोनों शुद्धाशुद्धभावों के मिश्रितरूप उपयोग को शुभोपयोग लिखा है, किन्तु उस पक्ष का यह लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धा की स्वभावपर्याय है और राग चारित्रगुण की विभावपर्याय। इन दोनों का मिश्रण बन ही नहीं सकता।[१]

किन्तु सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग के उक्त लक्षण को भ्रान्त सिद्ध करनेवाले कथित विद्वानों ने सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव के तात्पर्य को हृदयंगम नहीं किया, अत: उनका उपर्युक्त मत समीचीन नहीं है। शुभोपयोग के सन्दर्भ में सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव से तात्पर्य उस आंशिक वीतरागत्व से है जो अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के उपशमादि से प्रकट होता है और जिस पर सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति अवलम्बित होती है। उसके बिना सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है, अत: उसके साथ सम्यग्दर्शन का अविनाभावसम्बन्ध है।[२] फलस्वरूप सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव से वही आंशिक वीतरागभाव विवक्षित है। वह चारित्रगुण की पर्याय है। उसके साथ उस अशुद्ध भाव (शुभराग) के मिश्रण में कोई बाधा नहीं है जो अन्य अवशिष्ट कषायों के उदय से उत्पन्न होता है। इसी अपेक्षा से यह कथन संगत है कि सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप अशुद्धभाव इन दोनों का मिश्रित उपयोग शुभोपयोग है। इसी को दृष्टि में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

"साधक जितने अंश में सम्यग्दृष्टि है, उतने अंश में उसे कर्मबन्ध नहीं होता, जितने अंश में राग है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है।"[३]

सम्यग्दर्शन का अविनाभावी वीतरागभाव ही मोक्ष की दृष्टि से प्रधान है। इसका लक्षण है संसार, शरीर और भोगों के प्रति वैराग्यभाव। इसके होने पर सम्यग्दृष्टि को कर्मोदय के निमित्त से जो विषयभोग प्राप्त होता है तथा अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय से वह जो शुभराग करता है, दोनों भोगाकांक्षा से रहित होते हैं, अत: सम्यग्दृष्टि को दीर्घ संसार का बन्ध नहीं होता।[४]

इस वैराग्यभाव (समभाव) को ही आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म कहा है।[५]

---

१. (क) जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७९७
(ख) वही, २/७४६

२. "अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहा: सम्यग्दृष्टेर्न सन्ति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७७

३. येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका २१२

४. "विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा १९३

५. "धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।" प्रवचनसार १/७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन इसका अविनाभावी है, अतः सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल[1] कहने से वैराग्यभाव धर्म का मूल सिद्ध होता है। इसे उन्होंने सम्यक्त्वाचरणचारित्र की भी संज्ञा दी है और मोक्ष का हेतु बतलाया है। इसके होने पर जीव शुभोपयोगी भी हो सकता है, शुद्धोपयोगी भी। इसीलिये उन्होंने कहा है —

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ।।[2]

— धर्मपरिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगयुक्त होता है, तो निर्वाणसुख प्राप्त करता है, यदि शुभोपयोगयुक्त होता है, तो स्वर्गसुख पाता है।

इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा शुभोपयोग की अवस्था में भी धर्म-परिणत होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का भी कथन है कि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय है।[3] वस्तुतः जब सम्यग्दृष्टि का विषयभोग भी वैराग्यभावयुक्त हो सकता है, तब शुभोपयाग कैसे नहीं हो सकता ? अतः यह निर्विवाद है कि सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग में अनन्तानुबन्धी कषायों के उपशमादि से उत्पन्न आंशिक शुद्धभाव एवं अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय से उत्पन्न अशुद्धभाव का मिश्रण होता है। इसी कारण सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग की प्रकृति मिथ्यादृष्टि तथा सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग से भिन्न होती है और इसी कारण वह अशुभोपयोग के निरोध द्वारा आंशिक शुद्धि उत्पन्न करते हुए शुद्धोपयोग की भूमिका का निर्माण करता है तथा संसारस्थिति का छेद करता है।[4] इस प्रकार वह परम्परया मोक्ष का साधक बनता है। अतः निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में परस्पर सापेक्षता है।

मात्र पुण्यबन्ध नहीं, परम्परया मोक्ष भी

चर्चित विद्वानों का यह कथन भी नितान्त एकान्तवादी है कि शुभपरिणाम मात्र बन्ध का कारण होने से मोक्षमार्ग में हेय है।[5] भगवान् कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि शुभोपयोग पात्र के अनुसार फल देता है।[6] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य

---

१. "दंसणमूलो धम्मो।" दंसणपाहुड/गाथा २
२. प्रवचनसार १/११
३. "अस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः।"
प्रवचनसार/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, ३/४५
४. "..... .... संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठि-सम्बन्धिगुणस्मरणदानपूजादिकं कुर्युरिति।" परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका, २/६१
५. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७८०
६. रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।। प्रवचनसार ३/५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयसेन कहते हैं —

"जैसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भूमि के अनुसार एक ही प्रकार के बीज भिन्न-भिन्न फल देते हैं, वैसे एक ही शुभोपयोग साधक की भूमिका के अनुसार भिन्न-भिन्न फल देता है। अभिप्राय यह है कि जब सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से तो पुण्बन्ध होता है और परम्परया निर्वाण की प्राप्ति होती है। यदि शुभोपयोग सम्यक्त्वसहित नहीं होता, तो पुण्यबन्धमात्र होता है।[१]

भगवान् कुन्दकुन्द ने शुभोपयोग को गृहस्थों के लिये उत्कृष्टचर्या तथा निर्वाणसुख का परम्परया हेतु बतलाया है।[२] यह निर्वाणसुख का परम्परया हेतु किस प्रकार है इसका दृष्टान्त द्वारा निरूपण करते हुए अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं —

"गृहस्थों में समस्त विरति का अभाव होने से शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं होती, कषाय के सद्भाव से शुभोपयोग की प्रवृत्ति होती है। तथापि जैसे ईंधन स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही प्रशस्तराग के संयोग से साधक भी क्रमश: शुद्धात्मा की अनुभूति तक पहुँच जाता है और परम्परया निर्वाण सुख प्राप्त करता है। अत: गृहस्थों में शुभोपयोग की मुख्यता है।[३]

प्रशस्तराग (शुभोपयोग) के द्वारा गृहस्थ शुद्धात्मा की अनुभूति तक कैसे पहुँच जाता है, इसका विवेचन पूर्व में "व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की सामर्थ्य का जनक" शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा शुभोपयोग का अवलम्बन सांसारिक सुखों की वांछा से नहीं करता, अपितु शुद्धात्मानुराग से करता है। इसीलिये उसके अनीहित पुण्यास्रव होता है, जो अल्पलेप (अल्पकर्मबन्ध) का हेतु है[४] और इस कारण वह संसार-

---

१. "यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीय-पात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफलं ददाति। तेन किं सिद्धम् ? यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वक: शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च, नोचेत्पुण्यबन्धमात्रमेव।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/५५

२. एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो धरत्थाणं ।
चरिया परे त्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ।। वही, ३/५४

३. "गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात् कषायसद्भावात् प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसम्पर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात् क्रमत: परमनिर्वाण-सौख्यकारणत्वाच्च मुख्य:।" वही/तत्त्वप्रदीपिका ३/५४

४. जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।। वही, ३/५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थिति का छेदक है।[1]

श्रीमद्देवसेन का मत है कि "सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता, अपितु परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है, क्योंकि वह पुण्य निदानपूर्वक (भोगाकांक्षापूर्वक) नहीं किया जाता।"[2]

परम्परा दो प्रकार की होती है — एक तो व्यवहाररत्नत्रय द्वारा गुणस्थानों में क्रमशः उन्नति करते हुए उसी भव में मोक्ष प्राप्त करना, दूसरी वर्तमान भव में किये गये उत्कृष्ट पुण्यों के फलस्वरूप अगले भव में मोक्ष के अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्तकर मोक्ष पाना।[3] भवान्तर में मोक्ष-प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन आचार्य जयसेन ने पञ्चास्तिकाय गाथा १७० की टीका में विस्तार से किया है।

निष्कर्ष यह कि सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग मात्र बन्ध का कारण नहीं है। उसके दोनों पक्ष हैं। उससे अशुभराग की निवृत्ति द्वारा आत्मविशुद्धि होती है, जिससे शुद्धात्मभाव में स्थित होने योग्य क्षमता प्राप्त होती है तथा पुण्यबन्ध भी होता है, किन्तु ऐसा पुण्यबन्ध होता है जो संसारस्थिति का छेदक है और अगले भवों में मुक्ति की साधनायोग्य परिस्थितियाँ जुटाता है। इस प्रकार सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग के परम्परया मोक्षसाधक होने से निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में साध्य-साधकभावरूप परस्परसापेक्षता है।

निश्चयधर्म के पूर्व भी व्यवहारधर्म

उक्त विद्वानों का यह कथन भी आगमसम्मत नहीं है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं।[4] जब व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का हेतु है, तो उसके पूर्व तो होगा ही। ऐसी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि पहले साधक आत्मध्यान

---

१. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/६१

२. सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्य होई हेउं जइ वि णिदाणं ण सो कुणइ ।। भावसंग्रह/गाथा ४०४

३. (क) सा खलु दुविहा भणिया परंपरा जिणवरेहि सव्वेहिं ।
तब्भवगुणठाणे वि हु भवंतरे होदि सिद्धिपरा ।।
द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/गाथा ३४१ पर उद्धृत

(ख) "यः कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया मोक्षं वा, व्रततपश्चरणादिकं करोति स निदानरहितपरिणामेन सम्यग्दृष्टिर्भवति, तस्य तु संहननशक्त्याभावाच्छुद्धात्मस्वरूपे स्थातुमशक्यत्वाद् वर्तमानभवे पुण्यबन्ध एव, भावान्तरे तु परमात्मभावनास्थिरत्वे सति नियमेन मोक्षो भवति।।"
पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७१

४. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में लीन हो जाय, बाद में 'आत्मा है क्या वस्तु' इसका ज्ञान करे, पहले निर्विकल्प समाधि में पहुँच जाय, तत्पश्चात् वहाँ तक पहुँचने के बाह्य उपायों का अवलम्बन करे, पहले वीतरागी हो जाय फिर वीतरागता में बाधक अशुभराग को दूर करने हेतु शुभराग करे। क्या कभी ऐसा होता है कि रोगी पहले नीरोग हो जाय तदनन्तर ओषधि का सेवन करे ? निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म न मानना ऐसी ही कल्पना है।

चर्चित विद्वज्जनों का यह मत समीचीन नहीं है कि निश्चयधर्म के साथ होने वाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया को ही आगम में व्यवहारधर्म कहा गया है।[1] आगम में तो निश्चयधर्म की सिद्धि में सहायक बनने वाली साधना को व्यवहारधर्म संज्ञा दी गयी है। यह आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है —

"एकादशांग शब्दागम का अभ्यास ज्ञान का आश्रय होने से व्यवहारनय से ज्ञान है। जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व का निमित्त होने से व्यवहारनय से सम्यक्त्व है। षट्कायिक जीवों की रक्षा चारित्र का आश्रय होने से व्यवहारनय से चारित्र है।"[2]

पं० टोडरमल जी ने भी स्पष्टरूप से कहा है कि आगमज्ञान, जीवादितत्त्वों का श्रद्धान तथा व्रतादि क्रियाएँ तभी व्यवहाररत्नत्रय कहला सकती हैं जब वे निश्चयरत्नत्रय की सिद्धि में हेतु बनें।[3]

निश्चयधर्म के साथ होने वाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया को आगम में व्यवहारधर्म इसलिये कहा गया है कि वह शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म की साधक है।[4] यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि निश्चयधर्म दो प्रकार का होता है — लब्धि-

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७

२. "एकादशाङ्गशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात् कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति। जीवादि-नवपदार्थाः श्रद्धानविषयाः सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद्, व्यवहारेण सक्यक्त्वं भवति। षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वाद्हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६

३. "व्यवहार तो उपचार का नाम है, सो उपचार भी तो तब बनता है जब वे (आगम-ज्ञानादि) सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादिक हों। जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय सध जाये उसी प्रकार इन्हें साधे तो व्यवहारपना भी सम्भव हो। परन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहचान ही नहीं हुई, तो यह इस प्रकार कैसे साध सकेगा ?"

मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५७

४. "शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थितानां तपोधनानाम्।"

प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/४७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप[१] और उपयोगरूप। अनन्तानुबन्धी आदि कषायचतुष्कों के उपशमादि से प्रकट होनेवाला आंशिक वीतरागभाव लब्धिरूप निश्चयधर्म है तथा मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक किया जानेवाला शुद्धोपयोग (निर्विकल्प समाधि) उपयोगरूप निश्चयधर्म है। पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रिया शुद्धोपयोग की अवस्था में नहीं होती, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।[२] वह लब्धिरूप निश्चयधर्म की अवस्था में, जब शुद्धोपयोग सम्भव नहीं होता, तब होती है। व्रतादि धारण करने का सामर्थ्य लब्धिरूप निश्चयधर्म से ही आता है।[३] अतः पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया उसी से फलित होती है और उसी के साथ उसका (पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रिया का) साहचर्य होता है और उसके साथ होने पर ही वह सम्यक् होती है।[४] इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है।'[५] अथवा निश्चय के साथ व्यवहार अपरिहार्य है। अन्तस्तल में भावना होने पर बाह्य व्यवहार में अवतरित हुये बिना नहीं रह सकती।[६] और इसी तथ्य के आधार पर पं० टोडरमल जी ने यह कहा है कि निश्चयधर्म के प्रकट हुए बिना जो व्रतादिधारण किये जाते हैं वे सफल नहीं होते। अतः जितने अंश में वीतरागता आई हो उतने ही अंश में व्रतादि ग्रहण करना चाहिए।[७] लब्धिरूप निश्चयधर्म से फलित होने वाली यह पुण्यपरिणतिरूप बाह्यक्रिया शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म की सिद्धि में सहायक होती है, जो कि मोक्ष का साधन है। इसी उद्देश्य से उसका बुद्धिपूर्वक अवलम्बन किया जाता है। इसीलिये आगम में उसे व्यवहारधर्म कहा गया है।

लब्धिरूप निश्चयधर्म चतुर्थ गुणस्थान से आरम्भ होता है। उस आरम्भिक निश्चयधर्म की सिद्धि में जो साधना सहायक होती है, उसे भी आगम में व्यवहारधर्म

---

१. जैसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले ज्ञान को लब्धिरूपज्ञान कहा गया है, वैसे ही यहाँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के उपशमादि से प्रकट होने वाले आंशिक वीतरागभाव के लिए 'लब्धि' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

२. "निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १५४

३. वही, गाथा १७७-१७८

४. रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख-
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ।
सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ।। सागारधर्मामृत १/१६

५. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ८/पृ० २७९

६. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/प्रस्तवना/पृ० ४१

७. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २३८-२४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार की साधना उक्त निश्चयधर्म की पूर्ववर्ती ही हो सकती है, सहवर्ती नहीं, क्योंकि उस समय उसकी (लब्धिरूप निश्चयधर्म की) अभिव्यक्ति ही नहीं हुई होती है। ऐसा होते हुए भी वह उसकी साधक होती है, अत: व्यवहारधर्म कहलाती है। पं० टोडरमल जी के पूर्वोद्धृत वचनों से यह स्पष्ट है कि किसी भी साधना को व्यवहार-धर्म कहलाने के लिये निश्चयधर्म का सहवर्ती होना आवश्यक नहीं है, अपितु उसका इस प्रकार सम्पादन आवश्यक है कि वह निश्चयधर्म की सिद्धि में सहायक बन सके। हाँ, उसके लिये निश्चयधर्म की पहचान अनिवार्य है, अन्यथा उक्त प्रकार से सम्पादन सम्भव नहीं हैं।[१] जब गन्तव्य का ही बोध न हो तो उस दिशा में गमन कैसे हो सकता है?

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरभाव में स्थित जीवों को व्यवहारनय द्वारा उपदेश्य बतलाया है[२] तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने प्राथमिक साधकों के लिये (जो कि मिथ्यादृष्टि होते हैं) जो सुखपूर्वक तीर्थावतरण में सहायक होता है उस भिन्न-साध्यसाधनभाव को व्यवहारमोक्षमार्ग शब्द से अभिहित किया है[३] और पं० जयचन्द्र जी ने सम्यग्दर्शन (जो लब्धिरूप निश्चयधर्म का अविनाभावी है) की प्राप्ति के लिये जिनवचनों के श्रवण, जिनबिम्बदर्शन, जिनगुरु की भक्ति, सत्संग आदि को आवश्यक बतलाया है और उसे व्यवहारमार्ग कहा है।[४] इन आर्ष प्रमाणों से सिद्ध है कि लब्धिरूप निश्चयधर्म के पूर्व की वह सम्पूर्ण साधना जो उक्त निश्चयधर्म की प्राप्ति में सहायक होती है, व्यवहारधर्म कहलाती है। अत: निश्चयधर्म के पूर्व भी व्यवहारधर्म होता है।

यह सत्य है कि जिस गुणस्थान का लब्धिरूप निश्चयधर्म प्रकट न हुआ हो, उस गुणस्थान का बाह्यधर्म धारण करना निरर्थक है। उसे व्यवहारधर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह शुद्धोपयोग का साधक नहीं हो सकता। इसलिये आगम में भावलिंग (लब्धिरूप निश्चयधर्म) प्रकट हुये बिना जो अट्ठाईस मूलगुणरूप द्रव्यलिंग (बाह्यधर्म) धारण किया जाता है, उसकी निन्दा की गयी है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व की साधना (जिनवचनश्रवण,

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५७
२. (क) समयसार, गाथा १२
   (ख) जैन अध्यात्म में आध्यात्मिक विकास के चौदह स्तर माने गये हैं, उन्हें गुणस्थान कहते हैं। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी ने प्रथम सात गुणस्थानों को अपरमभाव कहा है।
   जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश/भाग २/पृ० ५६४
३. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिका/गाथा १७२
४. समयसार/भावार्थ/गाथा १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनबिम्बदर्शन आदि) जो उस गुणस्थान की प्राप्ति में सहायक होती है, निन्दनीय है या व्यवहारधर्म नहीं कहला सकती। पं० टोडरमलजी के पूर्वोद्धृत वचनों[१] से स्पष्ट है कि यदि उस साधना को इस प्रकार साधा जाय कि वह चतुर्थ गुणस्थान या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में हेतु बन सके, तो वह अवश्य ही व्यवहारधर्म संज्ञा की पात्र होगी।

पूर्वनिर्दिष्ट विद्वज्जन यह तो मानते हैं कि चतुर्थगुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म के पूर्व शुभक्रिया (शुभोपयोग) अनिवार्यत: होती है, क्योंकि उन्हें यह स्वीकार्य है कि निश्चयधर्म इसी क्रम से प्रकट होता है, किन्तु उनका कहना है कि उस समय निश्चयधर्म का अभाव होता है, अत: उसके अभाव में वह क्रिया सम्यक् नहीं होती, इसलिये व्यवहारधर्म संज्ञा की पात्रता नहीं रखती। फलस्वरूप निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं है।[२] हाँ निश्चयधर्म प्रकट हो जाने पर वही क्रिया सम्यक् हो जाती है और व्यवहारधर्म संज्ञा प्राप्त करती है। अत: निश्चयधर्म होने पर ही व्यवहारधर्म होता है।[३] इससे उक्त विद्वान् यह फलित करना चाहते हैं कि जब निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं है तो वह निश्चयधर्म का साधक कैसे हो सकता है ?

किन्तु यह मत सम्यक् नहीं है। यह सत्य है कि चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व की शुभक्रिया सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्या मानी जाती है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वह उक्त गुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म की साधक नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन के पूर्व का तत्त्वज्ञान मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व प्रकट होने पर ही वह सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, तथापि वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का हेतु है, यह आगम से प्रमाणित है।[४] इसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म के पूर्व की शुभप्रवृत्ति भले ही सम्यक् न कहलाये, किन्तु वह उसकी साधक होती है और साधक होना ही व्यवहारधर्म कहलाने का हेतु है यह पूर्व में निर्णीत हो चुका है। तथा वह कथंचित् सम्यक् भी है, क्योंकि वह निश्चयसापेक्ष होती है अर्थात् आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से की जाती है। इसीलिये तो वह उक्त धर्म की साधक बन पाती है। निश्चयनिरपेक्ष शुभक्रिया निश्चयधर्म की साधक नहीं होती। आगम में निश्चयसापेक्ष शुभप्रवृत्ति सम्यक् मानी गयी है, इसीलिये

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २५७
२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७; १२२/भाग २/पृ० ५८९
३. वही, २/५८९
४. "स्वपरभेदविज्ञानमागमत: सिद्ध्यति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति १/९०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे परम्परया मोक्ष का कारण कहा गया है।[१] अतः जहाँ सम्यग्दर्शन के अभाव में चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व की शुभक्रिया मिथ्या होती है, वहीं निश्चयसापेक्ष होने से सम्यक् भी है। इस प्रकार सिद्ध है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता है।

चर्चित विद्वज्जन कहते हैं — "प्रथम गुणस्थान में इस जीव के परद्रव्यभावों से भिन्न आत्मस्वभाव के सम्मुख होने पर जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह विशुद्धि ही असंख्यातगुणी निर्जरा आदि का कारण है, परद्रव्यभावों में प्रवृत्त हुआ शुभोपयोग-परिणाम नहीं। यह जीव जब कि मिथ्यादृष्टि है ऐसी अवस्था में उसके शुद्धोपयोग के समान शुभोपयोग कहना भी उपयुक्त नहीं है, फिर भी वहाँ पर जो भी विशेषता देखी जाती है, वह आत्मस्वभाव-सन्मुख हुये परिणाम का फल है।"[२]

यह सत्य है, किन्तु प्रश्न है कि आत्मस्वभाव-सन्मुख होने में आत्मा की पहचान आवश्यक है या नहीं ? उसके लिए मोह की मन्दता अनिवार्य है या नहीं ? और इसमें तत्त्वचिन्तन, जिनबिम्बदर्शन तथा अहिंसादि शुभप्रवृत्तियों का योग रहता है या नहीं ? इसका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि प्राथमिक जन भिन्न साधनों का अवलम्बन कर सुखपूर्वक धर्ममार्ग में अवतरित होते हैं और धीरे-धीरे मोह का उन्मूलन करते हैं।[३] इसका निर्देश पूर्व में किया जा चुका है। मोक्षमार्गप्रकाशककार का भी कथन है कि शुभोपयोग से कर्म के स्थिति-अनुभाग घटते हैं, मोह मन्द होता है और सम्यक्त्व-प्राप्ति का पथ प्रशस्त होता है।[४]

निष्कर्ष यह कि आत्माभिमुख-परिणाम होने में शुभप्रवृत्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः वह चतुर्गुणस्थान के लब्धिरूप निश्चयधर्म की परम्परया साधक है। इसी कारण वह व्यवहारधर्म कहलाती है, जिससे सिद्ध होता है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता है। फलस्वरूप दोनों में साध्यसाधकभाव है और साध्य-साधकभाव होने से परस्पर सापेक्षता है।

निमित्तनैमित्तिक का समकालयोग अनिवार्य नहीं

उक्त विचारक निश्चयधर्म की पूर्ववर्ती साधना को निश्चयधर्म का निमित्त न मानने में एक तर्क यह देते हैं कि दोनों का योग एक काल में नहीं होता। वे कहते

१. "यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति, तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधकं भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारण-मेवेति।" परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१९१
२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १, पृ० १२२
३. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १७२
४. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २०५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं — "निमित्तनैमित्तिकयोग एक काल में होता है। पहले निमित्त था, बाद में नैमित्तिक हुआ, ऐसा कार्यकारणभाव नहीं है।"[१]

यह तर्क नितान्त एकान्तवादी है। व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का परम्परया निमित्त है, साक्षात् निमित्त नहीं। पारम्परिक निमित्त का नैमित्तिक के काल में रहना अनिवार्य नहीं है। किसी कार्य की उत्पत्ति में निमित्तों की एक लम्बी परम्परा होती है। ये सभी निमित्त उस कार्य की उत्पत्ति के काल में विद्यमान नहीं रहते, तथापि उसके निमित्त होते हैं। उच्चतम कक्षा उत्तीर्ण करने में प्राथमिक कक्षा का ज्ञान निमित्तभूत है, किन्तु क्या दोनों कक्षाओं के पाठ्यक्रम का अध्ययन एक ही काल में होता है?

परमात्मप्रकाश के टीकाकार श्रीब्रह्मदेव सूरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का भूतनैगमनय से परम्परया साधक होता है।[२] तात्पर्य यह कि पारम्परिक निमित्त का नैमित्तिक के काल में सद्भाव आवश्यक नहीं है। वह भूतनैगमनय की अपेक्षा परम्परा से नैमित्तिक के काल में उपस्थित माना जाता है। इस प्रकार उसे साधक कहना संगत होता है। पञ्चास्तिकाय, गाथा १७० की टीका में आचार्य जयसेन ने यह अच्छी तरह दर्शाया है कि पूर्वभव की शुभोपयोग-साधना भवान्तर में किस प्रकार परम्परया मोक्ष की साधक होती है। अतः उक्त विद्वज्जनों की यह धारणा समीचीन नहीं है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का समकालयोग न होने से उनमें साध्य-साधकभाव नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समकालयोग न होने पर भी उनमें साध्य-साधकभाव है। अतएव वे परस्पर सापेक्ष हैं।

यहाँ तक पूर्वोक्त विद्वज्जनों के उन भ्रान्तिपूर्ण तर्कों का खण्डन किया गया है जो उन्होंने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में निमित्तनैमित्तिकात्मक (कार्यकारणरूप) साध्य-साधकभाव को असिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये हैं। अब उक्त विद्वानों ने उपर्युक्त उद्देश्य से ही साध्यसाधकभाव की जो अन्यथा व्याख्याएँ की हैं उनका निराकरण किया जा रहा है।

सहचर-व्यवहारधर्म शुद्धोपयोगसाधक

निर्दिष्ट विद्वानों का कथन है कि आगम में व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५७

२. "अत्राह शिष्यः — निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह — भूतनैगमनयेन परम्परया भवति।"
परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का साधक इसलिये नहीं कहा गया है कि वह निश्चयधर्म की सिद्धि में सहायक है, अपितु "चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सविकल्पदशा में व्यवहारधर्म निश्चयधर्म के साथ रहता है, इसलिए सहचर होने के कारण साधक (निमित्त) कहा गया है।"[१]

यह व्याख्या भ्रान्तिपूर्ण है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सविकल्प दशा में लब्धिरूप निश्चयधर्म के साथ व्यवहारधर्म अनिवार्यत: रहता है तथापि सहचरतामात्र से वह निश्चयधर्म का साधक नहीं कहलाता, अपितु वह शुद्धोपयोग सम्भव न होने की अवस्था में मोहजनित विषय-कषायरूप दुर्ध्यान का निरोध कर शुद्धोपयोग की भूमिका का निर्माण करता है, इस कारण साधक कहलाता है। इसीलिये ब्रह्मदेवसूरि ने कहा है कि चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ गुणस्थानों में परम्परया शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में रहता है।[२]

यदि मात्र सहचरता से व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक माना जाय तो साहचर्य तो चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थानों में विषयकषायभावों का भी रहता है तथा उच्चतर गुणस्थानों में सूक्ष्म रागादिभावों का रहता है, क्या उन्हें भी निश्चयधर्म का साधक माना जा सकता है ? इसके अतिरिक्त जैसे व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा जाता है, वैसे सहचर भाव के कारण क्या निश्चयधर्म को व्यवहारधर्म का तथा गुणस्थानानुसार रागादि भावों का साधक कहा जा सकता है ? यदि नहीं, तो क्या कारण है कि व्यवहारधर्म को ही सहचरभाव के कारण निश्चयधर्म का साधक कहा जाता है ? स्पष्ट है कि वह वास्तव में शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म का साधक है, इसीलिये साधक कहा जाता है।

अबाधकत्व साधकत्व नहीं है

चर्चित तत्त्वज्ञानियों ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म के साध्य-साधकभाव की दूसरी व्याख्या यह की है कि सम्यग्दर्शन हो जाने पर ज्ञान और वैराग्यशक्ति के कारण शुभभाव आत्मविशुद्धि तथा उसकी वृद्धि में बाधक नहीं बन पाते। इसलिये उन्हें परम्परया मोक्ष का हेतु कहा गया है, वे आत्मविशुद्धि को उत्पन्न करते हैं, इसलिये नहीं।[३]

यह व्याख्या अद्भुत है। 'बाधक न बनने वाले तत्त्व को हेतु (साधक)

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृष्ठ १२९
२. "ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।" बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३४
३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७८०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं —', हेतु की यह परिभाषा प्रथम बार सुनने में आई है। समस्त शास्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि कार्य में किसी भी प्रकार सहायता पहुँचाने वाले तत्त्व को ही हेतु कहते हैं। कोई वस्तु भले ही बाधा न पहुँचाये, किन्तु यदि वह कार्योत्पत्ति में कोई योगदान नहीं करती, तो उसे हेतु (साधक) नहीं कहा जा सकता। जो शत्रु न हो उसे मित्र नहीं कहते, जिसमें मित्र के गुण होते हैं, उसे ही मित्र कहते हैं। क्या ऐसा व्यक्ति चिकित्सक कहलाता है जो रोगी की नीरोगता में बाधा न डाले अथवा रोगी के रोग को दूर करने वाला व्यक्ति चिकित्सक कहलाता है ? यदि पहली बात सत्य हो, तो संसार के सभी मनुष्य किसी भी रोगी के चिकित्सक कहलाने लगेंगे, क्योंकि वे उसकी नीरोगता में बाधा पहुँचाने नहीं जाते।

वस्तुतः अबाधक तत्त्व को साधक नहीं कहते, अपितु जो बाधा दूर करता है उसे साधक (हेतु) कहते हैं। आचार्य विद्यानन्दी ने स्पष्ट कहा है कि यदि सहकारी कारण, कार्य की उत्पत्ति में उपादान की असामर्थ्य का खण्डन न कर अकिञ्चित्कर बना रहता है, तो वह सहकारी कारण कैसे कहला सकता है ?[१] इससे प्रमाणित है कि जो तत्त्व उपस्थित बाधाओं को दूर करते हुए कार्य की सिद्धि में सहयोग देता है उसे ही आगम में साधक या हेतु कहा गया है। अतः इसी दृष्टि से सर्वज्ञ ने शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का हेतु कहा है। शुभपरिणाम विषयकषाय-जन्य दुर्ध्यान का निरोध कर शुद्धोपयोग की भूमिका का निर्माण करता है, इसलिए वह मात्र अबाधकता के कारण नहीं, अपितु बाधा दूरकर शुद्धोपयोग की सिद्धि में सहायक बनने के कारण उसका साधक कहा गया है। यह आचार्यों के अनेक वक्तव्यों से प्रमाणित है।[२]

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि शुभपरिणाम आत्मविशुद्धि में अबाधक होने मात्र से परम्परया मोक्ष का साधक कहा जाता है, तो सम्यग्दृष्टि का भोग भी आत्मशुद्धि में बाधक नहीं होता है (इसे उक्त विद्वान स्वयं स्वीकार करते हैं)[३], उसे परम्परया

---

१. "तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?"
अष्टसहस्री/पृष्ठ १०५ (जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा, पृष्ठ २४७)

२. (क) "व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवञ्चनार्थं करोति तदपि परम्परया मोक्षकारणं भवति।"
समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ३०६-३०७

(ख) "कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावाद् अशक्यानुष्ठानेन विषयकषाय-वञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति ....।"
वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २२४-२२७

३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७८०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्ष का साधक क्यों नहीं कहा गया ? व्यवहारचारित्र में विषयभोग का विधान क्यों नहीं किया गया ? संयम का ही विधान क्यों किया गया ? आचार्यों ने विषय-भोग को व्यवहारधर्म संज्ञा क्यों नहीं दी और निश्चयधर्म तथा विषयभोग में साध्य-साधकभाव प्रतिपादित क्यों नहीं किया ? उन्होंने व्रत-शील-संयमादि को ही व्यवहार-धर्म नाम क्यों दिया और उन्हें ही निश्चयधर्म का साधक क्यों बतलाया ? इसका एकमात्र समाधान यही है कि अबाधक होने मात्र से कोई वस्तु साधक नहीं कहलाती, अपितु कार्यसिद्धि में बाधक तत्त्वों को दूरकर उसकी सिद्धि की प्रक्रिया को सुकर बनाने से साधक कहलाती है। शुभोपयोग उपर्युक्त प्रकार से शुद्धोपयोग के मार्ग की बाधा दूरकर उसका पथ प्रशस्त करता है, इसलिए उसे उसका साधक कहा गया है। विषयभोग ऐसा नहीं करता, इसलिए आचार्यों ने उसे शुद्धोपयोग का साधक नहीं कहा। अत: चर्चित विद्वज्जनों का यह मत समीचीन नहीं है कि आत्म-विशुद्धि में अबाधक होने से ही शुभोपयोग को शुद्धोपयोग या मोक्ष का साधक कहा गया है। तथ्य यह है कि यह शुद्धोपयोग के मार्ग की बाधा का निवारक है, इसलिए इसे साधक कहा गया है।

अवरोधनिवारकत्व के कारण ही नियतपूर्वभाव

कथित विद्वज्जनों ने साध्य-साधकभाव की एक व्याख्या यह की है कि शुद्धोपयोग के पूर्व शुभोपयोग होने का नियम है। मात्र इस क्रम के कारण व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा गया है।[१] अर्थात् वे मानते हैं कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म की प्राप्ति में अवरोधनिवारकरूप से कोई योगदान नहीं करता, बस निश्चय-धर्म के पूर्व उसके होने का नियममात्र रहता है।

यहाँ प्रश्न है कि जब वह निश्चयधर्म की प्राप्ति में कोई योगदान नहीं करता, तो उसके पूर्व में होने का नियम क्यों है ? जब वह अजागलस्तन के समान सर्वथा निरर्थक है, तो इससे सिद्ध है कि वह न होवे तो भी निश्चयधर्म की प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् साधक अशुभोपयोग से सीधे शुद्धोपयोग का अवलम्बन कर सकता है। किन्तु, यह आगमविरुद्ध एवं अनुभवविरुद्ध है। साधक के शुभोपयोग की अवस्था में आए बिना शुद्धोपयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि अशुभोपयोग की दशा शुद्धोपयोग के सर्वथा प्रतिकूल है। शुभोपयोग शुद्धोपयोग के अनुकूल भूमिका का निर्माण करता है, इसलिए उसका पूर्व में आना निरर्थक न होकर सोद्देश्य होता है। अत: पूर्व में आने मात्र से नहीं, अपितु शुद्धोपयोग में सहायक होने से ही व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा गया है।

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ५८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञापकत्व साधकत्व नहीं है

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में साध्य-साधकभाव की चर्चित विद्वानों ने जो व्याख्यायें की हैं, उनमें एक यह है कि अन्तरंग में निश्चयधर्म (लब्धिरूप) प्रकट होने पर बाहर जो व्यवहारधर्म फलित होता है, उससे अन्तरंग निश्चयधर्म (लब्धिरूप) ज्ञापित होता है। इस तरह व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का ज्ञापक है और निश्चयधर्म ज्ञाप्य। इस ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव को ही साध्य-साधकभाव कहा गया है।[1]

आगमवचनों की इससे अधिक भ्रान्त व्याख्या और कोई नहीं हो सकती। आचार्यों के वक्तव्य इसमें प्रमाण हैं कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में ज्ञाप्यज्ञापकभाव के कारण साध्य-साधकभाव नहीं कहा गया है, अपितु जैसे स्वर्ण की शुद्धि में अग्नि बहिरंग साधक होती है, मलिन वस्त्र के स्वच्छ होने में जल साधक होता है तथा धान्य की उत्पत्ति में भूमि, जल, उर्वरक आदि साधक होते हैं, वैसे ही निश्चयधर्म की सिद्धि में व्यवहारधर्म साधक है, इसलिए उनमें साध्य-साधकभाव कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि जैसे खान से निकले हुए अशुद्ध स्वर्ण में अर्पित अग्नि शुद्ध स्वर्ण की साधक होती है, वैसे ही व्यवहारमोक्षमार्ग अशुद्धजीव को क्रमशः शुद्धभूमिकाओं (गुणस्थानों) में प्रतिष्ठित करता हुआ शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग का साधक होता है।[2]

तात्पर्य यह कि यद्यपि स्वर्णपाषाण स्वयं शुद्ध स्वर्णरूप में परिणत होता है, तथापि अग्नि बहिरंग सहायक होती है, वैसे ही यद्यपि निश्चयनय से जीव स्वयं शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग में परिणत होता है, तथापि व्यवहारमोक्षमार्ग उसमें बहिरंग साधक होता है। यही बात आचार्य जयसेन ने संक्षेप में निम्नलिखित शब्दों में कही है —

"अयं व्यवहारमोक्षमार्गः .... स्वर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरङ्गसाधको भवति।"[3]

धान्य और बीजादि के समान साध्य-साधकभाव का वर्णन करते हुए पं० आशाधर जी कहते हैं —

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ।।[4]

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७९५
२. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा १६० तथा १७२
३. वही/तात्पर्यवृत्ति/१६०
४. अनगारधर्मामृत १/१००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्ग से विमुख होकर निश्चयमोक्षमार्ग प्राप्त करना चाहता है वह बीज, भूमि, जल, उर्वरक आदि के बिना धान्य उगाना चाहता है।

आचार्यों के ये वचन स्पष्ट करते हैं कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में साध्यसाधकभाव से क्या अभिप्राय है ? यदि उससे ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव अभिप्रेत होता, तो आचार्यगण ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव शब्द का ही प्रयोग करते और सर्वत्र यह कहते कि निश्चयधर्म को जानने के लिए व्यवहारधर्म को जानो, यह न कहते कि निश्चयधर्म की सिद्धि के लिए व्यवहारधर्म का अनुष्ठान करो।[१] आचार्यों ने यह कहीं नहीं कहा है कि जो निश्चयधर्म को जानने के लिए व्रत-तप आदि को जानता है वह परम्परया मोक्ष प्राप्त करता है। सर्वत्र यही कहा है कि जो निश्चयधर्म की साधना के लिए व्रत-तप आदि करता है वह परम्परया मोक्ष पाता है।[२]

अतः चर्चित विद्वज्जनों की यह व्याख्या अत्यन्त हास्यास्पद है कि निश्चय-धर्म और व्यवहार धर्म में जो ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव है उसे ही साध्य-साधकभाव कहा गया है। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि अग्नि और सुवर्णपाषाण अथवा मलिन वस्त्र और जल में जैसा कार्यकारणात्मक (निमित्त-नैमित्तिकभावरूप) साध्य-साधक-भाव है, वैसा ही साध्य-साधकभाव आचार्यों ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में बतलाया है। ब्रह्मदेवसूरि ने उसे उदाहरणपूर्वक निम्नलिखित कथन में स्पष्ट कर दिया है —

"प्राथमिकानां चित्तस्थिरीकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परम्परया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयं पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्म-तत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकान्तः। एवं साध्य-साधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्त्तव्यः।"[३]

—प्राथमिक अवस्था में चित्त स्थिर करने तथा विषयकषायरूप दुर्ध्यान को रोकन के लिए परम्परया मुक्ति के कारणभूत अरहन्तादि पञ्चपरमेष्ठी ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर हो जाने पर साक्षात् मुक्ति का हेतुभूत निजशुद्धात्मतत्त्व ही ध्येय है। इनमें से कोई एक ही सर्वथा ध्येय नहीं है। इस प्रकार दोनों ध्येयविषयों में साध्य-साधकभाव जानकर ध्येय के विषय में विवाद नहीं करना चाहिए (पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान व्यवहारधर्म है तथा स्वशुद्धात्मा का ध्यान निश्चयधर्म।)।

---

१. "गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्त्तव्यः।"
परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/१३३

२. "यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरङ्गव्रततपश्चरणदानादिकं करोति स परम्परया मोक्षं लभते।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १४६

३. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूरिजी के इन वचनों से सम्यग्रूपेण अवगत हो जाता है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में जो कार्य-कारण भाव है, उसे ही आगम में साध्य-साधकभाव कहा गया है, ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव को नहीं।

'सुद्धो सुद्धादेसो' गाथा का तात्पर्य

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव को ही साध्य-साधकभाव मानने के कारण निर्दिष्ट विद्वानों ने निम्नलिखित गाथा की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है —

सुद्धो सुद्धादेसो णयव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।[१]

— परमभावदर्शियों को शुद्धात्मा का कथन करनेवाला शुद्धनय (निश्चय-नय) जानने योग्य है तथा जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश के योग्य हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जो साधक शुद्धोपयोग में समर्थ हो गये हैं, उनके लिए शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म ही उपयोगी है, किन्तु जो उसमें समर्थ नहीं हुए हैं, उनके लिए विषयकषायरूप दुर्ध्यान का निरोध करने हेतु शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म भी उपयोगी है।[२]

किन्तु, पूर्वोक्त विद्वान मानते हैं कि इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने यह कहा है कि शुद्धात्मभावदर्शी (शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाले) जीव शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं, किन्तु जो सविकल्पावस्था में स्थित हैं उनके लिए अशुद्धात्मा का ज्ञान प्रयोजनवान है। प्रस्तुत गाथा का यह अभिप्राय ग्रहणकर उक्त विद्वज्जन कहते हैं कि इस प्रकार आचार्यों ने व्यवहारनय का विषय जानने के लिए तो प्रयोजनवान बतलाया है, पर आदर करने योग्य नहीं बतलाया।[३]

विद्वज्जनों द्वारा ग्रहण किया गया यह अभिप्राय नितान्त असमीचीन है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

प्रथम तो 'जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश के योग्य

---

१. समयसार/गाथा, १२

२. "अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः ···· ···· केषांचित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पा-वस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२

३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं' आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन का 'अपरमभाव (सविकल्पावस्था) में स्थित जीवों के लिए अशुद्धात्मा का ज्ञान प्रयोजनवान है', यह अर्थ लेने का कोई आधार नहीं हैं, क्योंकि व्यवहारनय का विषय केवल अशुद्धात्मा नहीं है, अपितु सम्पूर्ण व्यवहारनयात्मक उपदेश है, जिसमें व्यवहारमोक्षमार्ग भी समाविष्ट है और व्यवहार-मोक्षमार्ग का मात्र ज्ञान कर लेना कार्यकारी नहीं है, अपितु ज्ञान करके उसका अवलम्बन करना कार्यकारी है। ज्ञान आचरण के लिए ही आवश्यक होता है।

दूसरे, अपरमभाव में स्थित जीवों के लिए अशुद्धात्मा का ही ज्ञान क्यों प्रयोजनवान है, शुद्धात्मा का ज्ञान क्यों प्रयोजनवान नहीं है ? इसका कोई समाधान नहीं है। ज्ञान तो प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध दोनों रूपों का आवश्यक है। तभी तो आत्मा के पूर्ण (अनेकान्त) स्वरूप का बोध होगा और ज्ञाता की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो सकेगी। केवल अशुद्धात्मा के ज्ञान से तो वह अशुद्धात्मा को ही शुद्धात्मा समझ बैठेगा, जिससे महान् अनर्थ होगा। प्राथमिक साधकों को तो सर्वप्रथम शुद्धात्मा का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वे अनादि से अपने अशुद्धस्वरूप को शुद्धस्वरूप समझते आ रहे हैं, इसीलिए कुन्दकुन्द ने समयसार के आरम्भ में ऐसे जीवों को आत्मा का शुद्धस्वरूप दर्शाने की प्रतिज्ञा की है।[१] मात्र अशुद्धात्मा का ज्ञान किसी के लिए कैसे प्रयोजनवान हो सकता है ? यह समझ के बाहर है। अत: आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथा का यह अर्थ निकालना कि अपरमभाव में स्थित जीवों के लिए अशुद्धात्मा का ज्ञान प्रयोजनवान है, नितान्त विपरीत व्याख्या है।

वस्तुत: ज्ञान के विषय का तो ऐसा विभाजन हो ही नहीं सकता कि किसी को केवल निश्चयनय के विषय का ज्ञान प्रयोजनवान हो और किसी को केवल व्यवहारनय का, क्योंकि इससे वस्तु के अनेकान्तस्वरूप का ज्ञान सम्भव नहीं है। इससे तो एकान्तवाद ही फलित होगा, जो जैनसिद्धान्त के विपरीत है और मिथ्यात्व का कारण है। हाँ, साधना के विषय का ऐसा विभाजन हो सकता है कि किसी के लिए निश्चयसापेक्ष व्यवहारनयात्मक साधना ही उपयोगी हो और किसी के लिए व्यवहारसापेक्ष निश्चयनयात्मक साधना ही, क्योंकि इसमें वस्तुस्वरूप को जानने का प्रश्न नहीं होता, अपितु मोक्षमार्ग के अवलम्बन का प्रश्न होता है जो साधक की क्षमता पर निर्भर है। क्षमतानुसार उक्त द्विविध साधनाओं का अवलम्बन भिन्न-भिन्न काल में ही सम्भव है, एक ही काल में नहीं। अत: साधना का पात्र के अनुसार विभाजन हो सकता है।

---

१. "तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।" समयसार/गाथा, ५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने साधना का ही पात्र के अनुसार निश्चय और व्यवहार दृष्टियों से विभाजन किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो शुद्धोपयोग में समर्थ हो गये हैं उनके लिए शुद्धोपयोगरूप निश्चयनयात्मक साधना ही उपयोगी है तथा जो उसमें असमर्थ हैं, उनके लिए शुभोपयोगरूप व्यवहारनयात्मक साधना कार्यकारी है। यह आचार्य जयसेन के पूर्वोद्धृत वचनों से समर्थित है, जो उन्होंने निर्दिष्ट गाथा की टीका में कहे हैं। उसमें उन्होंने विषयकषायरूप दुर्ध्यान का निरोध करने के लिए व्यवहारनय को प्रयोजनवान बतलाया है। उक्त दुर्ध्यान का निरोध व्यवहारनय अथवा अशुद्धात्मा को जानने से नहीं, अपितु व्यवहारनय के विषयभूत मोक्षमार्ग को अपनाने से सम्भव है। अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरमभाव में स्थित जीवों के लिए न तो अशुद्धात्मा को जानना प्रयोजनवान बतलाया है, न व्यवहारमोक्षमार्ग की मात्र जानकारी करना, अपितु व्यवहारमोक्षमार्ग को जानकर उसका अवलम्बन करने को प्रयोजनवान बतलाया है। अतः उक्त गाथा से यह फलित करना भी सर्वथा असमीचीन है कि व्यवहारनय का विषय जानने के लिए तो प्रयोजनवान बतलाया गया है, पर आदर करने योग्य नहीं बतलाया गया। दशम अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि व्यवहारनय का विषय-भूत साधनामार्ग कथंचित् आदर करने योग्य (उपादेय) भी है। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा से भी यही सिद्ध होता है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में कार्यकारणात्मक साध्य-साधकभाव है जिससे निश्चय और व्यवहार नय परस्पर सापेक्ष हैं।

व्यवहार के ज्ञानमात्र से तीर्थप्रवृत्ति सम्भव नहीं

प्राथमिक भूमिका में मोक्ष की साधना के लिए व्यवहारधर्म के अवलम्बन का उपदेश देनेवाली उक्त गाथा[1] के समर्थन में आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्नलिखित प्राचीन गाथा का उल्लेख किया है —

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।[2]

— यदि तुम चाहते हो कि जिनमत चलता रहे तो निश्चय और व्यवहार इन दोनों में से किसी को मत छोड़ो, क्योंकि एक के बिना तीर्थ नष्ट हो जायेगा और दूसरे के बिना तत्त्व।

तात्पर्य यह कि व्यवहारनय का उपदेश ग्रहण न करने पर मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि उसके बिना जीव को अपनी अशुद्ध अवस्था तथा

१. समयसार/गाथा १२
२. वही/आत्मख्याति टीका में उद्धृत/गाथा १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारमोक्षमार्ग का बोध नहीं हो सकता, जिससे न तो उसे मोक्ष की आवश्यकता प्रतीत हो सकती है और न वह व्यवहारमोक्षमार्ग में स्थित होकर निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य अर्जित कर सकता है। इसी प्रकार निश्चयनय का उपदेश ग्रहण न करने पर आत्मा के परमार्थ स्वरूप तथा परमार्थ मोक्षमार्ग का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसके अभाव में व्यक्ति अपने अशुद्ध स्वरूप को ही शुद्ध स्वरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को ही परमार्थ मोक्षमार्ग समझता रहेगा, जिससे मोक्ष न हो पायेगा। अतः दोनों नयों के अवलम्बन से ही जिनमत की प्रवृत्ति होती है, इसलिए दोनों नयों में से किसी को भी नहीं छोड़ना चाहिए।

इस प्रकार यह गाथा भी तीर्थप्रवृत्ति (मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने) के लिए व्यवहारधर्म के अवलम्बन का प्रतिपादन करती है। किन्तु पूर्वचर्चित विद्वज्जन कहते हैं कि इस गाथा में व्यवहारनय को तीर्थप्रवृत्ति का हेतु इसलिए कहा गया है कि उसके (व्यवहारनय) द्वारा प्रतिपादित गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि जीव के व्यावहारिक भेदों को जाने या स्वीकार किये बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अभिप्राय यह कि मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय के विषय को मात्र जान लेना या स्वीकार कर लेना पर्याप्त है, उसका आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है।[1]

किन्तु, यह व्याख्या आगमसम्मत नहीं है। व्यवहारनय के विषयों में व्यवहारधर्म भी सम्मिलित है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिए व्यवहारधर्म को मात्र जान लेना पर्याप्त नहीं है, अपितु उसका अनुसरण करना भी आवश्यक है, क्योंकि उससे शनैः-शनैः निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की क्षमता आविर्भूत होती है। अतएव वह निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है। इसी दृष्टि से उक्त गाथा में जिनमत के प्रवर्तन के लिए व्यवहारनय का अवलम्बन आवश्यक बतलाते हुए उसका परित्याग न करने के लिए कहा गया है। आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है कि उपरिनिर्दिष्ट गाथा में निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में सुवर्ण-पाषाण और अग्नि के समान साध्य-साधकभाव प्रतिपादित किया गया है —

"निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहानयव्याख्यानम् ? इति चेन्नैवम्, अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनयोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति।" तथा चोक्तं —

जइ जिणसमइं पउंजह ता मा ववहारणिच्छए मुवह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ।।[2]

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० १५४-१५५
२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये वचन आचार्य जयसेन ने समयसार की २३६वीं गाथा की व्याख्या में कहे हैं। वे कहते हैं कि यहाँ मैंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि निश्चय और व्यवहार नयों में सुवर्णपाषाण और अग्नि के समान साध्य-साधकभाव है जैसा कि 'जइ जिणसमइं' इत्यादि गाथा में बतलाया गया है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत गाथा का आशय यह नहीं है कि व्यवहारनय के विषय को मात्र जान लेने या उसकी सत्ता स्वीकार कर लेने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति सम्भव होती है, अपितु आशय यह है कि व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित धर्म का आचरण करने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो पाती है। अत: चर्चित विद्वज्जनों ने उक्त गाथा का जो यह आशय बतलाया है कि व्यवहारनय के विषय को जानने मात्र से जीव में शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग को ग्रहण करने की सामर्थ्य आ जाती है, वह आगमविरुद्ध है। उपर्युक्त गाथा यही सिद्ध करती है कि निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में कार्यकारणभावरूप साध्य-साधकभाव है, अत: निश्चय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष हैं।

साध्य-साधकभाव की मनोवैज्ञानिकता

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का साध्य-साधकभाव मनोवैज्ञानिक है। इसमें आत्मा से परमात्मा बनने की सामर्थ्य के क्रमिक विकास का स्वाभाविक सिद्धान्त अन्तर्निहित है। अनादिकाल से दुर्निवार विषयकषायों के वेग से अभिभूत जीव सहसा वीतरागभावरूप निश्चयमोक्षमार्ग में स्थित नहीं हो सकता। यह विषयकषायों के वेग को धीरे-धीरे कम करने की विधि से ही सम्भव है। व्यवहारमोक्षमार्ग इसी का साधन है। इसमें स्थित होने से जब विषय-कषायों के वेग पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया जाता है, तब वीतरागभावरूप निश्चयधर्म में स्थित होने की क्षमता उत्पन्न होती है। इस प्रकार निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का साध्य-साधकभाव मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। अत: उसका किसी भी प्रकार सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। उसके सर्वथा निषेध या गर्हा का एकमात्र फल मोक्ष को असम्भव बना देना है।

इस तरह स्पष्ट होता है कि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में साध्य-साधकभाव का निषेध करने के लिए कुछ विद्वज्जनों ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं तथा साध्य-साधकभाव की जो अन्यथा व्याख्याएँ की हैं, वे निराधार एवं आगम-विरुद्ध हैं।

निश्चयधर्म एवं व्यवहारधर्म में सुवर्णपाषाण और अग्नि के समान ही कार्यकारणात्मक साध्य-साधकभाव है, अर्थात् जैसे अग्नि के संयोग से सुवर्णपाषाण का मैल दूर हो जाता है और वह शुद्ध स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही व्यवहारधर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अवलम्बन से मिथ्यात्व और कषाय का उपशम-क्षयोपशम हो जाता है और जीव इतनी निर्मलता प्राप्त कर लेता है कि उसमें निश्चयधर्म के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाती है।[१]

सापेक्षता की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में कार्य-कारणात्मक साध्य-साधक-भाव होने से परस्परसापेक्षता सिद्ध होती है, किन्तु पूर्वोक्त विद्वद्वर्ग को व्यवहारधर्म का निश्चयधर्मसाधक होना स्वीकार्य नहीं है और संकट यह है कि परस्परसापेक्षता का वे अपलाप भी नहीं कर सकते, क्योंकि इससे निश्चयनय के मिथ्या होने का प्रसंग आता है। इसलिए उन्होंने सापेक्षत्व को तो स्वीकार कर लिया, किन्तु उसकी एक नई व्याख्या कर डाली, जो नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। अपनी व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं —

"प्रत्येक नय सापेक्ष होता है, इसका तो हमने कहीं निषेध किया ही नहीं।[२] परन्तु यहाँ पर 'सापेक्ष' का अर्थ क्या है इसे जान लेना आवश्यक है। .... निरपेक्षत्व का अर्थ है प्रत्यनीक (विरुद्ध) धर्म का निराकरण तथा सापेक्षत्व का अर्थ है उपेक्षा।[३] .... आचार्यों का यहाँ यही कहना है कि यह जितना भी पर्यायाश्रित व्यवहार है वह रागमूलक होने से मोक्षमार्ग में ऐसे व्यवहार को छुड़ाया गया है। 'छुड़ाया गया है' इसका अर्थ है 'उसमें उपेक्षा कराई गई है'। साधक व्यवहार को छोड़ता नहीं, किन्तु निश्चयप्राप्तिरूप मूल-प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसे करता हुआ भी उसमें उपेक्षा रखता है और मात्र निश्चय के विषय को आश्रय करने योग्य स्वीकार कर निरन्तर अपने उपयोग को उस दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करता रहता है। .... यदि मोक्ष की प्राप्ति होती है तो एकमात्र इसी मार्ग से होती है।"[४]

निष्कर्ष यह कि उक्त विद्वानों के अनुसार प्रतिपक्षी धर्म को 'छोड़ने योग्य' समझना ही उसके प्रति सापेक्षभाव रखना कहलाता है। इस व्याख्या के द्वारा उक्त

---

१. "अयं व्यवहारमोक्षमार्गः .... सुवर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरंग-साधको भवति।" पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६०

२. सप्तम अध्याय में उनका सापेक्षता-विरोधी कथन उद्धृत किया जा चुका है।
जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ४३६

३. "निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाविशेष-प्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च। प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपत्तेरन्यनिराकृतिश्चेति विश्वोपसंहृतिः।".
अष्टशती/देवागमकारिका, १०८

४. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८०२-८०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वानों ने यह प्रयास किया है कि निश्चय और व्यवहार में सापेक्षता भी सिद्ध हो जाय तथा व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक भी सिद्ध न हो पाये। किन्तु, अष्टशती के 'सापेक्षत्वमुपेक्षा' (प्रतिपक्षी धर्म के प्रति उपेक्षाभाव रखना सापेक्षत्व है) इस वचन की यह व्याख्या अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण एवं हास्यास्पद है। 'निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा'[१] (अर्थात् प्रतिपक्षी धर्म का निषेध करना निरपेक्षत्व है और उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना सापेक्षत्व है) इस सम्पूर्ण वाक्य पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उपेक्षा का अर्थ प्रतिपक्षी धर्म को 'छोड़ने योग्य' समझना नहीं है, अपितु उसके प्रति तटस्थ रहना है। तटस्थ रहने का अभिप्राय है न निषेध करना, न ग्रहण करना। क्योंकि नय एक ही धर्म को लेकर वस्तु की व्याख्या करता है, इसलिए प्रतिपक्षी धर्म से उसे प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु वह उसके अस्तित्व का निषेध नहीं करता, अपितु प्रतिपक्षी नय का विषय मानकर उसके विषय में मौन हो जाता है। इस प्रकार प्रतिपक्षी धर्म की मौन स्वीकृति का नाम ही उपेक्षा या सापेक्षत्व है।

'छोड़ने योग्य मानने' का अर्थ तो यहाँ घटित ही नहीं होता, क्योंकि इससे बड़े हास्यास्पद अर्थ निकलते हैं। जैसे 'नित्यत्व धर्म अनित्यत्व-सापेक्ष है' इसका अर्थ यह निकलेगा कि अनित्यत्व उपेक्षा करने योग्य है, अर्थात् छोड़ने योग्य है। तथा 'अनित्यत्व नित्यत्वसापेक्ष है' इससे यह अर्थ फलित होगा कि नित्यत्व छोड़ने योग्य है। अब ये धर्म कैसे छोड़े जा सकेंगे, यह समझ के बाहर है। इसी प्रकार व्यवहारनय निश्चय-सापेक्ष होता है। अब यदि 'सापेक्ष' शब्द से 'उपेक्षा करने योग्य' अर्थात् 'छोड़ने योग्य' अर्थ ग्रहण किया जाय तो निश्चयनय का विषयभूत शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग भी छोड़ने योग्य सिद्ध होगा। इस प्रकार सापेक्षत्व अथवा उपेक्षा शब्द की उक्त विद्वानों द्वारा की गई यह व्याख्या केवली भगवान् के उपदेश को उलट-पुलट देनेवाली है, अतः भ्रान्तिपूर्ण एवं अग्राह्य है।

आचार्य जयसेन ने स्पष्ट किया है कि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहार-मोक्षमार्ग को साध्य-साधकरूप में स्वीकार करते हुए प्राथमिक भूमिका में व्यवहार-मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर निश्चयमोक्षमार्ग के अवलम्बन की सामर्थ्य अर्जित करना, तत्पश्चात् व्यवहारमोक्षमार्ग को छोड़कर निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन करना ही दोनों को परस्परसापेक्षरूप से ग्रहण करना है। इसी प्रकार ग्रहण करने से जीव मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं।[२]

---

१. अष्टशती/देवागमकारिका, १०८

२. "तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्य-साधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षभ्यामिति वार्तिकम्। तद्यथा ये केचन विशुद्ध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय–व्यवहार की सापेक्ष उपादेयता

यत: निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग परस्पर सापेक्ष हैं, अत: अपेक्षा-भेद से दोनों उपादेय हैं। मोक्ष का परमार्थमार्ग होने से निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय है। निश्चयमोक्षमार्ग का साधक होने से व्यवहारमोक्षमार्ग उपादेय है।[1] किसी एक को सर्वथा उपादेय मानने से संसारभ्रमण और पापबन्ध ही फलित होता है। अत: जो विद्वान् यह मानते हैं कि वस्तु-व्यवस्था समझने के लिए दोनों नय कार्यकारी हैं, किन्तु साधना के लिए एक निश्चयनय ही उपादेय है[2], उनकी यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है।

ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयमोक्षमार्गनिरपेक्षं केवल-शुभानुष्ठानरूपं व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यन्ते तेन तु सुरलोकादिक्लेशपरम्परया संसारं परिभ्रमन्तीति। यदि पुन: शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गं मन्यन्ते निश्चय-मोक्षमार्गानुष्ठानशक्त्यभावान्निश्चयसाधकं शुभानुष्ठानं च कुर्वन्ति तर्हि सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं लभन्ते इति ....।"

पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १७२

१. (क) "चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयनयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति।"

समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११६-१२०

(ख) "व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूत्वादुपादेय: परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्र: .... ।"

वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१-१६३

२. मोक्षमार्ग प्रकट करने का उपाय : तत्त्वनिर्णय/पृ० २७-२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशम अध्याय

मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में साध्य-साधकभाव है, इसलिए वे परस्पर सापेक्ष हैं। वे एक-दूसरे को ठुकराकर मोक्ष उपलब्ध कराने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि व्यवहारमोक्षमार्ग का साधन मिले बिना निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि असम्भव है और निश्चयमोक्षमार्ग के बिना मोक्षप्राप्ति सम्भव नहीं है। व्यवहारमोक्षमार्ग स्वयं मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकता। इसलिए जैसे निश्चयमोक्षमार्ग स्वयं की सिद्धि के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग की अपेक्षा रखता है, वैसे ही व्यवहारमोक्षमार्ग को मोक्ष की सिद्धि के लिए निश्चयमोक्षमार्ग की अपेक्षा होती है। अतः आवश्यकतानुसार दोनों का अवलम्बन अनिवार्य होता है। कारण यह है कि जीवों में आरम्भ से ही उच्च आचरण की योग्यता नहीं होती। शक्ति के अनुसार आचरण करते हुए योग्यता को क्रमशः विकसित किया जाता है, तब उच्चाचरण की सामर्थ्य आ पाती है। प्राथमिक अवस्था में मिथ्यात्व और विषयकषायों की इतनी प्रचुरता एवं प्रबलता होती है कि वहाँ निश्चयमोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव नहीं होता, वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग का ही अवलम्बन कार्यकारी होता है। जब व्यवहारमोक्षमार्ग पर चलकर मिथ्यात्वकषायों का उपशम-क्षयोपशम करते हुए जीव उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जहाँ निश्चय-मोक्षमार्ग का अवलम्बन सम्भव होता है, वहाँ केवल निश्चयमोक्षमार्ग ही अवलम्बनीय होता है, वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग की उपयोगिता समाप्त हो जाती है, फलस्वरूप वह त्याज्य हो जाता है।[1]

अवस्थानुरूप उपाय ही कार्यकारी

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग तो उपाय हैं। उपायों का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार होता है। जहाँ जिस उपाय के प्रयोग-योग्य परिस्थिति होती है, उसी के प्रयोग से लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। जिस उपाय के प्रयोगयोग्य परिस्थिति नहीं है, उसके प्रयोग से न केवल वह विफल हो जाता है, अपितु विपरीत परिणाम भी उत्पन्न करता है। जैसे सभी ओषधियाँ किसी न किसी रोग को दूर करने का

---

१. "किं च निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः, किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः। एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७६-२७७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधन हैं, किन्तु रोगी को हर ओषधि नहीं दी जा सकती। रोग के अनुसार ही औषध देने से वह नीरोग हो सकता है तथा यदि उसे अनेक रोग हों तो उसे उस रोग की दवा पहले देनी होगी, जिसकी प्रबलता है और जिसकी चिकित्सा हो जाने पर ही अन्य रोगों की चिकित्सा सम्भव है। उसके बाद अन्य रोगों की दवा दी जा सकती है। जैसे किसी को ज्वर और निर्बलता दोनों हैं, तो उसके ज्वर की चिकित्सा पहले करनी होगी। अनन्तर निर्बलता को दूर करने के लिए पुष्टिकारी ओषधियाँ देनी होंगी। इसी क्रम से वह पूर्ण स्वस्थ हो सकता है। इसमें व्यतिक्रम कर दिया तो रोग तो न मिटेगा, रोगी मिट जायेगा।

मोक्ष की साधना भी इसी प्रकार है। इसमें राग नामक रोग को मिटाने का लक्ष्य है, क्योंकि राग का मिटना ही मोक्ष का मार्ग है। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है — "स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति।"[१] तथा आचार्य जयसेन का कथन है — "आगमः सर्वोऽपि रागपरिहारार्थम्।"[२] अर्थात् राग का अभाव होना ही मोक्षमार्ग का सार है और सम्पूर्ण आगम में रागपरिहार का ही उपदेश है। राग दो प्रकार का होता है — अशुभ और शुभ। इनको मिटाने की दो ओषधियाँ हैं — व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग। प्राथमिक अवस्था में जब अशुभराग की प्रबलता होती है तब व्यवहारमोक्षमार्ग नामक ओषधि का प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था में यही दवा कार्यकारी होती है। इस रोग में रोगी निश्चयमोक्षमार्ग की औषध सेवन करने लायक नहीं होता, जैसे ज्वर की अवस्था में व्यक्ति पुष्टिकारक पाकादि औषधियाँ सेवन करने योग्य नहीं होता। पंडित टोडरमलजी कहते हैं —

"पाकादिक औषधियाँ पुष्टिकारी हैं, परन्तु ज्वरवान् उन्हें ग्रहण करे तो अत्यधिक हानि होगी। इसी प्रकार ऊँचा धर्म बहुत भला है, परन्तु अपने विकारभाव दूर न हुए हों और उसे ग्रहण किया जाय तो महान् अनर्थ होगा। जैसे अपना अशुभ विकार तो छूटा न हो और निर्विकल्प दशा अंगीकार की जाय तो विकार की ही वृद्धि होगी। इसी प्रकार भोजनादि विषयों में आसक्ति हो और कोई आरम्भ-त्यागादि धर्म अपनाए तो हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। ऐसे ही व्यापारादि करने का विकार छूटा न हो और त्यागभेषरूप धर्मधारण किया जाय तो दोष की ही उत्पत्ति होगी।"[३]

अतः अशुभराग की अवस्था में व्यवहारमोक्षमार्गरूप औषध ही कार्यकारी

१. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा, १७२
२. प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति, ३/६७
३. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० ३०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसी प्रकार जब अशुभराग छूट जाता है, किन्तु साधक शुभराग में ही उलझ कर रह जाता है, तब निश्चयमोक्षमार्गरूप ओषधि का प्रयोग आवश्यक होता है, क्योंकि शुभरागरूप रोग का उन्मूलन इसी दवा से सम्भव है। शुभराग को शुभराग द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग एवं निश्चय-मोक्षमार्गरूप उपायों का प्रयोग साधक की स्थिति पर आश्रित है। उनमें से कोई भी निरपेक्षरूप से अर्थात् साधक की स्थिति का विचार किये बिना, हर अवस्था में प्रयोग के योग्य नहीं है। अत: स्पष्ट है कि मोक्ष की साधना एकान्तरूप नहीं है, अनेकान्तात्मक है। श्री ब्रह्मदेवसूरि का यह कथन पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है —

"प्राथमिकानां चित्तस्थिरीकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परम्परया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयं पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्म-तत्त्वमेव ध्येयं, नास्त्येकान्त:। एवं साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्त्तव्य:।"[१]

—प्राथमिक अवस्था में चित्त को स्थिर करने तथा विषयकषायजन्य दुर्ध्यान को रोकने के लिए परम्परया मुक्ति के कारणभूत अरहन्तादि पञ्चपरमेष्ठी ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर हो जाने पर साक्षात् मुक्ति का हेतुभूत निज शुद्धात्मतत्त्व ही ध्येय है इनमें से किसी एक के ही ध्येय होने का एकान्त नहीं है। इस प्रकार दोनों ध्येयविषयों में साध्य-साधकभाव जानकर ध्येय के विषय में विवाद नहीं करना चाहिए।

यहाँ सूरिजी ने 'नास्त्येकान्त:' वचन द्वारा मोक्षसाधना में एकान्तात्मकता का स्पष्ट शब्दों में निषेध कर उसके अनेकान्तात्मक होने का प्रतिपादन किया है।

आगम में पात्र-सापेक्ष उपदेश

पूर्व में निरूपित किया गया है कि मोक्ष की सिद्धि के लिए आगम में भिन्न-भिन्न भूमिका में स्थित साधकों को भिन्न-भिन्न साधनाओं के उपदेश दिए गए हैं। वे तीन हैं — केवल व्यवहारधर्म, निश्चयसहित व्यवहारधर्म तथा निश्चयधर्म। इन पर प्रकाश डालते हुए पंडित टोडरमल जी कहते हैं — "जिन जीवों को निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं हो सकता, उन मिथ्यादृष्टि जीवों को कुछ धर्म- सन्मुख होने पर श्रीगुरु व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। तथा जिन्हें निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है और उपदेश देने पर हो सकता है ऐसे सम्यग्दृष्टि एवं सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि जीवों को निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देते हैं,

---

१. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि श्रीगुरु सभी जीवों का उपकार करना चाहते हैं। किसी जीव को विशेष धर्म का साधन न होता जानकर एक आखड़ी आदि का ही उपदेश देते हैं, जैसे भील को कौए का मांस छोड़ने का उपदेश दिया, ग्वाले को नमस्कारमंत्र जपने का उपदेश दिया। किसी किसी को तीव्र कषाय का कार्य छुड़ाकर पूजाप्रभावनादि मन्दकषाय का कार्य करने का उपदेश दिया जाता है। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सम्पूर्ण कषाय न छूटते देखकर जितनी छूटे उतना ही भला होगा, ऐसी दृष्टि यहाँ रहती है। कभी-कभी नरक का भय और स्वर्ग का लोभ (जो कि कषाएँ हैं) उत्पन्न करके भी पाप छुड़ाते हैं और धर्म में लगाते हैं। इस प्रकार जैसा जीव हो वैसा उपदेश देते हैं।"[१]

इस पात्रानुसार उपदेश का औचित्य सिद्ध करते हुए पंडित जी कहते हैं —

"रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है, किन्तु शीतांग से मरण होता देखकर वैद्य रोगी को ज्वर होने का उपाय करता है और ज्वर होने के पश्चात् उसके जीने की आशा हो तो बाद में ज्वर को भी दूर करने का उपाय करता है। इसी प्रकार कषायें भी सभी हेय हैं, किन्तु किन्ही जीवों की उनसे पाप में प्रवृत्ति सम्भावित देखकर श्रीगुरु उनमें पुण्यप्रेरक कषाय जगाते हैं। पश्चात् उनमें सच्ची धर्मबुद्धि दिखाई देती है, तो उस कषाय को भी मिटाने का प्रयत्न करते हैं।"[२]

जो केवल व्यवहारधर्म में ही मग्न रहते हैं और आत्मानुभव का प्रयत्न नहीं करते उनके लिए गुरु निश्चयधर्म का उपदेश देते हैं। पंडित जी का कथन है कि "जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है। इसलिए कहीं तीव्र रागादि छुड़ाकर मन्दरागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया गया है, कहीं सर्वरागादि मिटाने के प्रयोजन की पुष्टि की गई है, परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं हैं।"[३]

स्वयोग्य धर्मग्रहण करने का उपदेश

आगम में साधक की योग्यता के अनुसार धर्मोपदेश दिया गया है और साधक को भी सोच-विचार कर स्वयोग्य धर्म ही ग्रहण करने के लिए सावधान किया गया है। इस विषय में पंडित टोडरमल जी का निम्न वक्तव्य ध्यान देने योग्य है —

"आगम में जो उपदेश दिये गये हैं उन्हें सम्यग्रूप से पहचान कर जो

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २७८-२८०
२. वही, पृ० २८१
३. वही, पृ० ३०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने योग्य हो, उसे ही अंगीकार करना चाहिए। जैसे वैद्यकशास्त्रों में अनेक ओषधियाँ बतलाई गयी हैं, उन्हें जानना तो चाहिए, किन्तु ग्रहण उसे ही करना चाहिए जिससे अपना रोग दूर हो। यदि अपने को शीत का रोग हो तो उष्ण ओषधि ग्रहण की जाय, शीतल ओषधि ग्रहण न की जाय। यह ओषधि दूसरों को लाभकारी है ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार जैनशास्त्रों में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जानना चाहिए, किन्तु ग्रहण उसे ही करना चाहिए जिससे अपना विकार दूर हो। विकार का पोषण करनेवाला उपदेश ग्रहण नहीं करना चाहिए, वह दूसरों के लिए हितकर है ऐसा समझना चाहिए। जैसे शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक। अब यदि अपने में व्यवहार की अधिकता (एकान्त व्यवहार) हो तो निश्चयपोषक उपदेश अंगीकार कर सम्यग्रूप से प्रवर्तन करना चाहिए। यदि निश्चय की अधिकता (एकान्तनिश्चय) हो तो व्यवहारपोषक उपदेश ग्रहण कर समीचीन मार्ग अपनाना चाहिए।"[१]

"विपरीत उपदेश ग्रहण करने पर हानि ही होगी। उदाहरणार्थ, कोई व्यवहारश्रद्धान (एकान्तव्यवहार के श्रद्धान) के कारण आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा हो और व्यवहार के उपदेश को ही प्रधानता देकर आत्मज्ञान का उद्यम न करे, तो संसार में ही भटकता रहेगा। इसी प्रकार कोई निश्चयश्रद्धान (एकान्तनिश्चय के श्रद्धान) के कारण वैराग्य से भ्रष्ट होकर स्वच्छन्द आचरण कर रहा हो और निश्चय के उपदेश को ही ग्रहण कर विषयकषाय का पोषण करे तो अनर्थ ही होगा।"[२] अतः स्वयोग्य धर्म के उपदेश को ग्रहण करने से ही हित होता है।

इसी तरह जब तक ऊँचा धर्म ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्पन्न न हुई हो, तब तक उसे ग्रहण न करने के लिए भी आगम में सावधान किया गया है। इस विषय में पंडित टोडरमल जी के वचन पूर्व में उद्धृत किये जा चुके हैं। स्वयोग्य धर्म ग्रहण करने का यह उपदेश साधनापद्धति की एकान्तात्मकता का निषेध करता है।

भिन्न-भिन्न भूमिका में भिन्न-भिन्न धर्म ग्राह्य

पंडित जी का कथन है — "जैसे कोई ओषधि गुणकारी है, परन्तु अपने को जब तक उससे लाभ हो, तभी तक ग्राह्य है। उसके बाद वह हानिकर होती है। उदाहरणार्थ, शीत मिट जाने पर भी कोई उष्ण ओषधि सेवन करता रहे, तो उलटकर उष्णरोग हो जायेगा। इसी प्रकार भले ही कोई क्रिया धार्मिक हो, किन्तु

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २९८-२९९
२. वही, पृ० २९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब तक उससे हित हो तभी तक ग्रहण करने योग्य है। यदि उच्च भूमिका में पहुँचने पर भी कोई निम्न भूमिका का धर्म सेवन करता रहे, तो हानि होगी। जैसे पाप मिटाने के लिए प्रतिक्रमणादि धर्मकार्यों का उपदेश दिया गया है, किन्तु आत्मानुभव होने पर उनका विकल्प किया जाय तो दोष होता है। इसीलिए समयसार में प्रतिक्रमणादि को विष कहा है। इसी प्रकार अव्रती के लिए विहित धर्मकार्यों को व्रती करे तो पापबन्ध होगा।''[1]

यह कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि आगम में भिन्न-भिन्न भूमिका में भिन्न-भिन्न धर्मग्रहण करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि साधक के लिए कोई एक ही साधना सभी भूमिकाओं में उपयुक्त नहीं है। निम्न भूमिका में निश्चयसाधना उपयुक्त नहीं है, उच्च भूमिका में व्यवहारसाधना उपयुक्त नहीं है। भिन्न-भिन्न भूमिका में भिन्न-भिन्न साधना उपयुक्त है। इससे सिद्ध है कि मोक्ष की साधना एकान्तात्मक नहीं है, अपितु अनेकान्तात्मक है।

व्यवहार की हेयोपादेयता भूमिकानुसार

आगम में व्यवहारधर्म को सभी अवस्थाओं में हेय नहीं बतलाया गया है, अपितु जब साधक निश्चयधर्म की साधना के योग्य बन जाता है, तब हेय बतलाया गया है। परमात्मप्रकाश की टीका में योगीन्दुदेव एवं उनके शिष्य प्रभाकरभट्ट के प्रश्नोत्तर द्वारा इस तथ्य को अच्छी तरह प्रकाशित किया गया है। योगीन्दुदेव कहते हैं — ''जो निश्चयनय से पाप-पुण्य को समान नहीं मानता वह संसार में भटकता हैं।'' तब शिष्य प्रभाकरभट्ट प्रश्न करता है — ''यदि ऐसी बात है, तो जो पुण्य-पाप को समान मानकर बैठ जाते हैं, उन्हें आप दोष क्यों देते हैं ?'' इस पर गुरुदेव उत्तर देते हैं — ''यदि वे शुद्धात्मानुभूतिरूप निर्विकल्प परमसमाधि प्राप्त करके ऐसा करते हैं तो उचित ही है, किन्तु यदि उस अवस्था को प्राप्त किये बिना ही गृहस्थावस्था में दान-पूजादि त्याग देते हैं, और मुनि-अवस्था में षडावश्यकादि, तो वे न श्रावक रहते हैं, न साधु। तब तो दोष देने योग्य ही हैं।''[2]

जयसेनाचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय, गाथा १७२ की टीका में ऐसा ही कहा

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० ३००-३०१

२. ''तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? भगवानाह यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव। यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्।''

परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका, २/५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पंडित टोडरमल जी ने भी इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं —

"द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म-उपदेश की प्रधानता है। वहाँ व्यवहारधर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभवनादि में लगाने हेतु व्रतशीलसंयमादिक को हीन बतलाते हैं।"[१]

इसी ग्रन्थ में पंडित जी ने अन्यत्र कहा है — "जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने वहाँ तो शुभकार्य का निषेध ही है और जहाँ अशुभोपयोग होता जाने वहाँ प्रयत्नपूर्वक शुभ को अंगीकार करना चाहिए।"[२]

श्री माइल्ल धवल का कथन है कि स्वभाव की आराधना (स्वभाव में लीन होने अर्थात् शुद्धोपयोग) के समय व्यवहार को गौण करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया है कि जैसे सरागदशा के जघन्य (निम्न), मध्यम और उत्कृष्ट भेद होते हैं, वैसे ही वीतरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं। जघन्य दशा सातवें गुणस्थान में होती है, उससे ऊपर मध्यम और उत्कृष्ट दशा है। पञ्चमकाल में सात गुणस्थान तो हो ही सकते हैं। अतः सप्तम गुणास्थान में स्वभाव की आराधना सम्भव होने से वहाँ व्यवहार को गौण किया जा सकता है।[३] श्री माइल्लधवल के भाव को सिद्धान्तचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है —

"पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में उत्तरोत्तर मन्दरूप से अशुभोपयोग होता है। चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में उत्तरोत्तर अधिकरूप में परम्परया शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग होता है। सातवें से बारहवें गुणस्थान में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से एकदेशशुद्धनयरूप शुद्धोपयोग होता है। अतः सातवें गुणस्थान में जघन्य वीतराग दशा है। इसलिए उस अवस्था में व्यवहार को गौण करने का उपदेश दिया गया है।"[४]

इन विवेचनों से स्पष्ट होता है कि व्यवहारधर्म सभी अवस्थाओं में हेय नहीं है, अपितु जब निश्चयधर्म के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाती है तब हेय है। इससे यह स्वयमेव फलित होता है कि मोक्ष की साधना एकान्तात्मक नहीं है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २८४
२. वही/सप्तम अधिकार/पृ० २०६
३. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र/गाथा ३४२, ३४४
४. वही/विशेषार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय-व्यवहार के एकान्त अवलम्बन का निषेध

मोक्षसाधना की अनेकान्तात्मकता का अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह है कि आगम में निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गों के एकान्त अवलम्बन का निषेध किया गया है और उनके परस्परसापेक्ष अर्थात् अनेकान्तात्मक अवलम्बन से ही मोक्ष की सिद्धि बतलाई गई है। यह आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित निरूपण पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है —

"वीतरागभाव ही साक्षात् मोक्ष का हेतु है। वह निश्चय और व्यवहार का अविरोधकपूर्वक (दोनों का आवश्यकतानुसार) आश्रय लेने से ही सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक जनों की बुद्धि में धर्म का स्थूल (बाह्य) रूप ही समझ में आता है और उसी के द्वारा उनकी धर्ममार्ग में प्रवृत्ति सम्भव होती है। अतः उनके लिए व्यवहारनयात्मक भिन्नसाध्य-साधनभाव[1] (स्वात्मा से भिन्न जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान एवं व्रतादि साधना) का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग में अवतरित होना सुकर होता है।[2] जैसे यह श्रद्धेय है, यह अश्रद्धेय है; यह श्रद्धान कहलाता है, यह अश्रद्धान; इसे ज्ञान कहते हैं, इसे अज्ञान; यह आचरणीय है, यह अनाचरणीय; यह चारित्र है, यह अचारित्र — इस रूप में जब वे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कारण-कार्य आदि का भेद जान लेते हैं, तब उनमें मोक्ष का उत्साह उत्पन्न होता है और व्यवहार-नयात्मक साधना (जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान एवं व्रतादि साधना) द्वारा धीरे-धीरे मोहरूपी मल्ल का उन्मूलन करते हैं। जब कभी अज्ञानजन्य प्रमाद के वशीभूत होकर आत्मधर्म शिथिल हो जाता है, तो अपने को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोर दण्डनीति अपनाते हैं। दोष के अनुसार बार-बार प्रायश्चित्त करते हैं और सतत उद्यमशील रहकर आत्मभिन्न जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान एवं व्रतादि क्रियाओं द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए उसमें थोड़ी-थोड़ी विशुद्धि लाते हैं, जैसे रजक मैले वस्त्र को शिलातल पर पछाड़कर तथा विमल जल में धोकर भिन्न-साध्य-साधनभाव द्वारा शुद्ध करता है।"[3]

---

१. साध्य और साधन का भिन्न-भिन्न होना भिन्न साध्य-साधनभाव कहलाता है। दोनों का अभिन्न होना अभिन्न साध्य-साधनभाव कहलाता है।

२. (क) "···· साक्षान्मोक्षकारणभूतपरमवीतरागत्वविश्रान्तसमस्तहृदयस्य ····। तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये, न पुन-रन्यथा। व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य-साधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, १७२

(ख) मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० २७७-२७८

३. "···· तस्यैवात्मनो भिन्नविषय-श्रद्धानज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्य-साधनभावस्य रजकशिलातल-स्फाल्यमान-विमलसलिलाप्लुत-विहिताध्व-परिष्वङ्ग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"तदनन्तर वे निश्चयनय का आश्रय लेकर भिन्नसाध्य-साधनभाव का अवलम्बन छोड़ देते हैं और स्वात्मा के दर्शन, ज्ञान और अनुभव में समाहित होकर क्रमशः परम समरसता का आस्वादन करते हुए परम वीतरागभाव को प्राप्त हो साक्षात् मोक्ष का अनुभव करते हैं।"[१]

व्यवहारैकान्त से संसार-भ्रमण — "जो निश्चयमोक्षमार्ग से निरपेक्ष होकर मात्र व्यवहारमोक्षमार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे आत्मानुभूति के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते, पुण्यों के फलस्वरूप मात्र स्वर्गादि के क्लेश भोगते हुए संसार में ही भटकते रहते हैं।"[२]

निश्चयैकान्त से केवल पापबन्ध — "जो केवल निश्चयनय का आश्रय लेते हैं, वे समस्त शुभप्रवृत्तिरूप कर्मकाण्ड को आडम्बर मानकर उससे विरक्त हो जाते हैं और नेत्रों को अर्धनिमीलित कर सुख से बैठ जाते हैं तथा ऐसा समझते हैं कि हम आत्मध्यान कर रहे हैं। वे भिन्नसाध्य-साधनभाव को हेय समझकर छोड़ देते हैं तथा अभिन्नसाध्य-साधनभाव (स्वात्मा का श्रद्धान-ज्ञान एवं अनुभवरूप साधना) को उपलब्ध नहीं कर पाते, अतः बीच में ही प्रमादरूपी (विषयकषायरूपी) मदिरा के मद से उनका चित्त निष्क्रिय हो जाता है, जिससे उनकी दशा उन्मत्त, मूर्च्छित अथवा विक्षिप्त व्यक्तियों के समान हो जाती है। वे मुनिपद की ओर ले जाने वाली शुभप्रवृत्ति का पुण्यबन्ध के भय से अवलम्बन नहीं करते और वीतरागभावरूप शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त हुई नहीं होती है, अतः प्रकट-अप्रकट प्रमाद के वशीभूत हो अशुभोपयोग के द्वारा केवल पापबन्ध ही करते हैं।[३]

मध्यस्थ होने से ही मोक्ष — निश्चय और व्यवहार दोनों में से किसी एक का ही अवलम्बन न कर दोनों में अत्यन्त मध्यस्थ होने (आवश्यकतानुसार दोनों का अवलम्बन करने) से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। मध्यस्थभाव का उदाहरण

मलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य····।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

१. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२
२. "अथ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्ते ···· सुरलोक-क्लेशादिपरम्परया सुचिरं संसार-सागरे भ्रमन्तीति।" वही
३. "येऽत्र केवलनिश्चयावलम्बिनः सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयोऽर्धमीलित-विलोचनपुटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोक्य यथासुखमासते, ते खल्ववधीरितभिन्नसाध्य-साधनभावा अभिन्नसाध्यसाधनभावमलभमाना अन्तराल एव प्रमादकादम्बरीमदभरालस-चेतसो मत्ता इव, मूर्च्छिता इव ···· केवलं पापमेव बध्नन्ति।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देते हुए आचार्य अमृचन्द्र कहते हैं — "जो साधक आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त करने में सदा तत्पर रहते हैं, किन्तु जब प्रमाद का उदय होता है तब शास्त्रविहित क्रियाकाण्ड (शुभप्रवृत्ति) द्वारा उसका निरोध करते हैं और पुनः आत्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं, वे ही शाश्वत मोक्षपद के भोक्ता होते हैं।"[1]

आचार्य अमृतचन्द्र जी के इस निरूपण से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि आगम में निश्चय और व्यवहार के एकान्त अवलम्बन का निषेध करते हुए उनके परस्परसापेक्ष या अनेकान्तरूप से (आवश्यकतानुसार दोनों के) अवलम्बन द्वारा ही मोक्ष की सिद्धि बतलाई गई है। आचार्य जयसेन ने भी ऐसा ही निरूपण किया है।[2]

सर्वथानुगम्यः स्याद्वादः

आगम में उत्सर्ग और अपवाद के एकान्त आश्रय का निषेध करके भी साधना की अनेकान्तात्मकता प्रतिपादित की गई है। उनके एकान्त आश्रय के निषेध का निरूपण आचार्य अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार की टीका[3] में किया है। उसका सार इस प्रकार है —

बाल, वृद्ध, तपःश्रान्त तथा रुग्ण मुनि के लिए भी शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम की रक्षा हेतु यथाशक्ति कठोर आचरण ही पालनीय है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है। संयम के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए यथाशक्ति मृदु आचरण ही आचरणीय है, यह अपवाद (विशेष नियम) है। परस्पर निरपेक्षरूप में ये दोनों ही अहितकर हैं।

शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम की रक्षा के लिए यथाशक्ति कठोर आचरण करते हुए संयम के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए यथाशक्ति मृदु आचरण भी आचरणीय है, यह अपवादसहित उत्सर्ग है। तथा संयम के साधनभूत शरीर की रक्षा के लिए यथाशक्ति मृदु आचरण करते हुए शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम की रक्षा के लिए यथाशक्ति कठोर आचरण भी आचरणीय है, यह उत्सर्गसापेक्ष अपवाद है।

---

१. "ये तु निश्चयव्यवहारयोरन्यतरानवलम्बनेनात्यन्तमध्यस्थीभूताः शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविश्रान्तिविरचनोन्मुखाः प्रमादोदयानुवृत्तिनिर्वर्तिकां क्रियां क्रियाकाण्ड परिणति-माहात्म्यान्निवारयन्तोऽत्यन्तमुदासीना यथाशक्त्यात्मानमात्मनात्मनि सञ्चेतयमाना नित्योपयुक्ता निवसन्ति ते खलु ···· शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतस्य भोक्तारो भवन्ति।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १७२

२. वही/तात्पर्यवृत्ति

३. प्रवचनसार, ३/३०-३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन अपवादसापेक्ष उत्सर्ग तथा उत्सर्गसापेक्ष अपवाद से ही चारित्र की रक्षा होती है। क्योंकि मृदु आचरण द्वारा थोड़ा बहुत दोष तो लगता ही है, इस भय से शरीर की चिन्ता किये बिना कठोर आचरण ही किया गया, तो शरीर के नष्ट हो जाने पर पूर्वकृत् पुण्यों से स्वर्ग प्राप्त होगा। वहाँ संयम सम्भव न होने से और भी अधिक दोष लगेगा। अत: अधिक दोष की अपेक्षा अल्पदोष वाला अपवादसापेक्ष उत्सर्ग ही श्रेयस्कर है।[1] तथा मृदु आचरण द्वारा अल्पदोष ही तो लगता है, ऐसा सोचकर स्वच्छन्दरूप से मृदु आचरण किया गया, तो इस लोक में ही संयम का विनाश हो जायेगा, जिससे महान् दोष लगेगा। अत: उत्सर्गसापेक्ष अपवाद ही श्रेयस्कर है। फलस्वरूप उत्सर्ग और अपवाद के परस्परविरोध (एकान्त अनुगमन) से होने वाली चारित्र की हानि का निवारण करना चाहिए। इसी हेतु उत्सर्ग और अपवाद की परस्परसापेक्षता से सिद्ध स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य है —

"अत: सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः।"[2]

तात्पर्य यह है कि साधना में स्याद्वाद या अनेकान्त का अनुसरण करने से ही चारित्र की रक्षा होती है।[3]

उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना[4]

"सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग की सिद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के अधीन है" आचार्य अमृतचन्द्र जी के ये वचन उच्चस्वर में साधना की अनेकान्तात्मकता का उद्घोष करते हैं।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मोक्ष की साधना अनेकान्तात्मक नहीं है, वह केवल निश्चयनयाश्रित है, व्यवहारनय तो साधना की अपेक्षा सर्वत्र हेय ही है। यह मान्यता कितनी आगमविरुद्ध है, यह उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित हो जाता है। "सर्वथानुगम्यः स्याद्वादः", "उभयनयायत्ता तीर्थप्रवर्तना" तथा "नास्त्येकान्तः"[5] इन तीन आप्तवचनों से ही यह मान्यता असत् सिद्ध हो जाती है।

पंडित टोडरमल जी का कथन है — "सर्व जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है

---

१. "अल्पलेपं बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति।" प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ३/३१
२. वही/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति ३/३१
३. "अथ निश्चयव्यवहारसंज्ञयोरुत्सर्गापवादयोः कथंचित्परस्परसापेक्षभावं स्थापयन् चारित्रस्य रक्षां दर्शयति।" वही/तात्पर्यवृत्ति ३/३१
४. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १५९
५. परमात्मप्रकाश/ब्रह्मदेवटीका २/३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और स्यात् पद का अर्थ 'कथंचित्' है। इसलिए जो उपदेश दिया गया हो उसे सर्वथा नहीं जान लेना चाहिए। उपदेश के अर्थ को जानकर यह विचार करना चाहिए कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजनसहित है, किस जीव को कार्यकारी है ? यह सब विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण किया जाय, पश्चात् अपनी दशा देखकर जो उपदेश जिस प्रकार अपने को कार्यकारी हो, उसे उसी प्रकार अंगीकार किया जाय और जो उपदेश जानने योग्य हो, उसे यथार्थ जान लिया जाय। इस प्रकार उपदेश के फल को प्राप्त करना चाहिए।[१] स्यात्पद की सापेक्षता-सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिन वचनों में रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।''[२]

समयसार के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार पंडित जयचन्द्र जी कहते हैं —

"व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है। इससे यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे, तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़ देगा और चूँकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं है, इसलिए उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर भ्रष्ट होगा। इससे वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करेगा, तब नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भटकेगा, इसलिये साक्षात् शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न हो, तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है, ऐसा स्याद्वादमत में श्रीगुरुओं का उपदेश है।''[३]

इन वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि साधना के विषय में भगवान् का उपदेश एकान्तात्मक नहीं है, अपितु स्याद्वादात्मक या अनेकान्तात्मक है। जब साधना का उपदेश ही अनेकान्तात्मक है, तब साधना अनेकान्तात्मक कैसे न होगी ?

दोनों नयों की सापेक्ष उपादेयता का कथन

यह मान्यता समीचीन नहीं है कि साधना की दृष्टि से व्यवहारनय सर्वत्र हेय है, क्योंकि आगम में उसे साधना की दृष्टि से कथंचित् उपादेय बतलाया गया है। आचार्य जयसेन कहते हैं —

"चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयनयेनोपादेयं भेदरत्नत्रय-स्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद् व्यवहारेणोपादेयमिति।''[४]

— चिदानन्दैकस्वभाव निज शुद्धात्मा ही शुद्धनिश्चयनय से उपादेय है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/आठवाँ अधिकार/पृ० ३०१
२. वही, पृ० ३०५
३. समयसार/भावार्थ/गाथा १२
४. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११६-१२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेदरत्नत्रय भी उपादेय है, किन्तु अभेदरत्नत्रय का साधक होने से व्यवहारनय से उपादेय है।

"व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रः....।"[१]

— उपादेयभूत निश्चयरत्नत्रय का कारण होने से व्यवहारमोक्षमार्ग उपादेय है तथा परम्परया जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में निश्चयमोक्षमार्ग को निश्चयनय से तथा व्यवहारमोक्षमार्ग को व्यवहारनय से उपादेय निरूपित किया गया है। इस विषय में यहाँ सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी का निम्न वक्तव्य उल्लेखनीय है —

"यदि शुभोपयोग सर्वथा हेय होता तो आचार्य अमृतचन्द्र श्रावकाचार की रचना न करते और न उसे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नाम देते। श्रावक का आचार भी पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि का उपाय है, अन्यथा धर्म के श्रावकधर्म और मुनिधर्म दो भेद नहीं होते।"[२]

ये शब्द अत्यन्त मार्मिकता से व्यवहारनय की आपेक्षिक उपादेयता को अनावृत करते हैं। यह बात गम्भीरता से विचारणीय है कि व्यवहारमोक्षमार्ग का उपदेश वीतराग सर्वज्ञ ने दिया है, किसी साधारण मनुष्य ने नहीं। यदि वह सर्वथा हेय (छोड़ने योग्य) होता, तो तीर्थङ्कर परमदेव उसे निश्चयमोक्षमार्ग का साधक बतलाकर विशेष परिस्थितियों में उपादेय (ग्रहण करने योग्य) न बतलाते। आगम में निश्चय और व्यवहार दोनों की इस सापेक्ष उपादेयता के वर्णन से मोक्षसाधना की अनेकान्तात्मकता सूचित होती है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि यद्यपि निश्चयधर्म ही मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि उसमें शुभाशुभ दोनों प्रकार की राग-प्रवृत्ति का अभाव होता है, जो शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के संवर और निर्जरा का कारण है, तथापि उसका एकान्तरूप से अवलम्बन सम्भव नहीं है। कारण यह है कि विषयकषायों की तीव्रता से युक्त प्राथमिक भूमिका में जीव शुभ और अशुभ दोनों रागों से निवृत्त होकर निर्विकल्पसमाधि में स्थित नहीं हो सकता। इस अवस्था में शुभप्रवृत्ति अर्थात् व्यवहारधर्म के आश्रय द्वारा केवल अशुभराग की निवृत्ति की जा सकती है, जिससे साधक में निश्चयधर्म की साधना के योग्य क्षमता का आविर्भाव होता है। उसके आविर्भूत होने पर निश्चयधर्म के अवलम्बन द्वारा शुभराग की भी निवृत्ति सम्भव

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १६१-१६३
२. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र/प्रस्तावना/पृ० ४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है। इस निश्चयधर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए जीव समस्त कर्मों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। निश्चयधर्म के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाने पर व्यवहारधर्म कार्यकारी नहीं होता। इस तरह निम्न भूमिका में निश्चयधर्म अवलम्बनयोग्य नहीं होता और उच्च भूमिका में व्यवहारधर्म अवलम्बनीय नहीं है। निम्न भूमिका में निश्चयसापेक्ष व्यवहारधर्म तथा उच्च भूमिका में व्यवहारसापेक्ष निश्चयधर्म के अवलम्बन से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। अतः मोक्ष की साधना अनेकान्तात्मक है।

अनेकान्तात्मकता की मनोवैज्ञानिक भित्ति

साधना की अनेकान्तात्मकता मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आश्रित है। वह भित्ति है साधक की सामर्थ्य। मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक में जिस समय जितनी साधनासामर्थ्य होती है, उतनी ही साधना का विधान जिनेन्द्रदेव ने किया है। इस कारण उसमें दो मार्ग बन गए हैं : व्यवहार और निश्चय। यही उसकी अनेकान्तात्मकता का हेतु है। इस अनेकान्तात्मकता का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। उल्लंघन का तात्पर्य है मोक्ष को असम्भव बना देना। इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्र के ये वचन स्मरणीय हैं —

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानान्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ।।[1]

— आत्मानुभूति (शुद्धोपयोग) से विमुख होकर जो केवल कर्मकाण्ड को ही मोक्षमार्ग समझते हैं और उसमें उलझे रहते हैं, वे भी भवसागर में डूब जाते हैं और जो एकमात्र आत्मानुभूति को ही उपादेय समझकर उसे प्राप्त किये बिना ही बाह्य कर्मकाण्ड को त्याग देते हैं और स्वच्छन्द होकर प्रमादी बन जाते हैं, वे भी डूब जाते हैं। भवसागर के ऊपर वही तैरते हैं, जो आत्मानुभूति के योग्य बनकर, उसमें स्थित होकर कर्मकाण्ड से विरत होते हैं तथा आत्मानुभूति के अभाव में उसका अवलम्बन लेकर प्रमाद के वशीभूत नहीं होते।

इस कलश का भावार्थ पूज्य आचार्य विद्यासागर जी ने निम्नलिखित पद्य में बड़े सुन्दर शब्दों में निबद्ध किया है —

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे ।

१. समयसार/कलश १११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चय शैल रहे,
आत्मज्ञान में लीन किन्तु मुनि तीन लोक पै तैर रहे ।।[1]

अर्थात् साधना में अनेकान्त के उल्लंघन से एकान्तव्यवहारावलम्बी भी भवसागर में ही गोते लगाते रहते हैं और एकान्तनिश्चयावलम्बी भी। निश्चय और व्यवहार दोनों का अनेकान्तरूप से (आवश्यकतानुसार) अवलम्बन करने पर ही साधक भवसागर से पार होता है।

संक्षेप में, निश्चयमोक्षमार्ग मोक्ष का साधक है और व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है। निश्चयमोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती और व्यवहारमोक्षमार्ग के बिना निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि असम्भव है। अतः दोनों ही मोक्षसिद्धि के उपाय हैं।

---

१. निजामृतपान, १२/१११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकादश अध्याय

उपादाननिमित्तविषयक मिथ्याधारणाएँ

पूर्वचर्चित पण्डितवर्ग ने निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को या तो सम्यग्रूप से ग्रहण नहीं किया अथवा उसे जानबूझकर तोड़ा-मरोड़ा है और उसे ही समीचीन बतलाते हुए अनेक विषयों की आगमविरुद्ध व्याख्याएँ की हैं। उनमें से एक है — उपादान और निमित्त।

जैसा कि पूर्व में निर्देश किया गया है, जो वस्तु स्वयं कार्यरूप में परिणत होती है वह उपादान कहलाती है और जो उसके परिणमन में बाह्यतः सहायक होती है वह निमित्त। जैसे मिट्टी स्वयं घटरूप में परिणत होती है इसलिए वह घट का उपादान कारण है और कुम्भकार उसके घटरूप-परिणमन में बाह्यतः सहायक होता है, अतः घट का निमित्त कारण है।

इस प्रकार निमित्त एक वास्तविकता है, किन्तु कथित पण्डितवर्ग ने उसके विषय में अनेक मिथ्या धारणाएँ प्रचलित की हैं। उनके मिथ्यात्व का प्रदर्शन इस अध्याय का विषय है।

पहली मिथ्या धारणा यह फैलाई गई है कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तु के कार्य का वास्तव में निमित्त नहीं होती, अपितु उसे उपचार से निमित्त कहा जाता है। वे कहते हैं —

"एक वस्तु के कार्य का दूसरी वस्तु को निमित्तकर्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान उपचरितवचन ही है।"[१]

"एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य में सहायतारूप व्यापार करता है, यह कथन-मात्र है। प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना व्यापार स्वयं करता है, पर उनके एक साथ होने का नियम है। मात्र इसलिए वहाँ उपादान से भिन्न दूसरे द्रव्य के कार्य में निमित्त-व्यवहार किया जाता है।"[२]

यह धारणा कितनी मिथ्या है, इसका बोध निम्नलिखित युक्तियों और आर्ष-वचनों से भलीभाँति हो जाता है।

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १/पृ० ८३८
२. वही/भाग २/पृ० ८३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरोप वास्तविक धर्म का ही किया जाता है

एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप उपचार कहलाता है। उपचार के नियम के अनुसार किसी वस्तु पर उसी धर्म का आरोप किया जा सकता है जो अन्यत्र प्रसिद्ध हो, अर्थात् जिसकी किसी न किसी वस्तु में वास्तव में सत्ता पायी जाय। जिस धर्म की लोक में सत्ता ही न हो उसका आरोप उपचार नहीं कहलाता, जैसा कि भट्ट अकलंकदेव का कथन है —

"सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिंहे .... अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिंहोपचारः क्रियते। न च तथेह मुख्यं प्रमाणमस्ति। तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते।"[1]

— लोक में मुख्य वस्तु के होने पर ही उसका अन्यत्र उपचार देखा जाता है, जैसे सिंह वास्तव में होता है, इसीलिए क्रौर्यशौर्यादिगुणों की समानता के कारण किसी बालक में सिंहत्व का उपचार किया जाता है। किन्तु यहाँ तो मुख्यवस्तुभूत प्रमाण की ही सत्ता नहीं है, इसलिए उसके फल में प्रमाणत्व का उपचार उपपन्न नहीं होता।

धवलाकार ने भी कहा है, "ण चोवयारेण दंसणावरणणिद्देसो, मुहियस्सा-भावे उवयाराणुववत्तीदो"[2] अर्थात् (दर्शन गुण को अस्वीकार करने पर) यह भी नहीं कहा जा सकता कि दर्शनावरण का निर्देश केवल उपचार से किया गया है, क्योंकि मुख्य वस्तु के अभाव में उपचार की उपपत्ति नहीं होती (अर्थात् यदि दर्शनावरण वास्तव में न हो तो उसका अन्यत्र उपचार सम्भव नहीं है)।

उक्त पंडितजन स्वयं स्वीकार करते हैं कि "जो धर्म लोक में पाया जाता है, उसी का एक द्रव्य के आश्रय से दूसरे द्रव्य पर आरोप किया जा सकता है। जिस धर्म का सर्वथा अभाव होता है, उसका किसी पर आरोप करना भी नहीं बनता। उदाहरणार्थ, लोक में बन्ध्यासुत या आकाशकुसुम नहीं पाये जाते, अतः उनका किसी पर आरोप भी नहीं किया जा सकता।"[3]

उपचार के इस नियम से सिद्ध है कि यदि एक वस्तु को दूसरी वस्तु के कार्य का उपचार से निमित्त कहा जाता है, तो लोक में कहीं न कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु के कार्य का निमित्त वास्तव में होती है, तभी तो उसके निमित्तरूप धर्म का कहीं और उपचार करना सम्भव होता है। लोक में निमित्त की मुख्यरूप से सत्ता

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक/अध्याय १/सूत्र १२
२. धवला/पुस्तक ७/खण्ड २/भाग १/सूत्र ५६
३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ४९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न हो, तो उसका अन्यत्र उपचार भी उपपन्न न होगा। घृत की मुख्यरूप से (वास्तव में) सत्ता होती है, तभी तो उसका मिट्टी पर आरोप कर मृत्कुम्भ को घृतकुम्भ कहा जाता है। यदि लोक में घी का अस्तित्व न हो, तो क्या किसी घड़े को घी का घड़ा कहा जा सकता है ?

इस प्रकार उक्त पण्डितजन उपचार के इस नियम को स्वीकार कर स्वयं ही निमित्त को सर्वथा असत्य मानने की अपनी धारणा मिथ्या सिद्ध कर देते हैं।

निमित्त के उपचार का कोई प्रयोजन नहीं

उपचार का दूसरा नियम यह है कि वह किसी प्रयोजन से किया जाता है। प्रयोजन के अभाव में उपचार की प्रवृत्ति नहीं होती। अब प्रश्न है कि जो वस्तु निमित्त नहीं है, उसे उपचार से निमित्त कहने का क्या प्रयोजन है ? उक्त पंडितवर्ग का कथन है कि मात्र एक साथ होने के नियम के कारण उपादान से भिन्न पदार्थ को उपचार से निमित्त कहा जाता है। यहाँ प्रश्न है कि जो पदार्थ केवल साथ रहता है, कुछ सहायता नहीं करता उसे सहचर कहा जाना चाहिए, उसमें कारणवाचक 'निमित्त' संज्ञा का उपचार किस प्रयोजन से किया जाता है ? विचार करने पर कोई भी प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। इसलिए पंडितजनों का यह कथन अयुक्तिसंगत ठहरता है कि मात्र एक साथ होने के नियम के कारण उपादान से भिन्न पदार्थ में निमित्त-भाव का उपचार किया जाता है।

आगम में कहीं भी किसी पदार्थ को उपचार से निमित्त नहीं कहा गया है, जो मुख्यत: निमित्त है उसी के लिए 'निमित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि अनिमित्त को निमित्त कहने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसा है तो आगम में 'कुम्भकार व्यवहारनय से घट का निमित्त है' अथवा 'धर्मद्रव्य व्यवहारनय से जीव और पुद्गल की गति का निमित्त है'[1] ऐसा क्यों कहा गया है ? समाधान यह है कि निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भिन्न वस्तुओं में होता है, अत: भिन्नवस्तुसम्बन्ध की दिशा से अवलोकन करनेवाले व्यवहारनय से ही वह अनुभव में आता है। यही दर्शाने के लिए कुम्भकारादि को व्यवहारनय से घटादि का निमित्त कहा गया है, अनिमित्त में निमित्त का उपचार करने के कारण नहीं। व्यवहारनय का विषय होने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन उपचार से किया जाता है, अत: असत्य है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा गया है —

---

१. "न तौ तयोर्मुख्यहेतू, किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ।"

पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्य-नवद्यत्वात्।"[१]

—व्यवहारनय के आश्रय से परामर्श करने पर दो पदार्थों में रहनेवाला कार्यकारणसम्बन्ध (निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध) संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों के समान अनुभव में आता है। अतः अनुभवसिद्ध होने से पारमार्थिक ही है, कल्पना-रोपित नहीं।

प्रयोजनवश कर्तृकर्मत्व का उपचार

सार यह है कि आगम में जहाँ-जहाँ भिन्न पदार्थों में निमित्तनैमित्तिक भाव बतलाया गया है, वहाँ-वहाँ मुख्यरूप से होने के कारण ही बतलाया गया है, उपचार नहीं किया गया है। हाँ, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के कारण निमित्त-नैमित्तिकभूत पदार्थों में प्रयोजनवश कर्त्ता-कर्मभाव का उपचार किया गया है, जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है —

"एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्टः। ततः संसारः तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः।"[२]

—यद्यपि आत्मा और कर्म में कर्तृकर्मभाव नहीं है, तथापि निमित्तनैमित्तिक-भाव होने से दोनों का परस्पर बन्ध होता है, जो संसार का कारण है। इसीलिए उनमें कर्त्ता-कर्म का व्यवहार (उपचार) होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्थित होता है कि 'निमित्त' संज्ञा औपचारिक नहीं है, यथार्थ है। हाँ निमित्तभूत पदार्थ के लिए 'कर्त्ता' संज्ञा औपचारिक है।

निमित्तभाव स्वभावगत

द्रव्य के स्वभाव का अथवा उसके कार्य (व्यापार) के स्वभाव का अन्य द्रव्य की कार्योत्पत्ति सम्भव हो सकने के अनुकूल होना ही निमित्तभाव है, जैसे कुम्भकार के घटोत्पत्ति के अनुकूल होनेवाले शारीरिक और मानसिक व्यापार में घट के प्रति निमित्तभाव है।[३] अतः निमित्तभाव द्रव्य के स्वभाव में अथवा उसके कार्य के स्वभाव में विद्यमान होता है। धर्मद्रव्य के स्वभाव में जीव और पुद्गल की गति के प्रति निमित्तभाव विद्यमान है, अधर्मद्रव्य के स्वभाव में उनकी स्थिति के प्रति निमित्तभाव है, आकाशद्रव्य के स्वभाव में समस्त द्रव्यों का अवगाहनहेतुत्व मौजूद

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक/अध्याय १/सूत्र ७/पृ० १५१
२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ३१२-३१३
३. "कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः ….।" वही/आत्मख्याति/गाथा ८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ज्ञानावरण कर्म के उदय में जीव का ज्ञान आवृत होने का निमित्तभाव है, दर्शनावरण के उदय में दर्शन के आवृत होने का, दर्शनमोहनीय के उदय में श्रद्धा के विपरीत दिशा में जाने का और चारित्रमोहनीय के उदय में चारित्र के मोहित होने का निमित्तभाव है। जीव के शुभाशुभभावों में पुद्गल के कर्मरूप से परिणमित होने के अनुकूल स्वभाव है तथा शुद्धभाव में कर्मों के संवर, निर्जरा और मोक्षरूप से परिणमित होने के अनुकूल स्वभाव की सत्ता है।

जब (जिस काल में) किसी द्रव्य को अपनी कार्योत्पत्ति के अनुकूल स्वभाववाले द्रव्य का सम्पर्क प्राप्त होता है, तब वह स्वकार्यरूप में परिणमित होता है। अत: पूर्वोक्त विद्वज्जनों का यह कथन ठीक है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य में सहायतारूप व्यापार नहीं करता। इसकी आवश्यकता ही नहीं है। पदार्थों के स्वभाव में निमित्तभाव रहने के कारण अनुकूल पदार्थ का संयोग होने पर यह अपने आप होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है —

"जीव के परिणामों का हेतु मिलने पर पुद्गल द्रव्य (स्वयमेव) कर्मरूप से परिणमित हो जाता है और पुद्गलकर्मों का निमित्त प्राप्त होने पर जीव भी स्वत: शुभाशुभभावरूप से परिणमन करने लगता है।"[१]

यदि निमित्तभूत पदार्थ का स्वभाव ऐसा न हो कि उससे उपादान की कार्यसामर्थ्य का अवरोध दूर हो सके, तो उसे निमित्त ही नहीं कहा जा सकता। मात्र रस्म-अदायगी के लिए तो किसी को निमित्त नाम दिया नहीं जाता है। अष्टसहस्री में कहा गया है —

"तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्।"[२]

आशय यह है कि कार्योत्पादन-क्षमता होते हुए भी, यदि अनुकूल परिस्थिति का अभाव हो तो उपादान कार्योत्पत्ति में असमर्थ रहता है। उस असामर्थ्य को दूर न करते हुए यदि सहकारी कारण (निमित्त) अकिञ्चित्कर बना रहता है, तो क्या वह सहकारी कारण कहला सकता है ?

इस कथन से यही बात पुष्ट होती है कि निमित्तभूत पदार्थ के स्वभाव में ही वह धर्म होता है, जिससे उपादान की कार्य-परिणति में बाधक तत्त्व समाप्त हो जाता है और अनुकूल परिस्थिति निर्मित हो जाती है।

---

१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।। समयसार/गाथा ८०

२. अष्टसहस्री, पृ० १०५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्त के बिना कार्य असम्भव

धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गल की गति-परिणति असम्भव है, अधर्म-द्रव्य के बिना स्थिति-परिणाम असम्भव है, आकाश के बिना द्रव्यों का अवगाहन सम्भव नहीं है, काल के अभाव में वर्तना नहीं हो सकती, कर्मोदय के अभाव में जीव के मोहरागादि परिणाम असम्भव हैं। मिथ्यात्वकषाय के अभाव में कर्मबन्ध सम्भव नहीं है। शुद्धोपयोग न होने पर संवर-निर्जरा-मोक्ष असम्भव हैं। कुम्भकार के घटसम्भवानुकूल योगोपयोग के बिना घटोत्पत्ति का अभाव निश्चित है।

भट्ट अकलंकदेव ने निम्नलिखित व्याख्यान में जोर देकर कहा है कि निमित्त के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती —

"इस लोक में कोई भी कार्य अनेक कारणों से सिद्ध होने योग्य देखा जाता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड घटकार्यरूप परिणमन करने में आभ्यन्तर सामर्थ्य रखते हुए भी कुम्हार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, आकाश आदि अनेक बाह्य उपकरणों की अपेक्षा रखता है और उनके होने पर ही घटपर्याय के रूप में आविर्भूत होता है। कुम्हार आदि बाह्य साधनों के सन्निधान के बिना अकेला मृत्पिण्ड घटरूप से उत्पन्न होने में समर्थ नहीं है।"[1]

"आत्मात्मना रागादीनामकारक एव। .... परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभाव-निमित्तमस्तु"[2]— आत्मा स्वयं तो रागादि भावों का अकर्त्ता ही है। परद्रव्य ही रागादिभावों की उत्पत्ति का निमित्त है। यह कथन भी इस तथ्य को रेखांकित करता है कि पुद्गलकर्मरूप निमित्त के अभाव में रागादिरूप कार्य की उत्पत्ति असम्भव है।

अन्वयव्यतिरेक की अपेक्षा 'निमित्त' संज्ञा

यतः निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति असम्भव है, इसलिए निमित्त उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में कार्य का सद्भाव होता है और अभाव में कार्य का अभाव। 'निमित्त' शब्द कारण का पर्यावाची है[3] और श्री वीरसेनाचार्य ने प्रत्याख्यानावरणादि

---

१. "इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टं, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः, बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदक-कालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति। नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः।" तत्त्वार्थवार्तिक/अध्याय ५/सूत्र १७

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा २८३-२८५

३. "को भवः ? आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः। प्रत्ययः कारणं निमित्त-मित्यनार्थन्तरम्।" सर्वार्थसिद्धि/अध्याय १/सूत्र २१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायों के बन्धप्रत्यय का निर्णय करते हुए कारण (प्रत्यय, निमित्त) का यही लक्षण बतलाया है —

"जस्सण्णय-वदिरेगेहि जस्सण्णयवदिरेगा होंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं।"[1]

— जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ जिसका अन्वय और व्यतिरेक होता है, वह उसका कार्य होता है और दूसरा कारण।

जैसे प्रत्याख्यानावरण कषाय का बन्ध स्वयं के उदय में ही होता है और स्वयं के उदयाभाव में बन्ध का अभाव देखा जाता है, इसलिए प्रत्याख्यानवरण कषाय का उदय ही अपने बन्ध का कारण सिद्ध होता है।[2] इसी प्रकार कुम्भकार के योगोपयोग के सद्भाव में ही मिट्टी घटरूप से परिणमित होती है और अभाव में नहीं होती, इस कारण कुम्भकार घट का निमित्त ठहरता है। तथा कर्मोदय के सद्भाव में ही रागादिभावों का सद्भाव होता है और अभाव में रागादि का अभाव। अत: सिद्ध होता है कि कर्मोदय ही रागादिभावों की उत्पत्ति का निमित्त है।

इसलिए पूर्वचर्चित विद्वानों का यह कथन समीचीन नहीं है कि कार्योत्पत्ति के काल में उपादान के साथ रहने का नियम होने मात्र से सहचर द्रव्य को निमित्त संज्ञा दी जाती है।[3] वास्तविकता यह है कि सहचर द्रव्य के अन्वय-व्यतिरेक के साथ कार्योत्पत्ति का अन्वय-व्यतिरेक होता है, इस कारण उसे निमित्त संज्ञा दी जाती है।

कालप्रत्यासत्ति का अभिप्राय

न्यायग्रन्थों में सहकारी कारण (निमित्त) और कार्य की कालप्रत्यासत्ति को अर्थात् पूर्वापरतारूप कालात्मक निकटता को उनमें कारणकार्यभाव घटित होने का हेतु बतलाया गया है। किन्तु पूर्व चर्चित विद्वानों ने दो द्रव्यों के एक साथ होने के नियम को कालप्रत्यासत्ति कहकर मात्र साथ रहने के कारण उपादानेतर पदार्थ को निमित्त शब्द से अभिहित किया जाना बतलाया है। कालप्रत्यासत्ति का यह अभिप्राय कितना गलत है, यह आचार्य विद्यानन्द स्वामी के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है —

"सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्य-

---

१. धवला/पुस्तक ८/सूत्र २०/पृ० ५१

२. "ण चेदं पच्चक्खाणोदयं मुच्चा अण्णत्थत्थि तम्हा पच्चक्खाणोदओ चेव पच्चओ त्ति सिद्धं।" वही

३. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति प्रतीतम् ।"[1]

—कोई यह प्रश्न करे कि सहकारी कारण (निमित्त) और कार्य में एकद्रव्यप्रत्यासत्ति (द्रव्यात्मक अभेदरूप निकटता) नहीं है, तब उनमें कारणकार्यभाव कैसे घटित हो सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि उनमें कालप्रत्यासत्ति होती है, उससे घटित होता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि जिसके पश्चात् जो अवश्य होता है वह उसका सहकारी कारण होता है और दूसरा कार्य।

यहाँ कारण और कार्य की नियमित पूर्वापरता को ही कालप्रत्यासत्ति कहा गया है। इसी से अन्वय-व्यतिरेक घटित होता है, क्योंकि जहाँ कारण-कार्य की नियमित पूर्वापरता होती है, वहाँ कारण के सद्भाव में ही कार्य का सद्भाव होता है और कारण के अभाव में कार्य का अभाव। अतः सहकारी कारण और कार्य का अन्वय-व्यतिरेक ही निमित्त-नैमित्तिक संज्ञा का हेतु है।

अन्य वस्तु में कोई धर्म उत्पन्न करना निमित्त का लक्षण नहीं

कथित विद्वान् निमित्त को असत्य सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते हैं कि क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई धर्म उत्पन्न कर सकता है ? यदि नहीं तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का निमित्त कैसे बन सकता है ? इस बात को वे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं — "क्या एक वस्तु के कार्य का कारण-धर्म दूसरी वस्तु में रह सकता है ?"[2]

ऐसा कहते हुए उक्त विद्वान् यह भूल जाते हैं कि दूसरे द्रव्य में अपने भीतर से कोई धर्म उत्पन्न करना निमित्त का लक्षण नहीं है, अपितु दूसरे द्रव्य से स्वतः उत्पन्न होने वाले धर्म (कार्य) की उत्पत्ति में बाह्य सहायक मात्र बनना निमित्त का लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि न तो जीव अपने में से पुद्गल के धर्म को उत्पन्न करता है, न पुद्गल अपने में से जीव के धर्म को, तथापि एक-दूसरे के निमित्त से ही वे अपना-अपना धर्म उत्पन्न करते हैं।[3] कारण यह है कि द्रव्य में स्वकार्योत्पत्ति की शक्ति रहते हुए भी, यदि बाह्य स्थिति उसकी उत्पत्ति के अनुकूल होती है, तभी वह उत्पन्न हो पाता है। बाह्य स्थिति के

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक/अध्याय १/सूत्र ७/पृ० १५१
२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८३८
३. (क) समयसार/गाथा ८०-८१
   (ख) "निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वाद् इतरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः।" वही/आत्मख्याति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिकूल होने पर उत्पत्ति असम्भव हो जाती है। यह अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति अन्य द्रव्य के जिस परिणाम से उत्पन्न होती है, उसे ही निमित्त नाम दिया जाता है। जैसे आत्मा के सम्यग्दर्शन-धर्म की अभिव्यक्ति में रोड़ा अटकाने वाली बाह्य-स्थिति दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय द्वारा निर्मित होती है, और उस रोड़े को स्वपौरुष से हटाने में सहायक बाह्य-स्थिति का निर्माण समीचीन देवशास्त्र-गुरु के उपदेश से होता है, अतः ये दोनों 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कोई द्रव्य अपने में से दूसरे द्रव्य का धर्म उत्पन्न किये बिना, उस द्रव्य से ही उत्पन्न हो सकने वाले धर्म की उत्पत्ति में साधक या बाधक स्थिति का हेतु बनता है। यही निमित्त का लक्षण है।

निश्चय से निषेध का अर्थ सर्वथा निषेध नहीं

निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त पण्डितगण यह तर्क देते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पर के साथ निश्चयनय से कारकात्मक सम्बन्ध का निषेध किया है।[1] किन्तु वे भूल जाते हैं कि निश्चयनय से निषेध का अर्थ सर्वथा निषेध नहीं है, उसमें कथंचित् (व्यवहारनय की अपेक्षा) अनिषेध भी गर्भित है। वास्तविकता यह है कि जैसे अभिन्न या स्वद्रव्याश्रित हेतु मुख्य हेतु है और भिन्न या परद्रव्याश्रित हेतु सहकारी या गौण[2], इसी प्रकार अभिन्नकारक मुख्यकारक है और भिन्नकारक सहकारी या गौण। निश्चयनय 'मुख्य' की दिशा से निर्णय करता है, इसलिए उसके द्वारा देखने पर मुख्य कारक का ही अस्तित्व दिखाई देता है, सहकारी कारक दृष्टि में नहीं आता। इस कारण निश्चयनय की अपेक्षा परद्रव्याश्रित कारक के अस्तित्व का निषेध किया गया है। किन्तु, व्यवहारनय से देखने पर पर-द्रव्याश्रित अमुख्य कारक का अस्तित्व अनुभव में आता है, इसलिए व्यवहारनय की अपेक्षा निषेध नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध नहीं है, इसलिए जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त बनने पर ही दोनों के परिणामों की उत्पत्ति होती है।[3] तथा उन्होंने जोर देकर कहा है कि आत्मा के रागादिरूप परिणमन में परद्रव्य का संग ही निमित्त है, क्योंकि जैसे सूर्यकान्तमणि स्वयं अग्नि-रूप-परिणमित नहीं होता (सूर्य के निमित्त से ही परिणमित होता है), वैसे ही

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८३९ तथा प्रवचनसार/तत्त्वदीपिका १/१६
२. "न तौ (धर्माधर्मौ) तयोः (गतिस्थित्योः) मुख्यहेतू, किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ।" पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा ८९
३. "निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः।" समयसार/आत्मख्याति/सूत्र ८०-८१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा स्वयं रागादिरूप-परिणमित नहीं होता। यह वस्तु का स्वभाव है।[1]

द्विक्रियाकारिता का प्रसंग नहीं

कथित पंडितजनों का मत है कि कार्योत्पत्ति में निमित्त का प्रभाव मानने से द्विक्रियाकारिता (एक द्रव्य द्वारा दो द्रव्यों की क्रियाएँ किये जाने) का प्रसंग आता है।[2] किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार एक द्रव्य द्वारा उपादानरूप से दो द्रव्यों की क्रियाएँ किये जाने को द्विक्रियाकारिता कहते हैं।[3] स्वयं की क्रिया को उपादानरूप से करने तथा अन्य द्रव्य की क्रिया में निमित्तमात्र बनने को उन्होंने द्विक्रियाकारिता नहीं कहा। जैसा कि कहा जा चुका है, आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं कि जीव और पुद्गल एक-दूसरे के निमित्त से अपने-अपने परिणाम को उत्पन्न करते हैं। पूर्व में प्रतिपादित किया गया है कि किसी पदार्थ के स्वभाव में ऐसी विशेषता होना, जिससे दूसरे पदार्थ के परिणमन का मार्ग प्रशस्त हो जाय, निमित्तभाव कहलाता है। इसलिए दूसरे के प्रति निमित्त बन सकने वाले अपने स्वभाव में परिणत होना अपनी ही क्रिया है, परद्रव्य की नहीं। धर्मद्रव्य अपने ही स्वभाव में परिणमित होता है, किन्तु उसका परिणमन जीव और पुद्गल की गति का निमित्त बन जाता है, तो क्या धर्मद्रव्य दो द्रव्यों की क्रियाएँ करता है ? सूर्य भी अपने ही प्रकाश-स्वभाव में परिणमित होने की क्रिया करता है, वह क्रिया कमलों के विकास के अनुकूल होती है और उस अनुकूलता को पाकर कमल खिल जाते हैं, तो क्या सूर्य कमल की क्रिया भी करता है ? स्पष्ट है कि परद्रव्य के कार्य में निमित्त बननेवाले अपने स्वभाव में परिणत होना दो द्रव्यों की क्रियाएँ करना नहीं है।

निमित्त से स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती

उक्त विद्वानों का मत है कि कुम्भकार को घटोत्पत्ति में सहायक मानने से द्रव्य की स्वतन्त्रता बाधित होती है।[4] यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में उपादान की ही प्रधानता है, वही कार्यरूप में परिणत होता है, निमित्त तो मात्र

---

१. न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।। समयसार/कलश १७५

२. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८४३-८४४

३. "यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति ···· जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि कुर्यात् ततो, ···· स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्तायां प्रसजन्त्याम्।"
समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८५

४. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ८४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्यत: सहकारी होता है, अत: उसका प्राधान्य नहीं है। इस कारण द्रव्य की स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती। इस विषय में भट्ट अकलंकदेव के निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं —

"ननु बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति। नैष दोष:, बाह्यस्य निमित्तमात्रत्वात्।"[१]

— प्रश्न : यदि बाह्यद्रव्यादि के निमित्त से परिणमित होकर वस्तुएँ अपना परिणाम उत्पन्न करती हैं, तो इससे उनके स्वातन्त्र्य का विरोध होता है ?

समाधान : ऐसा नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थ निमित्तमात्र होते हैं।

यहाँ इस युक्ति से विचार किया जाय कि धर्मादि द्रव्यों के निमित्त से ही जीव और पुद्गल के गति-स्थिति परिणाम सम्भव होते हैं, तो क्या इससे उनका स्वातन्त्र्य बाधित होता है ? क्या जीव अपने मोक्ष-पुरुषार्थ में असमर्थ हो जाता है ? यदि नहीं, तो निश्चित है कि कार्योत्पत्ति में परद्रव्य के निमित्तमात्र होने से वस्तु-स्वातन्त्र्य पर आँच नहीं आती।

इन युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध है कि कथित विद्वानों का यह मत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि 'एक वस्तु के कार्य का दूसरी वस्तु को निमित्तकर्त्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान उपचरित वचन ही है।' वस्तुत: यह उसी प्रकार का यथार्थ वचन है जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना। इसके यथार्थ वचन होने का प्रमाण आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र तथा आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचन हैं —

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।[२]

— जीव न घट का कर्त्ता है, न पट का, न शेष द्रव्यों का। उसके योग (आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द) तथा उपयोग (मानसिक व्यापार) उनके कर्त्ता (निमित्तकर्त्ता) हैं, जीव मात्र अपने योगोपयोग का कर्त्ता है।

"अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ"[३] जीव के अनित्य योग और उपयोग ही घट-पटादि द्रव्यों के निमित्त कर्त्ता हैं।

"इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्"[४] इस

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक/अध्याय ५/सूत्र १
२. समयसार/गाथा १००
३. वही/आत्मख्याति
४. वही/तात्पर्यवृत्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार परम्परया निमित्तरूप से घट-पट आदि के विषय में जीव का कर्तृत्व होता है।

इन निरूपणों में जीव को घट-पटादि का कर्ता कहने के उपचारवचन का निषेध किया गया है और उसके योगोपयोग के ही घटादि का निमित्तकर्त्ता होने का प्रतिपादन किया गया है। यदि निमित्तकर्त्ता कहना भी उपचारवचन होता तो उसका भी निषेध किया जाता, किन्तु समस्त अध्यात्मग्रन्थों में कहीं भी निषेध नहीं किया गया है, सर्वत्र प्रतिपादन ही किया गया है। इतना ही नहीं, 'ही' (एव) शब्द के प्रयोग द्वारा इसे ही यथार्थ मानने पर जोर दिया गया है। अत: इन आचार्यवचनों से प्रमाणित है कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु के कार्य का निमित्तकर्त्ता कहना सर्वथा यथार्थवचन है।

निष्कर्ष यह है कि आगम में किसी भी पदार्थ के लिए 'निमित्त' शब्द का प्रयोग उपचार से नहीं हुआ है, अपितु मुख्यत: ही किया गया है। निमित्त के अभाव में कार्य असम्भव होता है, इसलिए कार्य की उत्पत्ति में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उसे असत्य या अकिंचित्कर कहना आगम का अपलाप है।

जिस दूसरी मिथ्या धारणा का प्रसव किया गया है, वह यह है कि प्रत्येक कार्य उपादानप्रेरित ही होता है, निमित्तप्रेरित नहीं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक कार्य का नियामक उपादान ही है, निमित्त नहीं, तथा कोई भी निमित्त प्रेरक नहीं होता, सभी उदासीन होते हैं।[१] इस धारणा को जन्म देनेवाले विद्वानों का कहना है कि कार्य को निमित्त-प्रेरित मानने पर प्रत्येक कार्य के प्रति उपादान की कोई नियामकता नहीं रहती।[२] अत: उपादान से वही कार्य उत्पन्न होता है, जिसे उत्पन्न करने की उस समय उसमें योग्यता होती है। कोई भी निमित्त उससे अन्य कार्य की उत्पत्ति नहीं करा सकता। वे इसके समर्थन में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा का यह वचन उद्धृत करते हैं कि "द्रव्य की पूर्वपर्याय उपादान कारण होती है और उत्तरपर्याय कार्य।[३] अत: अनन्तर (अव्यवहित) पूर्व समय में जैसा उपादान होगा, अनन्तर उत्तरक्षण में उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न होगा। निमित्त उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकता।"[४]

उदाहरणार्थ, खेत में बोये हुए बीज से पहले अंकुर ही उत्पन्न होगा, पत्र या पुष्प नहीं। जीव की अयोगकेवली अवस्था के अन्तिम क्षण से मुक्त अवस्था

१. जैनतत्त्वमीमांसा/पृ० ५३-५८
२. वही/पृ० ५९
३. पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ।। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३०
४. जैनतत्त्वमीमांसा/पृ० ५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही उत्पन्न होगी, अन्य नहीं।[1] इससे सिद्ध है कि द्रव्य की पूर्वपर्याय (उपादान) जैसी होती है वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है, न कि जैसा निमित्त मिलता है वैसा। वस्तुतः निमित्त भी पूर्वपर्यायसदृश कार्योत्पत्ति के अनुरूप ही मिलता है और वह स्वयमेव उपस्थित होता है।[2]

इस धारणा की असमीचीनता आगे प्रस्तुत युक्तियों और प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है।

अशुद्धोपादानजन्य कार्य निमित्तप्रेरित

इसमें सन्देह नहीं कि द्रव्य से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है जिसे उत्पन्न करने की उस समय उसमें योग्यता होती है। कोई भी अन्य द्रव्य उससे अन्य कार्य उत्पन्न नहीं करा सकता, अपितु उसी कार्य की उत्पत्ति में सहायक बन सकता है। अर्थात् उसके उत्पन्न होने में जो प्रतिकूल परिस्थितियाँ (बाधाएँ) होती हैं, वे ही उसके स्वभावविशेष से दूर हो सकती हैं।

निष्कर्ष यह कि कार्य के स्वरूप का नियामक उपादान ही होता है, निमित्त नहीं। किन्तु, यह शुद्ध उपादान के विषय में तो सर्वथा सत्य है, पर अशुद्ध उपादान के विषय में सर्वथा सत्य नहीं है, क्योंकि अशुद्धोपादान का निर्माण स्वयं निमित्ताधीन है। उदाहरणार्थ, आत्मा जो अनादि से अशुद्धोपादान बना हुआ है, वह पुद्गलकर्मों के निमित्त से ही बना हुआ है। आचार्य जयसेन ने स्पष्ट कहा है कि कर्मोपाधियुक्त जीव ही अशुद्ध उपादान है।[3] ब्रह्मदेव सूरि का भी यही कथन है।[4] अतः जब उपादान की अशुद्धता ही निमित्तप्रेरित है, तो उससे उत्पन्न होनेवाला अशुद्धकार्य निमित्तप्रेरित कैसे नहीं होगा ? उपादान का अशुद्ध होना स्वयं एक कार्य है जो पूर्णतः निमित्त पर निर्भर है। कोई भी वस्तु स्वयं अशुद्ध नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट है कि अशुद्ध कार्य निमित्तप्रेरित होता है और वही कार्य उत्तरक्षण में उत्पन्न होनेवाले कार्य का उपादान बन जाता है। अतः अशुद्धोपादान का निमित्तप्रेरित होना अथवा अशुद्धकार्य का निमित्तप्रेरित होना, दोनों का तात्पर्य एक ही है। अभिप्राय यह है कि जब उपादान की अशुद्धि का नियमन निमित्त के हाथ में होता है, तब उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य के स्वरूप का नियमन निमित्त के हाथ में होगा ही। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी

१. जैनतत्त्वमीमांसा/पृ० ४५
२. वही/पृ० १५४
३. "हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं, तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति? तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानमशुद्धं तप्तायःपिण्डवत्। निरुपाधिरुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् ....।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १०२
४. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा है —

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ।।
एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ।।[1]

— मोहसंयुक्त उपयोग (चैतन्यपरिणाम) के अनादि से तीन अशुद्ध परिणाम होते हैं — मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। इन तीन अशुद्ध परिणामों के निमित्त से यह उपयोग, स्वभाव से शुद्ध और एकरूप होते हुए भी तीन प्रकार का होकर जिस भाव को करता है उस भाव का कर्त्ता होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से स्पष्ट है कि शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के जो मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन अशुद्ध परिणाम होते हैं वे स्वभाव-जनित नहीं हैं, बल्कि अनादिसंयुक्त मोहकर्म के निमित्त से होते हैं। इस तथ्य को कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथाओं में और भी अच्छी तरह स्पष्ट किया है —

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।।[2]

— जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से शुद्ध होने के कारण स्वयं रक्तपीतादि रूप से परिणमित नहीं होता, अपितु रक्त-पीत वर्णवाले अन्य द्रव्यों के संयोग से परिणमित होता है, वैसे ही आत्मा स्वभाव से शुद्ध (रागादिरहित) होने के कारण स्वयं रागादिरूप से परिणत नहीं होता, अपितु रागादिस्वभाववाले पुद्गलकर्मरूप परद्रव्य के संयोग से परिणत होता है।

यहाँ कुन्दकुन्ददेव ने स्फटिक मणि के दृष्टान्त से यह सम्यग्रूपेण स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि अशुद्धभाव उपादानप्रेरित नहीं, अपितु निमित्तप्रेरित हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है — "आत्मात्मना रागादीनामकारक एव ....परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु।"[3] अर्थात् आत्मा अपने आप रागादि-भावों को कर ही नहीं सकता। परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त है।

१. समयसार/गाथा ८९-९०
२. वही/गाथा २७८-२७९
३. वही/आत्मख्याति/गाथा २८३-२८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य जयसेन का भी कथन है — "कर्मोदयजनिता रागादयो न तु ज्ञानिजीवजनिताः।"[१]

— रागादि कर्मोदयजनित हैं, ज्ञानीजीवजनित नहीं हैं।

ये युक्तियाँ और आर्षवचन इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि जीव या पुद्गल से उत्पन्न होनेवाले अशुद्धभाव वस्तुतः निमित्तप्रेरित ही होते हैं, किन्तु जब निमित्त को उपादान में अन्तर्भूत कर उपादान को अशुद्ध उपादान के रूप में ग्रहण कर लेते हैं, तब यह कहना भी संगत होता है कि अशुद्धकार्य उपादान से ही प्रेरित होता है या प्रत्येक कार्य का नियमन उपादान करता है। आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि जो निमित्त उपादान में अन्तर्भूत होता है उसके द्वारा प्रेरित अशुद्धभाव ही अशुद्धोपादानजन्य कहलाते हैं —

"जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धाः।"[२]

—जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्यय अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्धोपादानजनित होने के कारण चेतन हैं, अर्थात् आत्मा के हैं।

इस व्याख्यान में आचार्यश्री ने 'जीव-पुद्गलसंयोग से उत्पन्न' इन शब्दों के द्वारा यह निर्देश कर दिया है कि मिथ्यात्वरागादिभाव निमित्तप्रेरित हैं तथा 'अशुद्धोपादानजनित होने से चेतन हैं' इस वचन से यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार निमित्तप्रेरित भावों को ही अशुद्धोपादान द्वारा नियमित कहते हैं। अतः अशुद्धोपादानजन्य कार्य निमित्तप्रेरित होते हैं या उनका नियमन अशुद्धोपादान करता है, इन दोनों कथनों का आशय एक ही है। इनमें केवल भाषा का अन्तर है, अर्थ का नहीं। अशुद्ध उपादान के भीतर निमित्त समाया हुआ है, अतः 'अशुद्ध कार्य का नियमन अशुद्धोपादान करता है' इस कथन से भी यही फलित होता है कि अशुद्धकार्य निमित्त-प्रेरित हैं।

कर्म प्रेरक निमित्त ही हैं

प्रत्येक कार्य को उपादान-प्रेरित सिद्ध करने के लिए चर्चित विद्वानों ने कर्मरूप निमित्त की प्रेरकता को ही अमान्य कर दिया। वे कहते हैं कि कर्म भी धर्मादि द्रव्यों के समान उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नहीं। उनके अनुसार जैसे धर्मादि द्रव्य जीव के गति आदि क्रिया में स्वयं प्रवृत्त होने पर सहायता मात्र करते हैं, वैसे ही जब जीव रागादिरूप से परिणत होने के लिए स्वयं प्रवृत्त होता है, तब

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा २७८-२७९
२. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १०९-११२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गलकर्म उसमें सहायता मात्र करते हैं।[1] आगम में जो पुद्गल कर्मों को प्रेरक कहा गया है, उसकी वे दूसरी ही व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि पुद्गलकर्म, नोकर्म, मेघ, बिजली, वायु आदि जड़ वस्तुएँ क्रियावान् (सक्रिय) हैं।[2] उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता अन्य द्रव्यों के क्रिया-व्यापार के समय उनके बलाधान में निमित्त होती है। इस बात को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रेरक कहा गया है।[3] बलाधान के विषय में भी उनका मत है कि कार्योत्पत्ति के समय बल का आधान स्वयं उपादान करता है, किन्तु उसमें निमित्त अन्य द्रव्य होता है।[4]

उनका आशय यही है कि पुद्गलकर्म जीव को रागादिरूप से परिणत होने के लिए प्रभावित नहीं करते, अपितु जब वह स्वयं रागादिरूप से परिणत होने की चेष्टा करता है, तब वे उसमें सहायता कर देते हैं। 'सहायता कर देते हैं' यह कहना भी उचित नहीं हैं। वे (पुद्गलकर्मरूप निमित्त) वहाँ मात्र उपस्थित रहते हैं, यह कहना ही उचित है।

यह मत समीचीन नहीं है। आत्मा के साथ संयुक्त पुद्गलकर्म धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा गुरु आदि निमित्तों से भिन्न हैं। इनके समान वे जीव के स्वतः परिणमन में उदासीनरूप से सहायता मात्र नहीं करते, बल्कि उसे इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि वह स्वाभाविक क्रिया छोड़कर स्वभाव से विपरीत क्रिया करने लगता है। कर्म इसलिए प्रेरक नहीं कहलाते कि उनकी ईरण (गति) क्रिया की प्रकृष्टता जीव के रागादिरूप परिणमन-व्यापार में सहायता मात्र करती है, बल्कि इसलिए कहलाते हैं कि वे अपनी ओर से ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे जीव स्वभाव से विपरीत रागादिरूपपरिणमन करने लगता है। यद्यपि परिणमनशक्ति जीव में ही है, तथापि कर्मजनित प्रभाव के बिना जीव के परिणमन में रागादि विकार नहीं आ सकता। वह कर्मोदय के प्रभाव से ही सम्भव है।

धर्मादि द्रव्य एवं गुरु आदि निमित्त, उपादान के उसी गुण के परिणमन में सहायता करते हैं जो उसमें स्वभावतः है। उसमें न कोई बाधा पहुँचाते हैं, न किसी अस्वाभाविक दशा की उत्पत्ति में हेतु बनते हैं। किन्तु कर्म ठीक इसके विपरीत हैं। वे जीव के स्वभावभूत गुण के परिणमन में सहायता नहीं करते, अपितु बाधा

---

१. "जो क्रियावान् निमित्त प्रेरक कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तों के समान कार्योत्पत्ति के समय सहायक मात्र होते हैं।" जैनतत्त्वमीमांसा/प्रथम संस्करण/पृ० ८३
२. जैनतत्त्वमीमांसा/प्रथम संस्करण/पृ० ५३
३. वही, पृ० ८४, पृ० ९०
४. वही, पृ० ५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहुँचाते हैं तथा अस्वाभाविक दशा की उत्पत्ति में हेतु बनते हैं।[1] इसीलिए उनके नाम ज्ञानावरण (ज्ञान को आवृत करनेवाला), दर्शनावरण (दर्शन को आवृत करनेवाला) मोहनीय (मोहित करनेवाला), अन्तराय (विघ्न उपस्थित करनेवाला) आदि हैं।[2]

ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करने का ही काम करता है, तभी अज्ञान उत्पन्न होता है।[3] ऐसा नहीं है कि आत्मा में स्वभाव से अज्ञान नामक गुण है और ज्ञानावरण कर्म केवल उसके परिणमन में सहायता करता है। इसी प्रकार, मोहनीय कर्म आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र गुणों के स्वाभाविक परिणमन में बाधा डालकर उनके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र के रूप में परिणत होने का कारण बनता है। ऐसा नहीं है कि मिथ्यादर्शनादि आत्मा के स्वभावभूत धर्म हैं और आत्मा जब इन धर्मों के रूप में स्वयं परिणत होने के लिए उद्यत होता है, तब मोहनीय उसमें सहायता मात्र कर देता है।

धर्मादि द्रव्य जीव के स्वभाव का घात (आच्छादन, प्रतिबन्ध एवं विपर्यय) नहीं करते, किन्तु पुद्गल कर्म करते हैं, इसीलिए ज्ञानावरणादि चार कर्मों को घाती कहा गया है।[4] इसके अतिरिक्त जीव के निष्क्रिय रहने पर धर्मादि द्रव्य उसे गति आदि क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं करते, किन्तु कर्म जीव के न चाहने पर भी उसे कषायरंजित कर देते हैं। यहाँ तक कि वे उसे कषायप्रतिरोधी साधना में लीन रहने पर भी रागादि के वशीभूत कर देते हैं, जिससे उच्च भूमिका में स्थित साधक को भी समाधि से च्युत होने पर भक्ति आदि शुभराग में लगना पड़ता है।[5] उनके उदय में जीव ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिर जाता है और निम्न भूमिका में स्थित श्रावक यह जानते हुए भी कि विषयसुख हेय है, फलस्वरूप उससे बचने का प्रयत्न करते हुए भी कर्मोदय के वशीभूत हो विषयसेवन के लिए विवश होते

---

१. (क) "परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावात्।" समयसार/कलश ३
(ख) "दंसणं अत्तागमपयत्थेसु रुई सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो। तं मोहेदि विवरीयं कुणदि त्ति दंसणमोहणीयं।" धवला/पुस्तक ६/पृ० ३८

२. णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इति एयट्ठो ।
तमावरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं ।। धवला ६/१/९-१/५

३. कावि अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ।। कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा २११

४. "केवलणाण-दंसण-सम्मत्त-चारित्त-वीरियाणमणेयभेयभिण्णाणं जीवगुणाणं विरोहित्तणेण तेसिं घादिववदेसादो।" धवला ७/२/१/१५

५. पञ्चास्तिकाय/तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति/गाथा १३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं।[१] ये तथ्य प्रमाणित करते हैं कि कर्म, धर्मादि द्रव्यों से भिन्न प्रकार के निमित्त हैं जिनका स्वरूप उदासीन-रूप से सहायक होना नहीं है, बल्कि जीव के स्वभाव का घात करना तथा उसे परतन्त्र बनाना है। इस अर्थ में ही उन्हें प्रेरक कहा गया है।

आगम में जो यह कहा गया है कि जीव कर्मोदय के निमित्त से स्वयं रागादिरूप से परिणत होता है, कर्म उसे बलपूर्वक नहीं परिणमाते, यह जीव की कथंचित् परिणामित्वशक्ति को दर्शाने के लिए कहा गया है, अर्थात् यह बतलाने के लिए कि जीव में कर्मों की रागादि प्रकृति से प्रभावित होने की स्वाभाविक शक्ति है, इसलिए वह उससे प्रभावित होकर रागादिरूप से परिणत हो जाता है। यदि यह शक्ति न होती तो कर्म अपनी रागादिप्रकृति का प्रभाव बलपूर्वक उस पर न छोड़ पाते। जीव के इस परिणामित्वगुण की उपमा आचार्य कुन्दकुन्द ने स्फटिकमणि की प्रतिबिम्ब-ग्रहणशक्ति (स्वच्छता) से दी है।[२] इस शक्ति के होने के कारण ही जपापुष्पादि के संसर्ग से उनका रंगबिरंगा स्वरूप स्फटिकमणि में प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार जिस योग्यता के कारण जीव आत्मसम्बद्ध कर्मों की रागादि-प्रकृति से प्रभावित होकर रागादिरूप हो जाता है, वह योग्यता ही जीव की परिणामित्वशक्ति है। इसी स्वभावभूत परिणमन शक्ति को दृष्टि में रखकर जीव को रागादि भावों का उपादानकर्त्ता तथा कर्मोदय को निमित्तमात्र कहा जाता है।[३]

स्वपर-प्रत्ययपरिणमन

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रागादिभाव भी जीव के स्वभाव से ही उद्भूत होते हैं और कर्म उनकी उत्पत्ति में धर्मादिद्रव्यों के समान उदासीनरूप से सहायता मात्र करते हैं। यदि ऐसा हो तो रागादिभाव जीव के स्वभाव सिद्ध होंगे और उनकी उत्पत्ति के लिए कर्मरूप निमित्त की आवश्यकता सिद्ध न होगी, क्योंकि गत्यादिरूप परिणमन के लिए धर्मादिद्रव्यरूप निमित्त की तथा अन्य स्वाभाविक परिणमन के लिए केवल कालद्रव्यरूप निमित्त की आवश्यकता होती है। आत्मा का रागादिभावरूप परिणमन स्वपरप्रत्यय-परिणमन है, जो कुछ स्वतः होता है, कुछ कर्मों के निमित्त से। इस दृष्टि से आत्मा और पुद्गल कथंचित् ही परिणामी हैं,

---

१. "यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति विषयसुखं च हेयं जानाति तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १९४

२. वही/आत्मख्याति/गाथा ८९

३. "तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्त्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्त्ता, द्रव्यकर्मस्तु निमित्तमात्रम्।" वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२१-१२५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथंचित् अपरिणामी भी हैं।[1] इसे आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित विवेचन में स्पष्ट किया है —

"यदि कहा जाय कि पुद्‌गलकर्मरूप द्रव्यक्रोध उदय में आकर जीव को बलपूर्वक भावक्रोधरूप से परिणमा देता है तो प्रश्न है कि वह अपरिणामी जीव को परिणमाता है या परिणामी को ? अपरिणामी को तो परिणमा नहीं सकता, क्योंकि जो शक्ति वस्तु में स्वतः नहीं है, उसे कोई दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता। जपापुष्पादि पदार्थ जिस प्रकार स्फटिक में उपाधि उत्पन्न कर देते हैं, वैसे लकड़ी, खम्भे आदि में नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वतः परिणामी नहीं हैं। इसके विपरीत यदि कर्म एकान्ततः परिणामी जीव को परिणमाते हैं तो उदय में आये हुए द्रव्यक्रोधरूप निमित्त के बिना भी वह भावक्रोधरूप परिणमित हो सकता है, क्योंकि वस्तु में जो स्वभावभूत शक्तियाँ हैं वे पर की अपेक्षा नहीं करतीं (अर्थात् यदि रागादिभाव जीव में ही शक्तिरूप में विद्यमान हों तो कर्मरूप निमित्त की आवश्यकता नहीं होगी)। इस स्थिति में मुक्तात्माओं में भी भावक्रोधादि उत्पन्न होने लगेंगे। किन्तु यह आगमविरुद्ध होने से मान्य नहीं है।"[2] अतः सिद्ध है कि जीव में स्वभावभूत कथंचित्परिणामित्व शक्ति है।

यहाँ आचार्य जयसेन ने जीव को सर्वथा परिणामी न बतलाकर कथंचित् परिणामी बतलाया है, जिसका फलितार्थ यह है कि वह कथंचित् अपरिणामी भी है, और कथंचित् अपरिणामी होने से (रागादि की शक्ति स्वयं में न होने से) ही रागादिरूप परिणमन के लिए कर्मोदयरूप निमित्त की आवश्यकता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्मोदयरूप निमित्त कथंचित् अपरिणामी को परिणमाते हैं, अतः कर्म प्रेरक निमित्त हैं। धर्मादि द्रव्य कथंचित् अपरिणामी को नहीं परिणमाते, अपितु जो गत्यादि में स्वयं परिणत हो जाता है उसके ही गत्यादि परिणमन में सहायता करते हैं, इसलिए वे उदासीन हैं।

मोहादिप्रकृतिक कर्म ही चिद्विकार के हेतु

तात्पर्य यह कि कर्मों के मोहरागात्मकस्वभाव से प्रभावित होकर मोह-रागात्मक हो जाना ही जीव का कथंचित् परिणामी होना है। यह उसकी स्वभावभूत शक्ति है। यही स्वपरप्रत्ययपरिणमन है। इससे इस तथ्य की विज्ञप्ति होती है कि आत्मा के परिणामों में जो रागादि विकार आते हैं वे कर्मप्रेरित ही हैं।

---

१. "यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्‌गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्‌गल-योः कथञ्चित्परिणामत्वे सति घटन्ते।" समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२१-१२५
२. वही/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १२१-१२५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मों की प्रेरकता स्पष्ट करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के रागादिरूप में परिणत होने का दृष्टान्त स्फटिक के रागादिरूप में परिणत होने से दिया है। स्फटिक स्वभाव से स्वच्छ होता है। उसमें जो लालिमा आदि अन्य वर्ण आते हैं वे उन वर्णोंवाले अन्य पदार्थों के संयोग से आते हैं, स्फटिक से प्रकट नहीं होते। इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से शुद्ध (रागादिरहित) है। उसमें जो रागादि-भाव आते हैं वे रागादिप्रकृतिवाले कर्मों के सम्पर्क से आते हैं, आत्मा से प्रकट नहीं होते। इस तथ्य को आचार्य अमृचन्द्र ने निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है —

"जैसे स्फटिक पाषाण यद्यपि परिणामस्वभावी है, तो भी स्वभाव से शुद्ध होने के कारण रक्तपीतादि अवस्था का निमित्त न बन पाने से स्वयं रक्तपीतादिरूप से परिणमित नहीं होता, रक्तपीतादिप्रकृतिवाले (जपापुष्पादि) परद्रव्य का निमित्त प्राप्त होने पर ही अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होकर रक्तपीतादि दशा को प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा यद्यपि परिणामस्वभावी है, तो भी स्वभाव से शुद्ध होने के कारण रागादिभावों का निमित्त न बन पाने से, स्वयं रागादिरूप से परिणत नहीं होता, रागादि- स्वभाववाले पुद्गलकर्मों का निमित्त मिलने पर ही अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होकर रागादिभाव को प्राप्त होता है, यह वस्तुस्वभाव है।"[१]

वे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं —"आत्मा अपने आप तो रागादिभावों का कारक है ही नहीं। पर द्रव्य (पुद्गलकर्म) ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त है।"[२]

पूर्व में निर्देश किया गया है कि कर्मों का निमित्तस्वरूप विशेष प्रकार का है, सामान्य प्रकार का नहीं। वे ऐसे निमित्त हैं, जिनके कारण आत्मा स्वाभाविक परिणमन छोड़कर विपरीत परिणमन करने लगता है। इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार समझाया है —

"जैसे नीले, हरे और पीले पदार्थों के सम्पर्क से स्फटिक पाषाण के स्वच्छ स्वरूप में नील, हरित और पीत विकार आ जाते हैं, वैसे ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले मोहकर्म के संयोग से आत्मा के निर्विकार परिणाम में मिथ्यादर्शन,

---

१. "…. तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वयं रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात् प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्येत, इति तावद्वस्तुस्वभावः।" समयसार/आत्मख्याति/गाथा २७८-२७९

२. "आत्मात्मना रागादीनामकारक एव। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु।" वही/गाथा २८३-२८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[१]

इस प्रकार चूँकि रागादिप्रकृतिवाले कर्मों के सम्पर्क से ही शुद्ध आत्मा में रागादि विकार की उत्पत्ति होती है, अन्यथा स्वभाव से शुद्ध होने के कारण उसमें ये विकार उत्पन्न नहीं हो सकते, अतः सिद्ध है कि कर्म उदासीन निमित्त नहीं हैं, प्रेरक निमित्त हैं।

प्रेरक ही नहीं, आक्रामक और घातक

कर्म प्रेरक ही नहीं, आक्रामक और घातक हैं। 'प्रेरक' शब्द सिर्फ बलपूर्वक दिशाविशेष में ले जाने का वाचक है। कर्म तो बलपूर्वक आत्मा पर आक्रमण कर उसकी शक्तियों का घात कर देते हैं। अनादिकाल से घाती कर्मों ने जीव की अनन्तचतुष्टयरूप शक्तियों को दबाकर उसे अज्ञानी, अशक्त, दीन और दुःखी बना रखा है।[२] वे आत्मा को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ते हैं। इसीलिए विद्यानन्द स्वामी ने कर्मों का लक्षण बतलाते हुए कहा है — "जो जीव को परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं।"[३]

अज्ञानी ही नहीं, ज्ञानी भी कर्मों की अभिभावक शक्ति से परास्त हो जाते हैं, यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। पंडित टोडरमल जी कहते हैं — "जब कर्मों का तीव्र उदय होता है तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता, साधक ऊपर के गुणस्थानों से भी नीचे गिर जाता है।"[४]

पंडित आशाधर जी का कथन है — "जिनेन्द्रदेव के उपदेश से विषयों को निरन्तर त्याज्य समझते हुए भी जो चारित्रमोह के उदय से उनका त्याग करने में असमर्थ हैं, उन सम्यग्दृष्टि भव्य जीवों के लिए गृहस्थधर्म की अनुमति दी गई है।"[५]

यह कथन दर्शाता है कि कर्मोदय जीव की शक्ति का हरणकर उसे असमर्थ बना देता है, तभी वह विषयवासनाओं के वशीभूत होता है। कर्मों की अभिभावक-

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ८९

२. "आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभावः संसारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसङ्कोचितात्मशक्तिः।"
पञ्चास्तिकाय/तत्त्वदीपिका/गाथा २९

३. "जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि।"
आप्तपरीक्षा/टीका/श्लोक ११३

४. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ९/पृ० ३१४

५. त्याज्यानजस्रं विषयान्पश्यतोऽपि जिनाज्ञया ।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ।। सागारधर्मामृत २/१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति कितनी भीषण है, यह आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित वक्तव्य से प्रकट हो जाता है —

"इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्य ....एकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव बाह्यमानस्य ....।"[१]

— अर्थात् संसाररूपी चक्र में फँसे ये जीव समस्त विश्व पर एकछत्र शासन करनेवाले मोहरूप बलवान् पिशाच के द्वारा बैल के समान हाँके जाते हैं।

इस कथन में 'समस्त विश्व पर एकछत्र शासन करनेवाला', 'बलवान् पिशाच' तथा 'जीवों को बैल के समान हाँकनेवाला' इन शब्दों से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों की शक्ति कितनी दुर्धर्ष है।

इस दुर्धर्ष एवं जीवस्वभावघातक प्रकृति के कारण ही कर्मों को शत्रु की उपमा दी गई है और उनको जीत लेने के कारण ही आत्मा 'जिन' कहलाता है —

"अनेकभवगहनविषयव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः।"[२]

कर्मों को शत्रु की उपमा दी गई है। शत्रु उदासीन नहीं होता, आक्रामक होता है, सहायक नहीं होता, बाधक होता है। उससे युद्ध होता है और उसे जीत लेने पर व्यक्ति विजेता या 'जिन' कहलाता है। धर्मादि द्रव्यों को शत्रु की संज्ञा नहीं दी गई, क्योंकि वे उदासीन होते हैं, आक्रामक नहीं, मित्रवत् सहायक होते हैं, शत्रुवत् बाधक नहीं।

'घाती', 'शत्रु' और 'परतंत्र बनानेवाले' इन विशेषणों से कर्मों का निमित्त-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और धर्मादि द्रव्यों के निमित्तात्मक स्वरूप से उसकी विशेषता समझ में आ जाती है। वह यह कि कर्म न केवल प्रेरक हैं, बल्कि आक्रामक, बाधक और घातक हैं। इन्हीं अर्थों में आगम में उन्हें प्रेरक कहा गया है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। पूर्वोक्त विद्वानों ने कर्मों के प्रेरक होने का जो अर्थ बतलाया है, वह शब्दों के साथ कितना बड़ा छल-कपट है, यह उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। "आत्मद्रव्य अपनी कार्योत्पत्ति में जब बलाधान करता है तब पुद्गलकर्मों का उसमें निमित्त बनना ही उनका प्रेरक होना है", प्रेरकता की उक्त विद्वानों द्वारा की गई यह व्याख्या पुद्गलकर्मों के मोहरागादिस्वभावात्मक तथा आत्म के शुद्धचैतन्यस्वभावात्मक होने का अर्थ ही व्यर्थ कर देती है और आत्मा को स्वभाव से मोहरागादिरूप सिद्ध करती है। यह व्याख्या कर्मों की घातकता से भी अधिक घातक है।

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४
२. पञ्चास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा १

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म अजेय नहीं

कर्मोदय होने पर आत्मा का उससे प्रभावित होना अनिवार्य है। जिस समय जिस कर्मप्रकृति का उदय होता है उस समय उसके अनुरूप आत्मपरिणाम अवश्य होता है। क्रोधप्रकृति का उदय होने पर क्रोधपरिणाम होना अनिवार्य है, मानादि प्रकृतियों के उदय में तदनुरूप परिणाम अवश्यम्भावी है। कर्मफल का अनुभव कराना ही उदय कहलाता है —'कर्मणामनुभवनमुदय:।'[१] उदयानुसार परिणाम अवश्य होता है। इसलिए बन्ध होना भी अनिवार्य है।

किन्तु कर्म अजेय नहीं हैं, उन्हें जीता जा सकता है, उनके उदय को रोका जा सकता है, क्षयोपशम किया जा सकता है, क्षय किया जा सकता है, उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण किया जा सकता है। उनकी प्रेरकता तभी तक कायम रहती है, जब तक जीव उन पर अंकुश लगाने के लिए कमर नहीं कसता। शरीर में विष का प्रसार तभी तक होता है, जब तक ओषधि का प्रयोग नहीं किया जाता। जैसे ओषधि के प्रयोग से विष का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, वैसे ही जब जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की औषध का प्रयोग करता है तब कर्म मूर्च्छित हो जाते हैं, अशक्त हो जाते हैं, छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। गरुड़ के आगे सर्प का आतंक कब तक कायम रह सकता है ?

कर्मशत्रुओं के हनन की विधि पर प्रकाश डालते हुए श्री ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं —

"संसारियों को निरन्तर कर्मबन्ध होता है, इसी प्रकार उदय भी होता है। शुद्धोपयोग के लिए अवकाश नहीं है, तब मोक्ष कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि कर्मोदय की अवस्था सदा एक-सी नहीं रहती। उसमें प्रबलता और मन्दता आती रहती है। अत: जैसे शत्रु की क्षीण अवस्था देखकर मनुष्य पौरुष करके उसका विनाश कर देता है, वैसे ही जब कर्मोदय मन्द होता है, तब ज्ञानी जीव निर्मलभावनारूप विशिष्ट खड्ग से पौरुष करके कर्मशत्रुओं का हनन कर देता है।[२]

अत: जहाँ कर्मोदय के निमित्त से आत्मा की रागादिरूप परिणति अनिवार्य है, वहीं आत्मा के सम्यक्त्वसहित शुभ एवं शुद्धपरिणामों से कर्मों का विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसलिए कर्मों के प्रेरक होने से मोक्ष के असम्भव होने की शंका युक्तिसंगत नहीं है। निष्कर्ष यह कि कर्म प्रेरक निमित्त ही हैं।

---

१. प्राकृत पञ्चसंग्रह/पृ० ६७६

२. बृहद्द्रव्यसंग्रह/ब्रह्मदेवटीका/गाथा ३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मों के अतिरिक्त धर्मादि अन्य द्रव्य उदासीन निमित्त होते हैं, क्योंकि वे आत्मा की स्वभावभूत शक्ति के परिणमन में ही सहयोग देते हैं, न तो उसके परिणमन में बाधा डालते हैं, न उसके विपरीत परिणमन के हेतु बनते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुद्धोपादानजन्य कार्य तो उपादानप्रेरित ही होते हैं, किन्तु अशुद्धोपादानजन्य कार्य उपादानप्रेरित नहीं होते, निमित्तप्रेरित ही होते हैं, अर्थात् उनका नियमन निमित्त ही करता है। क्योंकि जब उपादान की अशुद्धता स्वयं निमित्तप्रेरित है, तब तज्जन्य कार्यों का निमित्तप्रेरित होना अनिवार्य है।

निष्कर्ष यह है कि किसी द्रव्य को उपचार से निमित्त नहीं कहा जाता, अपितु वह वास्तव में (नियतस्वलक्षण के अनुसार) निमित्त होता है, इसलिए निमित्त कहा जाता है। निमित्त के बिना उपादान अपने कार्य की उत्पत्ति में असमर्थ होता है। अत: कार्योत्पत्ति में निमित्त का उतना ही हाथ होता है जितना उपादान का। तथा पुद्‌गलकर्म धर्मादि द्रव्यों के समान उदासीन निमित्त नहीं हैं, अपितु प्रेरक निमित्त हैं, बल्कि प्रेरक ही नहीं, आक्रामक और घातक निमित्त हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वादश अध्याय

निश्चयाभास एवं व्यवहाराभास

पूर्व में इस तथ्य का अवलोकन किया गया है कि निश्चयनय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष हैं, अर्थात् दोनों मिलकर ही आत्मादि पदार्थों के अनेकान्त-स्वरूप का निरूपण करते हैं तथा दोनों नयों के द्वारा प्ररूपित साधनापद्धतियों का आवश्यकतानुसार आश्रय लेने से ही मोक्ष की सिद्धि होती है।

किन्तु निश्चय और व्यवहार नयों के स्वरूप को सम्यग्रूपेण हृदयंगम न कर पाने से जैन सिद्धान्त के अनुयायी भी किसी एक ही नय के कथन को सर्वथा सत्य मानकर एकान्तवादी बन जाते हैं। यह एक विडम्बना ही है कि जो जैनसिद्धान्त अनेकान्तवादी है और स्याद्वाद के द्वारा विश्व के सभी युक्तिसंगत मतों का समन्वय करता है उसे भी लोग एकान्तवादी मान्यताओं से दूषित कर देते हैं।

आचार्यद्वय अमृतचन्द्र एवं जंयसेन ने पञ्चास्तिकाय/गाथा १७२ की टीकाओं में दो प्रकार के जैनएकान्तवादियों का उल्लेख किया है : केवलनिश्चया-वलम्बी और केवलव्यवहारालम्बी। तथा पंडित टोडरमल जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक में तीन एकान्तवादों या नयाभासों का अवलम्बन करनेवाले जैन-मिथ्यादृष्टियों का विवरण दिया है। वे तीन एकान्तवाद निम्निलिखित हैं : निश्चयै-कान्त, व्यवहारैकान्त तथा उभयैकान्त। इन्हें क्रमशः निश्चयाभास, व्यवहाराभास एवं उभयाभास भी कहते हैं।

निश्चयाभास

व्यवहारनय के कथन को सर्वथा असत्य मानकर निश्चयनय के कथन को एकान्ततः सत्य स्वीकार करना निश्चयैकान्त या निश्चयाभास कहलाता है। इसके कुछ उदाहरण मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार पर यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

आगम में संसारी जीव को निश्चयनय से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से सिद्धों के समान शुद्ध कहा गया है और व्यवहारनय से अर्थात् पर्यायदृष्टि से अशुद्ध (रागादि-मय)। किन्तु व्यवहारनय को सर्वथा असत्य माननेवाले अपने को पर्याय की अपेक्षा अशुद्ध नहीं मानते और निश्चयनय के कथन को द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियों से सत्य मानकर स्वयं को सर्वथा (द्रव्य और पर्याय दोनों की अपेक्षा) शुद्ध (रागादि-भावरहित) समझते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवों में केवलज्ञानी बनने की शक्ति है, अतः आगम में सभी जीवों को निश्चयनय से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से केवलज्ञानस्वभाववाला बतलाया गया है, पर्याय-प्रधान व्यवहारनय से केवलज्ञानरहित ही कहा गया है। किन्तु व्यवहारनय को अस्वीकार कर केवल निश्चयनय के कथन को ही द्रव्य और पर्याय दोनों अपेक्षाओं से सत्य माननेवाले निश्चयाभासी स्वयं को वर्तमान पर्याय की अपेक्षा भी केवलज्ञानी मान लेते हैं।

रागादिभाव आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं, औपाधिक भाव हैं। इस कारण सर्वज्ञ ने निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा को रागादिशून्य बतलाया है और व्यवहारनय से अर्थात् पर्यायदृष्टि से रागादिभावमय। किन्तु व्यवहारनय के कथन में श्रद्धा न रखने वाले एकान्तनिश्चयावलम्बी स्वयं को पर्याय की अपेक्षा रागादि-भावमय न मानकर सर्वथा रागादिशून्य समझते हैं।

कर्मों के साथ आत्मा का तादात्म्यसम्बन्ध अर्थात् एकद्रव्यात्मक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मौलिक भेद की अपेक्षा निश्चयनय से जीव को कर्मों से अबद्ध वर्णित किया गया है। किन्तु, जीव और पुद्गलकर्मों में परस्पर संश्लेष और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, इसलिए बाह्यसम्बन्ध की अपेक्षा व्यवहारनय से बद्ध बतलाया गया है। परन्तु, सिर्फ निश्चयनय के कथन को ही सर्वथा सत्य माननेवाले निश्चयै-कान्तवादी स्वयं के सर्वथा अबद्ध होने की श्रद्धा करते हैं।

भगवान् ने निश्चयनय से शुद्धात्मानुभव को मोक्षमार्ग निरूपित किया है और उसका साधक होने से सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग नाम दिया है। किन्तु, एकान्तनिश्चयावलम्बी जीव व्यवहारनय के कथन को सर्वथा असत्य मानने के कारण सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग को निश्चयमोक्षमार्ग का साधक स्वीकार नहीं करते और शुद्धात्मानुभव की सामर्थ्य प्राप्त किये बिना ही 'मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ', 'केवलज्ञानादिसहित हूँ', 'द्रव्यकर्मादिरहित हूँ, इत्यादि काल्पनिक चिन्तन करते हैं और सोचते हैं कि वे शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। इससे शुद्धात्मानुभव तो होता नहीं है, उलटे शुभप्रवृत्ति का अवलम्बन न करने से शुद्धात्मानुभव की सामर्थ्य भी प्राप्त नहीं हो पाती और अशुभ में डूबकर केवल पाप का बन्ध करते हैं।

शुभोपयोग मोक्ष का साक्षात् मार्ग नहीं है, क्योंकि उससे पुण्यबन्ध होता है। इसलिए आगम में उसे निश्चयनय से हेय कहा गया है, पर अशुभ से बचाकर परम्परया मोक्ष का साधक होने से व्यवहारनय की अपेक्षा उपादेय भी बतलाया गया है, किन्तु निश्चयाभास से ग्रस्त मनुष्य उसे सर्वथा हेय मान बैठते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टि साधक को कर्मोदयजनित विषयभोग में आसक्ति नहीं होती। इसलिए विषयभोग करते हुए भी जितने अंश में रागरहित होता है उतने अंश में उसे कर्मबन्ध नहीं होता, निर्जरा ही होती है। इस कारण भगवान् ने निश्चयनय की अपेक्षा यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि को विषयभोग से बन्ध नहीं होता। किन्तु निश्चयाभासी जीव आत्मा की चर्चा करने मात्र से अपने को सम्यग्दृष्टि मान लेते हैं और बन्ध के भय से रहित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक विषयभोग करते हैं।

उपादान कार्य का मुख्य हेतु है और निमित्त सहकारी हेतु। इसलिए आगम में उपादान को निश्चयनय से और निमित्त को व्यवहारनय से कार्य का हेतु बतलाया गया है। किन्तु व्यवहारनय को सर्वथा असत्य माननेवाले एकान्तनिश्चयावलम्बी लोग किसी पदार्थ को निमित्त कहा जाना उपचारकथन मानते हैं, यथार्थ कथन नहीं। अत: निमित्त को असत्य और अकिंचित्कर कहकर मोक्षमार्ग के निमित्तभूत साधनों (व्यवहारमोक्षमार्ग) का अवलम्बन नहीं करते और पापप्रवृत्तियों में संलग्न रहते हुए औपचारिक स्वाध्याय तथा काल्पनिक ध्यान का निष्फल कर्मकाण्ड करते रहते हैं।

इन उदाहरणों से निश्चयाभासी मान्यताओं का परिचय मिलता है।

व्यवहाराभास

निश्चयनय के कथन में श्रद्धा न कर एकमात्र व्यवहारनय के कथन को सर्वथा सत्य मान लेना व्यवहारैकान्त या व्यवहाराभास कहलाता है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधक है, स्वयं मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु एकान्तव्यवहारावलम्बी उसे ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं और व्रतादि शुभ क्रियाएँ करते रहते हैं, जिससे पुण्यबन्ध द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति तो हो जाती है, मोक्ष प्राप्त नहीं हो पाता।

सर्वज्ञ ने व्यवहारनय से अशुभभाव की अपेक्षा शुभभाव को उपादेय बतलाया है, किन्तु मोक्ष की दृष्टि से निश्चयनय की अपेक्षा दोनों हेय कहे गये हैं। फिर भी केवल व्यवहार के पक्ष में झुकनेवाले मिथ्यादृष्टि शुभभाव को ही मोक्ष का उपाय मानते हैं।

अनशनादि बाह्य तप शुद्धोपयोगरूप वास्तविक तप की वृद्धि का हेतु है, इसलिए आगम में उसे व्यवहारनय से तप कहा गया है। व्यवहारनय के अभिप्राय को यथार्थत: न समझनेवाले व्यवहाराभासी उसे वास्तविक तप समझ लेते हैं और निर्जरा का कारण मानते हैं, जबकि बाह्यप्रवृत्ति निर्जरा का हेतु नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारसम्यग्दर्शन के आठ अंगों का अंगीकार, पच्चीस दोषों का परिहार तथा संवेगादि गुणों का पालन निश्चयसम्यक्त्व के परम्परया हेतु हैं। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने इन्हें व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है, किन्तु व्यवहाराभास से ग्रस्त मनुष्य इन्हें ही निश्चयसम्यग्दर्शन मानता है।

आगमज्ञान आत्मज्ञानरूप निश्चयसम्यग्ज्ञान का हेतु है, अतः उसे व्यवहार-नय से सम्यग्ज्ञान संज्ञा दी गई है, किन्तु व्यवहार को ही निश्चय समझनेवाले मिथ्यादृष्टि आगमज्ञान से ही अपने को सम्यग्ज्ञानी मान बैठते हैं।

स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र, इन्द्रियविषय-धनसम्पत्ति आदि बाह्यपदार्थों के निमित्त से रागादि का उदय हो जाता है। इसलिए उन्हें व्यवहारनय से रागादि का हेतु कहा गया है। निश्चयनय से जीवकृत कर्म रागादि के मूल हैं। किन्तु व्यवहारपक्ष का ही अवलम्बन करनेवाला जीव बाह्य पदार्थ को परमार्थतः रागादि की उत्पत्ति का हेतु मानता है।

अरहन्त भगवान् के प्रति भक्तिरूप शुभपरिणाम से पुण्यबन्ध होता है, जिससे स्वर्गादि इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का निवारण होता है। शुभपरिणामों में अरहन्त निमित्त होते हैं, अतः व्यवहारनय से उन्हें स्वर्गादि का दाता और अनिष्ट का निवारक कहा जाता है। किन्तु व्यवहार को निश्चयरूप से ग्रहण कर लेने वाले जीव की यह धारणा बन जाती है कि वे वास्तव में स्वर्गमोक्ष के दाता तथा अनिष्ट के निवारक हैं।

आभ्यन्तर निर्ग्रन्थता (मोहरागादि के त्याग) को निश्चयनय से गुरु का लक्षण बतलाया गया है और बाह्य निर्ग्रन्थता (वस्त्रादि परिग्रह के त्याग) को व्यवहारनय से। किन्तु, व्यवहार को ही परमार्थ समझने वाला जीव मात्र बाह्य निर्ग्रन्थता को गुरु का वास्तविक लक्षण मान लेता है और केवल उसी को देखकर गुरु की पूजा करता है।

अनेकान्त वस्तुतत्त्व तथा निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। पर व्यवहाराभास से ग्रस्त मनुष्य शास्त्र के प्रति केवल इसलिए श्रद्धा रखता है कि उसमें व्रत-तप, दया, क्षमा, शील-सन्तोषादि व्यवहारधर्म का निरूपण हैं।

ये उदाहरण व्यवहाराभास का परिचय देते हैं।

उभयाभास

निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के कथन को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सत्य न मानकर निश्चयकथन को भी सर्वथा सत्य मानना और व्यवहारकथन को भी सर्वथा सत्य स्वीकार करना उभयैकान्त या उभयाभास कहलाता है। उभयाभासियों की धारणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है कि जिनमत में दो नयों से उपदेश दिया गया है, अतः दोनों का उपदेश एक ही समान सत्य मानकर अंगीकार करना चाहिए। वे इस तथ्य को हृदयंगम नहीं कर पाते कि निश्चय और व्यवहार नयों के कथन अलग-अलग अपेक्षा से सत्य होते हैं, एक ही अपेक्षा से नहीं। अलग-अलग अपेक्षा से सत्य होने पर दोनों नय परस्पर सापेक्ष होते हैं, अपेक्षाभेद न होने पर निरपेक्ष हो जाते हैं। सापेक्ष होने पर ही उनमें विरोध का अभाव होता है, निरपेक्ष होने पर वे विरोधी बन जाते हैं। इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण उभयाभासी जीव निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को एक ही प्रकार से सत्य मानते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक[1] के अनुसार उभयाभास के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

आगम में वास्तविक मोक्षमार्ग को निश्चयमोक्षमार्ग तथा उसके साधक मार्ग को व्यवहारमोक्षमार्ग संज्ञा दी गई है। इस तरह निश्चयनय से मोक्षमार्ग एक ही है, दो नहीं। किन्तु उभयाभासी लोग निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग दोनों को निश्चयनय से मोक्षमार्ग मानते हैं और निश्चयाभासियों के समान काल्पनिक शुद्धात्मानुभव तथा व्यवहाराभासियों के समान निश्चयनिरपेक्ष व्रतादि क्रियाओं का एक साथ अभ्यास करते हैं। इससे न तो निश्चयमोक्षमार्ग सिद्ध हो पाता है, न व्यवहार-मोक्षमार्ग।

कुछ उभयाभासियों की यह धारणा होती है कि निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहार-मोक्षमार्ग दोनों वास्तविक मोक्षमार्ग हैं, किन्तु निश्चयमोक्षमार्ग केवल श्रद्धा में उपादेय है और व्यवहारमोक्षमार्ग प्रवृत्ति में। यह धारणा मिथ्या है। यदि निश्चयमोक्षमार्ग प्रवृत्ति में उपादेय न हो, तो उसके लिए भगवान् ने मोक्षमार्ग शब्द का प्रयोग क्या मात्र दस्तूर निभाने के लिए किया है ?

आत्मा स्वभाव से शुद्धचैतन्यस्वरूप है,परन्तु कर्मोपाधि के निमित्त से मोहरागादिरूप में परिणत होता है। इसलिए सर्वज्ञ ने उसे द्रव्यप्रधान निश्चयनय से शुद्धचैतन्यस्वरूप तथा पर्यायप्रधान व्यवहारनय से मोहरागादिरूप बतलाया है। किन्तु दोनों नयों के कथन को एक ही प्रकार से सत्य माननेवाले उभयाभासी आत्मा को स्वभाव से शुद्धचैतन्यस्वरूप भी मानते हैं और मोहरागादिस्वरूप भी, जो प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरोधी हैं।

इसी प्रकार मुनि जब शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग का प्रयत्न करता है, तब वह प्रयत्न की अवस्था शुद्धोपयोग का साक्षात् उपादान होती है। किन्तु यह प्रयत्न शुभोपयोग में अभ्यस्त सम्यग्दृष्टि श्रमण ही कर सकता है। इसलिए

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार ७/पृ० २४८-२५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टि श्रमण का शुभोपयोग शुद्धोपयोग का परम्परया उपादान कारण है। इस अपेक्षा से आगम में उसे व्यवहारनय से शुद्धोपयोग का कारण कहा गया है। किन्तु उभयैकान्तवादियों की दृष्टि में निश्चय और व्यवहार में 'अपेक्षा' की दृष्टि से कोई फर्क नहीं होता, इसलिए वे शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का परम्परया उपादान कारण न मानकर साक्षात् उपादान कारण मान लेते हैं। यह श्रद्धा मिथ्या है, क्योंकि 'उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति'[१] (उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है) इस नियम के अनुसार जैसे शुभोपयोग अशुभोपयोगपरिणत आत्मा से उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे ही शुद्धोपयोग शुभोपयोगपरिणत आत्मा से उद्भूत नहीं हो सकता। शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग के प्रयत्न में परिणत आत्मा से ही शुद्धोपयोग की उत्पत्ति सम्भव है।

इन निदर्शनों से उभयाभास का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

एकान्तवादियों का इतिहास

जैन एकान्तवादियों का इतिहास बहुत पुराना है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वितीय शताब्दी (ईसवी) में हुए थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार में जैनों में प्रचलित एकान्तवाद की चर्चा की है, जिससे ज्ञात होता है कि एकान्तवाद का आश्रय लेनेवाले कुन्दकुन्द के पूर्व से चले आ रहे थे। वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारैकान्त का निराकरण करने के लिए ही समयसार की रचना की थी। सम्पूर्ण समयसार में एकान्तव्यवहारवादियों की मान्यताओं का खण्डन किया गया है। व्यवहारैकान्त अज्ञानियों का लक्षण है, इसलिए ज्ञानियों का लक्षण बतलाते हुए वे लिखते हैं —

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।[२]

—ज्ञानी निश्चयनय के विषय को छोड़कर (निश्चयनिरपेक्ष होकर) व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होते, क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है।

व्रतादि शुभपरिणाम को सर्वथा हेय माननेवाले निश्चयैकान्तवादियों का अस्तित्व भी उस समय था। उन्हें व्रत-तप आदि की कथंचित् उपादेयता दर्शाने के लिए कुन्दकुन्ददेव ने यह गाथा कही है —

---

१. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा, १२८-१२९
२. वही/गाथा १५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ।।[१]

—व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होना अच्छा है, किन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख भोगना अच्छा नहीं। छाया में बैठकर प्रतीक्षा करनेवालों और धूप में बैठकर प्रतीक्षा करनेवालों की स्थितियों में बड़ा अन्तर होता है।

तात्पर्य यह कि स्वर्ग में समय व्यतीत करते हुए मोक्ष के अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करना अकष्टकर होता है और नरक में रहते हुए प्रतीक्षा करना कष्टकर।

नवीं शताब्दी में प्रसिद्ध ग्रन्थ आलापपद्धति के रचयिता आचार्य देवसेन हुए हैं। उन्होंने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ में एकान्तमतावलम्बी जैनाभासों की चर्चा की है।

कुन्दकुन्द-साहित्य के यशस्वी टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र तथा आचार्य जयसेन का काल क्रमशः दसवीं एवं तेरहवीं शताब्दी ईसवी है। उन्होनें पञ्चास्तिकाय की १७२वीं गाथा की टीका में दो प्रकार के एकान्तवादियों का वर्णन किया है तथा अठारहवीं शताब्दी में हुए पंडित टोडरमल जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्ग-प्रकाशक में तीन प्रकार के जैन एकान्तवादियों का विस्तृत विवरण दिया है। इसका पूर्व में निर्देश किया जा चुका है।

वर्तमान में निश्चय और व्यवहार को लेकर प्रबल विवाद प्रचलित है जिससे एकान्तवादियों के अस्तित्व की सूचना मिलती है। वैचारिक विवाद का कारण सदा एकान्तवाद ही हुआ करता है। जहाँ अनेकान्तदृष्टि है वहाँ विवाद के लिए अवकाश नहीं होता। दोनों में अन्धकार और प्रकाश के समान विरोध है।

एकान्तवाद के हेतु

अब विचारणीय है कि एकान्तवाद के कारण क्या हैं ? जिनेन्द्रदेव के अनेकान्तमत को उनके अनुयायी एकान्तरूप में ग्रहण क्यों कर लेते हैं ? इसके निम्नलिखित कारण हैं —

अनेकान्त-सिद्धान्त से अनभिज्ञता

यह सर्वप्रथम कारण है। अनेकान्त जैनसिद्धान्त का प्राण है।[२] इसमें साध्य और साधन दोनों अनेकान्तात्मक हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे मनुष्य निसर्गतः अनभिज्ञ होता है। इसीलिए आचार्यों ने जैनदर्शन की अनेकान्तात्मकता की ओर

---

१. मोक्खपाहुड/गाथा २५
२. "परमागमस्य जीवं ···· नमाम्यनेकान्तम्।" पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/कारिका २

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान आकृष्ट करने के लिए बारम्बार प्रयत्न किया है। अनेकान्त-सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने पर मनुष्य अनेकान्तदृष्टि से आगमवचनों का विचार नहीं करता, अतएव वह एकान्तवादी हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो अनेकान्त-सिद्धान्त को यथार्थरूप से नहीं जानता, वह भी एकान्तवादी हो जाता है। ऐसे ही लोगों के विषय में पंडित टोडरमल जी ने कहा है — 'मिथ्यादृष्टि मनुष्य अनेकान्तरूप वस्तु को तो मानता है, परन्तु यथार्थभाव को पहचान कर नहीं मानता।'[१] आज के कुछ विद्वान् मोक्षमार्ग में व्यवहारनय को उपादेय नहीं मानते, यह मोक्षमार्ग की अनेकान्तात्मकता से अनभिज्ञ होने का ही परिणाम है।

नयस्वरूप से अनभिज्ञता

एकान्तवाद का यह दूसरा कारण है। उदाहरणार्थ, असद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप से सम्यग्रूपेण परिचित न होने के कारण कुछ विद्वान् उसे वस्तुधर्म का प्रतिपादक न मानकर मात्र अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोप करनेवाला मानते हैं। इस मान्यता के कारण वे असद्भूतव्यवहारनय से वस्तु में बतलाए जानेवाले निमित्त-नैमित्तिकादि सम्बन्धों को असत्य मान लेते हैं और कार्य की उत्पत्ति में एकमात्र उपादान को ही हेतुरूप से स्वीकार करते हैं जो एकान्तवाद है। इसी एकान्त-धारणा के फलस्वरूप अनेक विचारकों ने निश्चयधर्म (निश्चयमोक्षमार्ग) और व्यवहारधर्म (व्यवहारमोक्षमार्ग) में साध्य-साधकभाव का निषेधकर केवल निश्चयधर्म को ही मोक्ष के लिए अवलम्बनीय ठहराया है। यह नयस्वरूप की अनभिज्ञता से फलित होनेवाले एकान्तवाद का उदाहरण है।

सापेक्षता से अनभिज्ञता

निश्चय और व्यवहार नय परस्पर सापेक्ष हैं। जो कथन निश्चयनय की अपेक्षा अभूतार्थ (असत्य) है, वह व्यवहारनय की अपेक्षा भूतार्थ होता है। जो धर्म निश्चयनय का विषय नहीं है, उसके अस्तित्व का वह (निश्चयनय) सर्वथा निषेध नहीं करता, अपितु व्यवहारनय की अपेक्षा उसे मौनरूप से स्वीकार करता है। इसलिए निश्चयनय के अनुसार जो अभूतार्थ है, उसे सर्वथा अभूतार्थ नहीं मान लेना चाहिए। किन्तु अनेक लोग निश्चय और व्यवहार की इस परस्परसापेक्षता से अनभिज्ञ होते हैं। इस कारण निश्चयनय के द्वारा जिसे अभूतार्थ कहा गया है, उसे सर्वथा अभूतार्थ मान लेते हैं। उदाहरणार्थ, आगम में निश्चयनय की अपेक्षा जीव और पुद्गल के परस्पर बन्ध को अभूतार्थ कहा गया है तथा दोनों की बन्धपर्याय से उत्पन्न जीवादि नौ तत्त्व भी अभूतार्थ बतलाये गये हैं।[२] इसलिए जो यह नहीं जानते कि निश्चयनय

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक/सातवाँ अधिकार

२. समयसार/आत्मख्याति/गाथा १३-१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा ये सर्वथा अभूतार्थ नहीं कहे गये हैं, अपितु व्यवहारनय की अपेक्षा इन्हें वह भूतार्थ स्वीकार करता है, वे लोग इन्हें सर्वथा अभूतार्थ मान लेते हैं और निश्चयाभासी बन जाते हैं।

इसी प्रकार जीव और पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय को व्यवहारनय से भूतार्थ कहा गया है[१]। अत: जो लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि व्यवहारनय के द्वारा उसे कथंचित् भूतार्थ कहा गया है, सर्वथा नहीं, निश्चयनय की अपेक्षा वह उसे अभूतार्थ भी स्वीकार करता है, वे लोग बन्धपर्याय को सर्वथा भूतार्थ मानकर व्यवहाराभासी बन जाते हैं।

दोषपूर्ण व्याख्याएँ

एकान्तवाद का यह सबसे बड़ा कारण है। जनसामान्य विद्वानों के द्वारा ही शास्त्रों का मर्म समझने में समर्थ होता है। उन पर जनसाधारण की बड़ी श्रद्धा होती है। इसलिए वह विद्वज्जनों के कथन को ब्रह्मवाक्य समझकर स्वीकार कर लेता है। शास्त्रों का स्वयं स्वाध्याय करने की न तो साधारण लोगों में बौद्धिक क्षमता होती है, न अवकाश। अत: उनसे सीधे तत्त्वनिर्णय करने का अवसर विरलों को ही मिल पाता है। जिन्हें मिल पाता है उनमें भी आगम के गूढ़ अर्थ को समझने में कोई-कोई ही समर्थ होते हैं। अत: जनसामान्य का एकान्तवादी या अनेकान्तवादी बनना प्रमुखत: विद्वानों की व्याख्याओं पर निर्भर है। वर्तमान में एकान्तवाद का प्रसार करने में उनका प्रमुख हाथ है। आगम के वचनों को अनेक विद्वानों ने भ्रान्तरूप में ग्रहण किया है और उनकी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या करने में वे कोई कमी नहीं रख रहे हैं। इस कार्य में वे पूर्ण बुद्धिकौशल एवं पाण्डित्य का प्रयोग कर रहे हैं, जिससे सर्वसाधारण की बुद्धि सरलता से एकान्तवाद में दीक्षित हो रही है।

इस प्रकार के ज्ञानी आगमवचनों की जो दोषपूर्ण व्याख्याएँ करते हैं उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

१. असद्भूतव्यवहारनय का विषय वस्तुधर्म नहीं है, उपचारकथनमात्र है।

२. असद्भूत व्यवहारनय अज्ञानियों का व्यवहार है।

३. निमित्त अकिंचित्कर है। एक द्रव्य के परिणाम को दूसरे द्रव्य के परिणाम का हेतु कहना कथनमात्र है।

४. निश्चय और व्यवहार में परस्परसापेक्षता नहीं है।

५. निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म में साध्य-साधकभाव नहीं है।

६. शुभपरिणाम मात्र बन्ध का कारण है। अत: वह सर्वथा हेय है।

---

१. समयसार/गाथा १३-१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. केवल वस्तु-व्यवस्था समझने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों नय कार्यकारी हैं। साधना के लिए एक निश्चयनय ही उपादेय है।

इनका तथा इस प्रकार की अनेक दोषपूर्ण व्याख्याओं का विस्तृत वर्णन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है। विद्वज्जनों की ये दूषित व्याख्याएँ जनसामान्य की बुद्धि को एकान्तवाद से दूषित कर रही हैं।

एकान्तप्रवचन

एकान्तवाद का यह अन्यतम हेतु है। तत्त्व अनेकान्त है। अनेकान्त तत्त्व का बोध कराने के लिए उसके उभयपक्षों का कथन आवश्यक है। किन्तु अनेक प्रवचनकर्त्ता एक पक्ष का ही कथन करते हैं (अथवा एक पक्ष पर ही अनावश्यक बल देते हैं), दूसरे पक्ष की उपेक्षा करते हैं। इससे जिज्ञासुओं या श्रोताओं की दृष्टि में वस्तु का एक ही पक्ष आ पाता है, जिससे वस्तु के विषय में एकान्त धारणा बन जाती है। उदाहरणार्थ, सम्यक्त्वसहित शुभपरिणाम केवल पुण्यबन्ध का कारण नहीं है, परम्परया मोक्ष का भी हेतु है, किन्तु कुछ आधुनिक प्रवचनकार उसकी बन्धहेतुता का ही वर्णन करते हैं, पारम्परिक मोक्षहेतुता की चर्चा नहीं करते, और कुछ उसकी मोक्षहेतुता पर ही बल देते हैं, बन्धहेतुता के विषय में मौन हो जाते हैं। इसी प्रकार कोई व्यवहारमोक्षमार्ग की हेयता का ही कथन करता है और कोई उसकी उपादेयता पर ही प्रकाश डालता है। इससे श्रोताओं के मन में उक्त प्रकार की एकान्त धारणाएँ बन जाती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने एकान्तप्रवचन की हानियाँ बतलाते हुए कहा है कि तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त परमार्थसत्य के साथ-साथ व्यवहारसत्य का दर्शाया जाना भी आवश्यक है, क्योंकि शरीर और जीव में जो स्वभावगत भेद है केवल उसी को दर्शाने से लोग उनमें सर्वथा भेद समझ लेंगे और प्राणियों के शरीर का घात करने में हिंसा नहीं मानेंगे। इससे वे निःसंकोच प्राणियों का वध करेंगे जिससे पापबन्ध होगा और मोक्ष असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार आत्मा और रागादि भावों में जो स्वभावगत भिन्नता है, केवल उसी का वर्णन करने से श्रोतागण उनमें सर्वथा भिन्नता मान लेंगे और अपने को पूर्ण शुद्ध समझकर मोक्ष का प्रयत्न ही न करेंगे।[१] इस प्रकार एकान्तप्रवचन अत्यन्त हानिकारक है।

विद्वानों के एकान्तप्रवचनों से न केवल श्रोता भ्रमित हो रहे हैं, विद्वज्जगत् में भी भयंकर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है। इसका निर्देश करते हुए क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी लिखते हैं —

---

१. समयसार/आत्मख्याति/गाथा ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"आज बड़े-बड़े विद्वान् भी परस्पर आक्षेप कर एक-दूसरे का विरोध करने में ही अपना समय व जीवन बर्बाद कर रहे हैं। एक केवल उपादान-उपादान की रट लगा रहा है, तो दूसरा केवल नैमित्तिक भावों या निमित्तों की। एक ज्ञानमात्र की महिमा का बखान करके केवल जानने-जानने की बात पर जोर लगा रहा है और दूसरा केवल व्रतादि बाह्यचारित्र धारण करने की बात पर। .... कितना अच्छा होता, यदि दोनों विरोधी बातों को अपने वक्तव्य में यथास्थान अवकाश दिया जाता।"[१]

अनेकान्त तत्त्व का प्रवचन मुख्यगौण-भाव से होता है। एक बार में तत्त्व के एक ही पक्ष का कथन सम्भव है। अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तु के जिस धर्म को कथन में प्रमुखता दी जा रही है, उसके विषय में यह बतला दिया जाय कि यह धर्म इस विशेष अपेक्षा से ही वस्तु में है, सर्वथा नहीं। साथ ही अपेक्षा-विशेष से प्रतिपक्षी धर्म के अस्तित्व की सूचना भी दे दी जाय। इससे एकान्त दृष्टिकोण का निर्माण न होगा। प्रतिपक्षी धर्म की सूचना उसी समय देना आवश्यक है, अन्यथा श्रोता के मस्तिष्क में वस्तु का अनेकान्त चित्र निर्मित न होगा तथा यह सम्भव है कि श्रोता को आगे प्रवचन सुनने का अवसर न मिले, जिससे वह प्रतिपक्षी धर्म को जानने से अनिश्चित काल के लिए वंचित हो जाये। इससे उसके मस्तिष्क में वस्तु का अनेकान्त चित्र कभी न बन पायेगा और उसके विषय में उसकी सदा के लिए एकान्त धारणा बन जायेगी। अत: प्रवचनकर्त्ता को अपना कथन प्रमाणसापेक्ष और नयान्तरसापेक्ष बनाना अत्यन्त आवश्यक है। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने इसे अत्यन्त आवश्यक बतलाते हुए उपदेश को किस प्रकार सापेक्ष बनाया जा सकता है, इसका सुन्दर निरूपण अपने ग्रन्थ नयदर्पण में किया है।[२]

प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य का पूर्णरूपेण ध्यानं रखा है। श्रोता एकान्त को ग्रहण न कर ले, इस विचार से वे एक पक्ष का निरूपण करते समय प्रतिपक्ष का स्पष्टीकरण भी साथ में करते गए हैं। यह निम्नलिखित उद्धरणों से जाना जा सकता है —

सुद्धा सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।[३]

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपेक्षाभेद से निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की उपादेयता का निरूपण किया है।

---

१. नयदर्पण/पृ० ३३-३४
२. वही/पृष्ठ १७६-१७९
३. समयसार/गाथा १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।।[१]

— जैन मुनियों और श्रावकों की निष्कामभाव से सेवा करने पर यद्यपि किंचित् पुण्यबन्ध होता है, तथापि करनी चाहिए।

इस गाथा में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने शुभप्रवृत्ति की कथंचित् हेयरूपता तथा कथंचित् उपादेयरूपता दोनों का वर्णन किया है।

निम्नलिखित कथन में आचार्य जयसेन ने शुभोपयोग की पुण्यबन्धहेतुता का प्रतिपादन करते समय उसकी पारम्परिक मोक्षहेतुता पर भी प्रकाश डाला है —

"यदा ···· सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्यां पुण्बन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च, नो चेत् पुण्यबन्धमात्रमेव।।"[२]

— जब सम्यग्दर्शनपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परम्परया निर्वाण, अन्यथा मात्र पुण्बन्ध होता है।

इस प्रकार आचार्यों ने श्रोताओं को एकान्तवाद से बचाने के लिए अपने प्रवचन को सदा नयान्तरसापेक्ष बनाया है।

एकान्तप्रवचन से श्रोता न केवल एकान्तवादी बनता है, अपितु साधना में भी विफल होता है। साधना साधक की क्षमता पर निर्भर होती है। अतः क्षमता-नुकूल साधनाक्रम का ही मुख्यरूप से उपदेश दिया जाना चाहिए। सम्यग्दर्शन के लिए तो प्रत्येक मुमुक्षु को निश्चय और व्यवहार उभयनयसम्मत परिपूर्ण उपदेश आवश्यक है, किन्तु साधना के लिए साधक की क्षमता के अनुसार निश्चयप्रधान अथवा व्यवहारप्रधान उपदेश आवश्यक है। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी साधक उतने ही संयम में समर्थ होता है, जितना उसकी क्षमता के अनुरूप होता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की बारहवीं गाथा में कहा है कि उच्च भूमिका में पहुँचे साधकों को निश्चयप्रधान उपदेश का अनुसरण करना चाहिए तथा प्राथमिक भूमिका में स्थित साधक व्यवहारप्रधान उपदेश के पात्र हैं। पंडित टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें अधिकार में पात्र की योग्यता के अनुसार व्यवहारात्मक तथा निश्चयसहित-व्यवहारात्मक इन दो प्रकार की साधना-पद्धतियों को उपदेश के योग्य बतलाया है।

किन्तु कुछ आधुनिक अध्येता यह प्रतिपादित करते हैं कि 'जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है उसे मुख्यता से स्वभाव का आश्रय लेने का ही उपदेश

---

१. प्रवचनसार ३/५१
२. वही/तात्पर्यवृत्ति ३/५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होना चाहिए। .... आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह स्वभाव का आश्रय लेने से ही होती है, व्यवहार का आश्रय लेने से नहीं। व्यवहारधर्म गुणस्थानपरिपाटी से होकर भी उत्तरोत्तर गुणस्थानों में छूटता जाता है और स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुई विशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई अन्त में पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। इसलिए जो छूटने योग्य है उसका मुख्यता से उपदेश देना न्याय्य न होकर स्वभाव का आश्रय लेकर मुख्यता से उपदेश देना ही जिनमार्ग है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।[1]

उक्त अध्येताओं का मन्तव्य है कि सभी को निश्चयप्रधान उपदेश दिया जाना चाहिए। इसी मान्यता के कारण वे सभी को निश्चयप्रधान उपदेश देते हैं। विद्वानों की यह मान्यता आगम तथा मनोविज्ञान दोनों के विरुद्ध है। आगम में पात्र की योग्यता के अनुसार निश्चयप्रधान अथवा व्यवहारप्रधान उपदेश विहित है, यह ऊपर दर्शाया जा चुका है। सर्वज्ञ ने ही अभेदरत्नत्रय की सिद्धि के लिए भेदरत्नत्रय के अवलम्बन का उपदेश दिया है। अतः सभी को निश्चयप्रधान उपदेश देने का सिद्धान्त आगमविरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त सभी को निश्चयप्रधान उपदेश देना, सभी से एक ही प्रकार का बोझ उठवाने या सभी को एक ही स्तर का पाठ्यक्रम पढ़ाने के समान अमनोवैज्ञानिक है। इससे उपदेश, उपदेश बनकर ही रह सकता है, आचरण में नहीं उतर सकता। स्वभाव का आश्रय ले सकने योग्य बनने के लिए ही व्यवहार का आश्रय लेने का उपदेश दिया जाना आवश्यक है। आचार्य जयसेन ने इसीलिए कहा है कि अभेदरत्नत्रय का साधक होने के कारण भेदरत्नत्रय उपादेय है।[2]

उक्त विद्वानों को सम्भवतः यह भ्रम भी है कि लोगों के संसारभ्रमण का मूल कारण पुण्य को मोक्षमार्ग समझकर शुभक्रियाओं में उलझे रहना है। इसलिए उनकी दृष्टि में लोगों की इस अज्ञानमय मान्यता का निराकरण करना ही उपदेश का प्रमुख लक्ष्य है। इसी कारण वे सबके लिए निश्चयनयात्मक उपदेश ही आवश्यक मानते हैं। पता नहीं ये विद्वान् किस लोक में रहते हैं जो उन्हें संसार में पुण्यात्मा ही दिखाई देते हैं। सत्य यह है कि अधिकांश जीव मोक्ष में ही विश्वास नहीं करते, पुण्य को मोक्षमार्ग मानने वालों की तो बात ही दूर। संसार में अधिकांश संख्या 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' इस सिद्धान्त के अनुयायियों की है। अधिकांश जीव आकण्ठ पाप में मग्न हैं, विरले ही व्यक्ति पुण्य करते हैं। आवश्यकता इस बात

---

१. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग २/पृ० ७३१
२. समयसार/तात्पर्यवृत्ति/गाथा ११६-१२०, १६१-१६३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की है कि इन लोगों को पहले पाप के पंक से निकाला जाय, किन्तु प्रयत्न पुण्य को छुड़ाने का किया जाता है। जिसे लोग करते ही नहीं, उसे छुड़ाने की चेष्टा की जाती है और जिसे वे दिन-रात करते हैं उसके विषय में चर्चा ही नहीं होती। जो सर्वप्रथम हेय है उसकी हेयता पर प्रवचन में सर्वप्रथम बल नहीं दिया जाता, जिसकी हेयता का क्रम बाद में आता है उसे सर्वप्रथम हेय बतलाया जाता है।

अतः जिस सिद्धान्त के आधार पर कथित तत्त्वज्ञानी एकान्त प्रवचन का औचित्य सिद्ध करते हैं वह निराधार, कल्पित, आगमविरुद्ध एवं अमनोवैज्ञानिक है। सभी को निश्चयप्रधान उपदेश का सिद्धान्त पात्र-सापेक्ष न होने से एकान्त एवं मिथ्या है। इस प्रकार के एकान्त प्रवचनों का श्रोताओं को एकान्तवादी बनाने में प्रमुख हाथ है।

सांकेतिक भाषा का प्रयोग

यह भी एकान्तवाद का एक कारण है। अधिकांश प्रवचनकार स्पष्ट भाषा में तथ्य का निरूपण नहीं करते, अपितु उसे नय के नाम द्वारा संकेतित करते हैं, जिससे वह स्पष्ट नहीं होता और श्रोता कुछ का कुछ अर्थ ग्रहणकर एकान्तवादी बन जाते हैं। जैसे 'जीव व्यवहारनय से रागादिभावों का कर्त्ता है', इस कथन में 'व्यवहारनय' शब्द इस तथ्य का संकेत करता है कि रागादिभावरूप से परिणत होना जीव का स्वभाव नहीं है, अपितु वह कर्मोदयवशात् रागादिरूप से परिणत होता है। इतने गम्भीर तथ्य को 'व्यवहारनय' इस एक शब्द के संकेत द्वारा समझने के लिए नयों का सूक्ष्म ज्ञान अनिवार्य है। किन्तु सामान्य श्रोताओं के लिए यह सम्भव नहीं है। नयों के रहस्य को समझने के लिए गहन श्रवण-मनन की आवश्यकता है, जो धीरे-धीरे ही सम्भव है। अतः जब तक सामान्य श्रोता इसमें निपुणता प्राप्त नहीं कर लेते तब तक उनके लिए सांकेतिक भाषा (नय के नाम द्वारा तथ्य का संकेत करनेवाली भाषा) का प्रयोग न कर, स्पष्ट भाषा का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। इसके बिना वे तथ्य को समझने में असमर्थ रहते हैं और अन्धकार में भटकते रहते हैं। 'यह यथार्थ हेतु है', 'यह उपचरितहेतु है', 'यह निश्चयनय का कथन है', 'यह व्यवहारनय का कथन है', 'निश्चयनय से आत्मा ऐसा है', 'व्यवहारनय से ऐसा है'[1] — इस प्रकार के वक्तव्य सामान्य श्रोताओं को पहेलियों के समान प्रतीत होते हैं और वे इनके मर्म को समझ न पाने के कारण इनका काल्पनिक अर्थ लेकर तत्त्व को मिथ्यारूप में ग्रहण करते हैं और एकान्तवादी बन जाते हैं।

---

१. इस आशय का उल्लेख पं० टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार (पृ० २५४) में किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्राथमिक श्रोताओं के समक्ष जब भी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया जाय तब उसके तात्पर्य को स्पष्ट भाषा में समझा दिया जाय। सांकेतिक भाषा का प्रयोग यथासम्भव कम किया जाय, स्पष्ट भाषा का प्रयोग अधिक किया जाय।

किन्तु अधिकांश आधुनिक प्रवचनकार ऐसा नहीं करते। वे अपनी विद्वत्ता दर्शाने के लिए अथवा किसी अन्य प्रयोजन से सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग करते हैं और सर्वज्ञ के सीधे-सरल उपदेश को श्रोताओं के लिए पहेली बना देते हैं। सांकेतिक भाषा में किए गए कथनों को स्पष्ट भाषा में किस प्रकार समझाया जाना चाहिए, इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं —

सांकेतिक भाषा	स्पष्ट भाषा
१. आत्मा और शरीर में व्यवहार-नय से एकत्व है, निश्चयनय से नहीं।	१. आत्मा और शरीर में संश्लेष-रूप एकत्व है, तादात्म्यरूप नहीं।
२. निश्चयनय से आत्मा कर्मों से अबद्ध है, व्यवहारनय से बद्ध।	२. आत्मा और कर्मों में तादात्म्य-रूपबन्ध नहीं है, संश्लेषरूप एवं निमित्तनैमित्तिकभावरूप बन्ध है।
३. निश्चय से न बन्ध है, न मोक्ष।	३. बन्ध और मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्थाएँ नहीं हैं, नैमित्तिक (औपाधिक) हैं।
४. निश्चय से आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, शुद्ध ज्ञायक है।	४. प्रमत्तता—अप्रमत्तता आत्मा की स्वाभाविक दशाएँ नहीं हैं, नैमित्तिक हैं।
५. 'आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र हैं', यह व्यवहारनय से कहा जाता है। निश्चयनय से न ज्ञान है, न दर्शन, न चारित्र, ज्ञायकभावमात्र है।	५. आत्मा और ज्ञानदर्शनादि गुणों में संज्ञादि की अपेक्षा भिन्नता है, प्रदेश की अपेक्षा वे अभिन्न हैं, एकवस्तुरूप हैं।
६. निश्चय से केवली भगवान् स्वात्मा को ही जानते हैं, व्यवहार से लोकालोक को।	६. तन्मय होकर स्वात्मा को ही जानते हैं, लोकालोक को तन्मय हुए बिना जानते हैं।
७. जीव व्यवहार से रागादिभावों का कर्त्ता है।	७. कर्मसंयुक्त अशुद्धावस्था में रागादिभावों का कर्त्ता है, स्वभावतः नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांकेतिक भाषा	स्पष्ट भाषा
८. जीव अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता तथा उनके सुखदुःखात्मक फल का भोक्ता है।	८. जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से द्रव्यकर्मों की उत्पत्ति होती है और द्रव्यकर्मों के निमित्त से जीव के सुखदुःखात्मक परिणाम की।
९. जीव उपचरित असद्भूतव्यवहार-नय से घट, पट आदि का कर्त्ता है।	९. जीव के योगोपयोग के निमित्त से मिट्टी घट-पटादिरूप में परिणमित होती है।
१०. स्त्री, पुत्र, धन आदि उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव के हैं।	१०. स्त्री, पुत्र, धन आदि संयोग-सम्बन्ध की अपेक्षा जीव के कहलाते हैं।

इन उदाहरणों के अनुसार सांकेतिक भाषा में किये गये निरूपणों को यदि तत्काल स्पष्ट भाषा में समझा दिया जाय, तो प्राथमिक श्रोता नयात्मक कथन के रहस्य को सरलता से ग्रहण करने में समर्थ होंगे और एकान्तवाद की व्याधि से बच जायेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

१. अनगारधर्मामृत : पं० आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ।

२. अमितगतिश्रावकाचार : आचार्य अमितगति, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वि० सं० २०१५।

३. अष्टशती (आप्तमीमांसाभाष्य) : भट्ट अकलङ्कदेव।

४. अष्टसहस्री : विद्यानन्द स्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५।

५. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द, शान्तिवीर नगर, महावीर जी (राजस्थान)।
चारित्तपाहुड
भावपाहुड
मोक्खपाहुड
सुत्तपाहुड
संस्कृतटीका : श्रुतसागर सूरि
हिन्दी टीका : पं० जयचन्द, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

६. अष्टाध्यायी : महर्षि पाणिनि, गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा), वि० सं० १९९६।

७. आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र, गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी।

८. आप्तपरीक्षा : विद्यानन्द स्वामी, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्।

९. आलापपद्धति : देवसेनाचार्य, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्।

१०. उपादान-निमित्त की चिट्ठी : पं० बनारसीदास, मोक्षमार्गप्रकाशक-परिशिष्ट ४, टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।

११. कर्मप्रकृति : अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ।

१२. कर्मसिद्धान्त : जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशक — मोतीचन्द्र केशरीचन्द्र, वाराणसी।

१३. कसायपाहुडसुत्त : अनुवादक पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, वीरशांसन संघ, कलकत्ता।
जयधवलाटीका : वीरसेनस्वामी, आचार्य जिनसेन, दिगम्बर जैन संघ, मथुरा।

१४. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामिकुमार, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
संस्कृतटीका : भट्टारक शुभचन्द्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. काव्यप्रकाश : मम्मटाचार्य।
१६. गोम्मटसार — जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। संस्कृतटीका — जीवतत्त्वप्रदीपिका : केशव वर्णी
१७. चारित्रसार : चामुण्डराय, शान्तिवीर नगर, महावीर जी (राजस्थान)।
१८. छहढाला : पं० दौलतराम।
१९. जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा/भाग १-२, टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।
२०. जैनतत्त्वमीमांसा : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, वी० नि० सं० २४८६।
२१. जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा : पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना।
२२. जैनदर्शन में कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था : पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना।
२३. जैनशासन में निश्चय और व्यवहार नय : पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य।
२४. जैनदर्शन : डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९६६।
२५. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग १-४ : जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ।
२६. ज्ञानार्णव : शुभचन्द्राचार्य, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
२७. तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), भाग १-२ : भट्ट अकलङ्कदेव, भारतीय ज्ञानपीठ।
२८. तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागर सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ।
२९. तत्वार्थसार : आचार्य अमृतचन्द्र, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी।
३०. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामी, पं० मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर।
३१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (श्लोकवार्तिक) : विद्यानन्द स्वामी।
३२. तर्कभाषा : केशव मिश्र, साहित्य भंडार, मेरठ।
३३. देवागमवृत्ति : आचार्य वसुनन्दी।
३४. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र : माइल्ल धवल, भारतीय ज्ञानपीठ।
३५. नयदर्पण : जिनेन्द्र वर्णी, प्रेमकुमारी स्मारक ग्रन्थमाला, इन्दौर, १९६५।
३६. नयविवरण (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकान्तर्गत) : विद्यानन्द स्वामी, द्रव्यस्वभाव-प्रकाशक नयचक्र के अन्तर्गत।
३७. निजामृतपान : आचार्य विद्यासागर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३८. नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द।
तात्पर्यवृत्ति : पद्मप्रभमलधारिदेव
३९. न्यायदीपिका : अभिनवधर्मभूषण यति।
४०. पञ्चास्तिकाय : आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
तत्त्वदीपिका : आचार्य अमृतचन्द्र
तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन
४१. पञ्चाध्यायी : पं० राजमल्ल, महावीर आश्रम, कारंजा, १९७८।
४२. परमात्मप्रकाश : योगीन्दुदेव, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
संस्कृत टीका : ब्रह्मदेव
४३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
४४. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास।
तत्त्वदीपिका : आचार्य अमृतचन्द्र
तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन
४५. प्राकृत पञ्चसङ्ग्रह : लेखक अज्ञात, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६०।
४६. पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व, भाग १-२।
४७. बृहद्द्रव्यसङ्ग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास।
संस्कृतटीका : ब्रह्मदेव
४८. भगवती आराधना : शिवार्य, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७८।
विजयोदया टीका : अपराजित सूरि
४९. भावसङ्ग्रह (प्राकृत) : देवसेन सूरि।
५०. मोक्षमार्गप्रकाशक : पं० टोडरमल, टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।
५१. मोक्षमार्ग प्रकट करने का उपाय — तत्त्वनिर्णय : नेमीचन्द पाटनी, पं० टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर।
५२. रत्नकरण्डश्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर।
५३. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
५४. श्रुतभवनदीपकनयचक्र : भट्टारक देवसेन।
५५. षट्खण्डागम : पुष्पदन्त एवं भूतबलि।
धवला टीका : वीरसेनाचार्य, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती
५६. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मख्याति : आचार्य अमृतचन्द्र
समयसारकलश : आचार्य अमृतचन्द्र
तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन
हिन्दी टीका : पं० जयचन्द्र

५७. समाधितन्त्र : पूज्यपाद स्वामी, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर।

५८. सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपादस्वामी, भारतीय ज्ञानपीठ।

५९. 'सागर में विद्यासागर' स्मारिका : गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर, म० प्र०

६०. सागारधर्मामृत : पं० आशाधर, भारतवर्षीय दि० जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, १९७२।

६१. स्याद्वादमञ्जरी : मल्लिषेण सूरि, राजचन्द्र आश्रम, अगास।

६२. स्वयम्भूस्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र, गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी।

४४७०
२७-७-९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

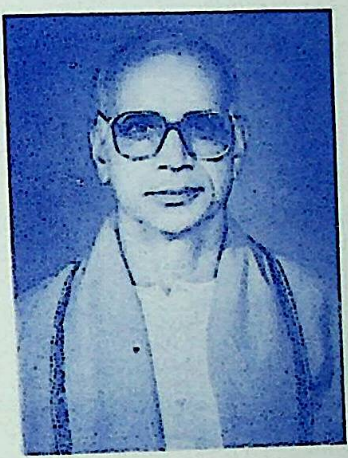

डॉ० रतनचन्द्र जैन

जन्म २ जुलाई १९३५ को, मध्यप्रदेश के लुहारी (सागर) नामक ग्राम में।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही। पश्चात् श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर में संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अँग्रेजी तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन।

अनन्तर स्वाध्याय के द्वारा मैट्रिक से लेकर एम०ए० (संस्कृत) तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण। प्रावीण्यसूची में बी०ए० में दसवाँ स्थान और एम०ए० में प्रथम।

अध्यापनकार्य करते हुए विद्यालय से विश्वविद्यालय तक की यात्रा।

अध्ययन, अध्यापन और लेखन में रुचि। अनेक शोध-आलेख सम्मेलनों और संगोष्ठियों में पठित एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित।

सम्प्रति भोपाल में स्थायी निवास, अध्ययन और लेखन में निरत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1.	Studies in Jaina Philosophy — Dr. Nathamal Tatia	100.00
2.	Jaina Temples of Western India — Dr. Harihar Singh	200.00
3.	Jaina Epistemology — I. C. Shastri	150.00
4.	Concept of Panchashila in Indian Thought — Dr. Kamala Jain	50.00
5.	Concept of Matter in Jaina Philosophy — Dr. J. C. Sikdar	150.00
6.	Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar	150.00
7.	Jaina Perspective in Philosophy & Religion — Dr. Ramji Singh	100.00
8.	Aspects of Jainology (Complete Set : Volume 1 to 5)	1100.00
9.	An Introduction to Jaina Sadhana — Dr. Sagarmal Jain	40.00
10.	Pearls of Jaina Wisdom — Dulichand Jain	120.00
11.	Scientific Contents in Prakrit Canons — N. L. Jain (H. B.)	300.00
12.	The Heritage of the Last Arhat : Mahavira — C. Krause	20.00
13.	The Path of Arhat — T. U. Mehta	100.00
13.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट : सात खण्ड)	560.00
14.	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट : तीन खण्ड)	540.00
15.	जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ॰ मारुतिनन्दन तिवारी	120.00
16.	जैन महापुराण — डॉ॰ कुमुद गिरि	150.00
17.	वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित) — पं॰ विश्वनाथ पाठक	120.00
18.	प्राकृत हिन्दी कोश — सम्पादक डॉ॰ के॰ आर॰ चन्द्र	120.00
19.	स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ॰ भिखारीराम यादव	70.00
20.	गाथा सप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित) — पं॰ विश्वनाथ पाठक	60.00
21.	सागर जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड) — प्रो॰ सागरमल जैन	300.00
22.	गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण — प्रो॰ सागरमल जैन	60.00
23.	भारतीय जीवन मूल्य — डॉ॰ सुरेन्द्र वर्मा	75.00
24.	नलविलासनाटकम् — सम्पादक डॉ॰ सुरेशचन्द्र पाण्डेय	60.00
25.	अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद — डॉ॰ राजेन्द्र कुमार सिंह	50.00
26.	निर्भयभीमव्यायोग (हिन्दी अनुवाद सहित) — अनु॰ डॉ॰ धीरेन्द्र मिश्र	20.00
27.	पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित) — अनु॰ डॉ॰ दीनानाथ शर्मा	250.00
28.	जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन — डॉ॰ प्रतिभा जैन	80.00
29.	जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ — डॉ॰ हीराबाई बोरदिया	50.00
30.	मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म — डॉ॰ (श्रीमती) राजेश जैन	160.00
31.	जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास — डॉ॰ रवीन्द्रनाथ मिश्र	100.00
32.	महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श — भगवतीप्रसाद खेतान	60.00
33.	मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ॰ फूलचन्द्र जैन	80.00
34.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ॰ शिवप्रसाद	100.00
35.	बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा — डॉ॰ धर्मचन्द्र जैन	200.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी — 5

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi